

# विषयानुक्रमणी

विषयः

पृष्ठम्

## राशिभेदाध्यायः १.

|  |    |
|--|----|
| मङ्गलाचरणम्  | १  |
| स्वव्यापारस्य लोकानुग्रहविषयत्वप्रदर्शनम्                | १० |
| होराशब्दनिर्धचनं होराग्र स्त्राभिधेयं च                  | १२ |
| कालपुरुषदेहावयवभूतराश्यंशकोपदेशः                         | १६ |
| शिवस्वरूपनिरूपणम्  | १८ |
| राशिनवशब्दादशांशाधिपतिनिरूपणम्                           | १९ |
| त्रिंशाशकनिरूपणम्  | २० |
| राशीनां पारिभाषिकसंज्ञान्तरकथनम्                         | २१ |
| पङ्क्तिनिरूपणम्  | "  |
| राशीनां रात्रिदिनसंज्ञत्वं पृष्ठोदयादिकथनं च             | २३ |
| राशीनां क्रूरसौम्यादिविभागः                              | २४ |
| पक्षान्तरेण होराद्वेककाणाधिपतिव्यक्षणम्                  | २६ |
| ग्रहाणामुच्चनीचविभागः                                    | २७ |
| ग्रहाणां वर्गोत्तममूलत्रिकोणपरिज्ञानम्                   | २८ |
| लगादिद्वादशभावानां तन्वादिसंज्ञा, तृतीयदीनानुपचयसंज्ञा च | २९ |
| लगादीनां संज्ञान्तरकथनम्                                 | ३० |
| केन्द्राणां संज्ञास्तद्राशिवलं च                         | ३१ |
| केन्द्रान्तरालराशीनां संज्ञा                             | ३३ |
| लगादिवलनिरूपणम्  | "  |
| राशीनां वर्णाः   | ३५ |

## ग्रहयोनिभेदाध्यायः २.

|  |    |
|--|----|
| ग्रहाणां भेदादिराश्यवयविना कालपुरुषेण सम्बन्धः | ३५ |
| सूर्यादिग्रहाणां संज्ञाः                       | ३८ |
| ग्रहवर्णनिरूपणम्                               | ३९ |
| ग्रहाणां वर्णः स्वभ्यं देवता च                 | "  |

## विषयः

पृष्ठम्

|   |    |
|---|----|
| अं हाणां प्रकृत्यादिकथनम्                 | ४२ |
| अहाणां ब्राह्मणादिवर्णाधिपत्यं गुणविभगश्च | ४३ |
| चन्द्रार्कयोः स्वरूपम्                    | ४५ |
| कुजबुधयोः स्वरूपम्                        | ४६ |
| जीवशुक्रयोः स्वरूपम्                      | "  |
| शमैश्वरस्वरूपादिकथनम्                     | ४७ |
| अहाणां स्थानादिकथनम्                      | ४८ |
| अहाणां दृष्टिस्थानानि                     | ५० |
| अहाणां कालादिनिर्देशः                     | ५१ |
| अहाणां निसर्गशत्रुमित्रोदासीननिरूपणम्     | ५३ |
| अहाणां तत्कालमित्रमित्रविभागः             | ५४ |
| अहाणां स्थानबलं दिग्बलं च                 | ५६ |
| अहाणां चेष्टाबलम्                         | "  |
| अहाणां कालबलं निसर्गबलं च                 | ५७ |

## विषोनिजन्माध्यायः ३.

|   |    |
|---|----|
| विषोनिजन्मज्ञानम्                           | ६० |
| विषोनिजन्मज्ञाने योगान्तरम्                 | ६१ |
| विषोनिजन्तुषु चतुष्पदानामङ्गेषु राशिबिभागाः | "  |
| विषोनिवर्णज्ञानम्                           | ६२ |
| पक्षिजन्मलक्षणम्                            | "  |
| स्यावराणां लक्षणम्                          | ६३ |
| पृथग्विशेषनिर्देशप्रकारः                    | ६४ |
| भूतशुभाशुमलक्षणम्                           | ६५ |

## निषेकाध्यायः ४.

|                                    |    |
|------------------------------------|----|
| गर्भाधानकालः                       | ६६ |
| दम्पयोरन्योन्यसम्बन्धस्तत्तदयोगश्च | ७० |
| अपन्यसद्भावादिकथनम्                | ७३ |

## विषयः

पृष्ठम्

|   |     |
|---|-----|
| आधानलक्षणवशात् प्रश्नलक्षणवशाद्वा स्त्रीपुंसयोरहितस्य गर्भस्य च |     |
| प्रसवावधि शुभाशुभज्ञानम्  | ७८  |
| पित्रादीनां शुभाशुभज्ञानम्                                      | ७९  |
| आहितस्य गर्भस्याधारभूताया मातुररिष्टकथनम्                       | ८०  |
| गर्भस्य गर्भिण्याश्च निपेकादिलक्षणवशादरिष्टयोगः                 | ८१  |
| मातुः शस्त्रनिमित्तमरणयोगज्ञानं गर्भसुतिज्ञानं च                | ८३  |
| गर्भसौख्यलक्षणम्  | ८४  |
| निपिक्तस्य निपेककालाज्जातस्य जन्मकालाद् उभयोरपि प्रश्नकालाद्वा  |     |
| पुंस्त्रीविभागज्ञानम्   | "   |
| पुंजन्मयोगान्तरम्   | ८६  |
| क्रीडयोगाः  | ८७  |
| गर्भस्य यमलत्वादिविज्ञानम्                                      | ८९  |
| गर्भस्य बहुप्राणित्वरूपत्वलक्षणम्                               | ९१  |
| गर्भस्य मासाधिपाः   | "   |
| गर्भस्य जन्तोः पूर्वकर्मविपाकेनाङ्गानामुत्पत्तिरिक्ता           | ९४  |
| कुटुम्बप्रदियोगः  | ९६  |
| वामनकृद्दीनाङ्गयोगौ   | ९७  |
| नयनाविनाशयोगः   | ९८  |
| प्रसवकालनिर्णयः   | ९९  |
| निपेककालविशेषेण प्रसवकालविलम्बः                                 | १०३ |

## जन्माध्यायः ५.

|                                     |     |
|-------------------------------------|-----|
| प्रसूतिसमये पितुरवस्था              | १०७ |
| जननक्रियायां भाव्यः । विस्मापनयोगाः | १०८ |
| ज्वरजातज्ञानम्                      | ११० |
| पितृवपयो लक्षणविशेषः                | १११ |
| जलमयदेशप्रसवलक्षणम्                 | ११२ |
| अथैव योगान्तरम्                     | "   |

विषयः

पृष्ठम्

|   |     |
|---|-----|
| प्रसवस्थलविशेष .                                | ११३ |
| मामान्येण प्रसवदेशज्ञानलक्षणम्                  | ११५ |
| मात्रा हेतुत्वात् परित्याज्यस्यापत्यस्य लक्षणम् | ११६ |
| अत्रैव योगान्तरम्                               | ११७ |
| स्वगृहपरगृहसमानस्वत्वभाविना लक्षणम्             | ११८ |
| प्रभूतिसमयसम्भवं लक्षणम्                        | १२१ |
| दीपगृहद्वारलक्षणम्                              | १२३ |
| ग्रहवशेन सूतिकागृहलक्षणम्                       | १२४ |
| क्षत्तिकगृहे भाषाविशेषज्ञानम्                   | १२५ |
| सूतिकागृहे राशिविन्यासप्रकारः                   | १२६ |
| उपसूतिकानिर्देशः                                | १२७ |
| जातस्य शिशोः शरीरलक्षणम्                        | १२८ |
| चरचक्रेण गात्रलक्षणम्                           | १२९ |
| गात्रे ग्रहवशाद् व्रणादिविशेषज्ञानम्            | १३२ |
| तत्रैव योगान्तरम्                               | १३३ |

सद्योमरणाध्यायः ६.

|   |     |
|---|-----|
| अरिष्टयोग                                     | १३४ |
| अरिष्टान्तरम्                                 | १३५ |
| अरिष्टयोगविशेषे कालनिर्णय                     | १३८ |
| अनिर्दिष्टकालविशेषाणामरिष्टयोगानां कालनिर्णयः | १४३ |

अयुर्दायाध्यायः ७.

|                             |     |
|-----------------------------|-----|
| विण्ढदशायां ग्रहवत्सराः     | १४५ |
| ग्रहवत्सराणां नीचहरणम्      | १४५ |
| द्वयार्धहरणम्               | १४७ |
| त्रयोदयहरणम्                | १४८ |
| पुरुषादीनां परमायुःप्रमाणम् | १५० |
| परमायुर्धर्मलक्षणम्         | १५१ |



|                                    |         |
|------------------------------------|---------|
| विषयः                              | पृष्ठम् |
| परमतायुर्दूषणम्                    | १५२     |
| जीवशर्मसत्याचार्ययोर्मतेनायुर्दायः | १५४     |
| सत्यमतेन ग्रहाणामायुर्दायानयनम्    | १५६     |
| वंशक्रायुषि विशेषः                 | १५७     |
| सत्यमतस्य प्रवरतरम्                | १५८     |
| अमितायुर्लक्षणम्                   | १५९     |

### दशाविपाकाध्यायः ८.

|                                      |     |
|--------------------------------------|-----|
| ग्रहाणां दशाक्रमजनम्                 | १५९ |
| केन्द्रादिषु भद्रबहुत्वे दशाक्रमजनम् | १६० |
| अन्तर्दशानयनम्                       | १६३ |
| उक्तानामन्तर्दशानां गणितेनानयनम्     | १६४ |
| दशानामर्थार्थाः संज्ञाविशेषाः        | १६६ |
| लघुदशाविशेषनिरूपणम्                  | १६९ |
| निसर्गदशाक्रमो लघुदशास्वानं च        | १७१ |
| दशारम्भकालराशिवशात् फलविशेषः         | १७२ |
| चन्द्रचारेण दशारम्भे फलविशेषः        | १७३ |
| अर्कदशाफलम्                          | १७४ |
| चन्द्रदशफलम्                         | १७५ |
| बुधदशाफलम्                           | १७६ |
| शुक्रदशाफलम्                         | १७७ |
| मन्ददशाफलम्                          | १७८ |
| दशाफलानां विषयविभागो लघुदशाफलं च     | १७९ |
| अशेषेषामपि फलानां दशास्ततिदेशः       | १८१ |
| ग्रहाणां स्वस्वभूतगुणन्यञ्जकम्       | १८२ |
| दशाकाले फलभेदतुः पुराणव्याख्या       | १८४ |

विषयः

पृष्ठम्

एकग्रहस्य फलयोर्विरोधे निर्वाहकत्वम्

१८५

अष्टकवर्गाध्यायः ९.

अर्काष्टकवर्गः

१८७

चन्द्राष्टकवर्गः

१९२

कुजाष्टकवर्गः

१९३

बुधाष्टकवर्गः

१९४

जीवाष्टकवर्गः

"

शुक्राष्टकवर्गः

१९५

मन्दाष्टकवर्गः

१९६

अष्टकवर्गफलनिर्णयः

"

कर्माजीवाध्यायः १०.

परवशादागन्तुकार्यप्राप्तिरूपणम्

२०४

भेन्द्रकर्णामास्पदपतिगांशनाथवशाद् वृत्तिविशेषाः

२०५

फर्मेशाध्युपितनवांशनाथानां तत्कालस्थितिवशाद्विशेषः

२०७

राजयोगाध्यायः ११.

अन्यमतेन पापग्रहाणां स्वतुङ्गस्थित्या फलविशेषः

२०९

द्वात्रिंशद्राजयोगाः

२१०

चतुश्चत्वारिंशद्राजयोगाः

२११

पञ्च राजयोगाः

"

अन्ये राजयोगाः

२१२

राजयोगे सत्यपि राजवंश्यानामेव राजत्वम्, अन्येषां राजतुल्यत्वं च

२१७

राजयोगफलागमकालः

२२०

भोगिनां शबरदस्युस्वामिनां च जन्मज्ञानम्

२२१

नामसयोगाध्यायः १२.

नामसयोगानां सङ्ख्याविभागः

२२२

|                                    |         |
|------------------------------------|---------|
| विषयः                              | पृष्ठम् |
| तथाश्रययोगाः                       | २२३     |
| एतान् योगान् प्रत्यन्येषां मतम्    | २२४     |
| आकृतियोगाः                         | "       |
| वज्रादियोगाः                       | २२५     |
| यूपेषुशक्तिदण्डाख्या योगाः         | २२६     |
| नावादियोगपञ्चकम्                   | २२७     |
| समुद्रचक्राख्ययोगौ                 | "       |
| सङ्ख्यायोगसप्तकम्                  | २२८     |
| द्वात्रिंशद्योगानां क्रमेण फलकथनम् | "       |
| एषां फलदाने विशेषः                 | २२९     |
| गदादियोगफलम्                       | "       |
| वज्रादियोगफलम्                     | २३०     |
| यूपादियोगफलम्                      | "       |
| नावादियोगफलम्                      | २३१     |
| वर्धचन्द्रादियोगफलम्               | "       |
| दामिन्यादियोगफलम्                  | २३२     |
| शुगादियोगफलम्                      | "       |

### चान्द्रयोगाध्यायः १३.

|   |     |
|---|-----|
| अर्कात् केन्द्रवजरापोऽङ्गिमस्ये चन्द्रे जातस्य स्वरूपम् | २३३ |
| अधिवेगनिरूपणम्  | २३४ |
| सुनमादियोगचतुष्टयम्                                     | १३५ |
| सुनमनगापुरपुराणां विकल्पस्तुत्या                        | २३७ |
| सुनमनमयोः फलम्  | २३८ |
| धुरुधुराकेमद्रुमयोः फलम्                                | "   |
| सुनमद्वियोगेषु योगकर्तृणां प्रदत्तां पृथक् फलविशेषाः    | २३९ |
| शनिधरे योगकर्तारि ज्ञानस्य रूपम्                        | "   |
| समचन्द्रमाषारणरमुद्योगनिरूपणम्                          | २४० |

विषयः

पृष्ठम्

## द्विग्रहादियोगाध्यायः १४.

|   |     |
|---|-----|
| अर्के चन्द्रादियुक्ते जातस्य स्वरूपम्                           | २४१ |
| चन्द्रे कुजादियुक्ते जातस्य स्वरूपम्                            | २४२ |
| कुजे बुधादियुक्ते जातस्य स्वरूपम्                               | २४३ |
| बुधे जीवादि युक्ते जीवे शुक्रादियुक्ते च जातस्य स्वरूपम्        | २४४ |
| शुके शनैश्चरयुक्ते जातस्य स्वरूपं त्रिग्रहयोगफलनिर्देशप्रकारश्च | २४५ |

## प्रव्रज्यायोगाध्यायः १५.

|                            |     |
|----------------------------|-----|
| चतुरादिग्रहयोगफलम्         | २४६ |
| प्रव्रज्यायोगापवादः        | २४८ |
| प्रव्रज्याविषये योगान्तरम् | २४९ |
| प्रव्रज्यायोगविशेषः        | २५० |

## राशिशीलाध्यायः १६.

|  |     |
|--|-----|
| मेघे चन्द्रमसि मेषलगे च जातस्य स्वरूपम्          | २५१ |
| वृषमे चन्द्रे वृषलगे च जातस्य स्वरूपम्           | २५२ |
| मिथुने चन्द्रे मिथुनलगे च जातस्य स्वरूपम्        | २५३ |
| कर्कटके चन्द्रे कर्कटकलगे च जातस्य स्वरूपम्      | "   |
| सिंहे चन्द्रे सिंहलगे च जातस्य स्वरूपम्          | २५४ |
| कन्यास्ये चन्द्रे कन्यालगे च जातस्य स्वरूपम्     | "   |
| तुलास्ये चन्द्रे तुलालगे च जातस्य स्वरूपम्       | २५५ |
| वृश्चिकस्ये चन्द्रे वृश्चिकलगे जातस्य च स्वरूपम् | २५६ |
| धनुषि चन्द्रमसि धनुर्लगे च जातस्य स्वरूपम्       | "   |
| मकरस्ये चन्द्रे मकरलगे च जातस्य स्वरूपम्         | २५७ |
| कुम्भस्ये चन्द्रे कुम्भलगे च जातस्य स्वरूपम्     | "   |
| मीनस्ये चन्द्रमसि मीनलगे च जातस्य स्वरूपम्       | २५८ |
| चन्द्रस्य यथोक्तफलदानं प्रति विशेषः              | २५९ |
| मेषवृषगतोर्के जातस्य स्वरूपम्                    | २६० |

विषयः

पृष्ठम्

|   |     |
|---|-----|
| मिथुनादिराशिचतुष्कस्येऽर्के जातस्य स्वरूपम्             | २६१ |
| तुलादिचतुष्कस्येऽर्के जातस्य स्वरूपम्                   | "   |
| कुम्भमीनगतेऽर्के जातस्य स्वरूपम्                        | २६२ |
| स्वर्क्षशुक्रक्षयोः स्थिते कुजे जातस्य स्वरूपम्         | २६३ |
| बुधचन्द्रक्षेत्रगते कुजे जातस्य स्वरूपम्                | २६४ |
| रविगुरुमन्दक्षेत्रगते कुजे जातस्य स्वरूपम्              | २६५ |
| कुजशुक्रक्षेत्रगते बुधे जातस्य स्वरूपम्                 | "   |
| मिथुनकर्कटकस्ये बुधे जातस्य स्वरूपम्                    | २६६ |
| सिंहकन्यास्थिते बुधे जातस्य स्वरूपम्                    | "   |
| गुरुमन्दक्षेत्रगते बुधे जातस्य स्वरूपम्                 | २६७ |
| कुजभृगुबुधक्षेत्रगते गुरौ जातस्य स्वरूपम्               | "   |
| चन्द्ररविगुरुमन्दक्षेत्रगते जीवे जातस्य स्वरूपम्        | २६८ |
| कुजर्क्षे स्वर्क्षे च स्थिते शुके जातस्य स्वरूपम्       | २६९ |
| बुधमन्दक्षेत्रगते शुके जातस्य स्वरूपम्                  | "   |
| चन्द्ररविगुरुक्षेत्रगते शुके जातस्य स्वरूपम्            | २७० |
| कुजबुधर्क्षस्ये मन्दे जातस्य स्वरूपम्                   | "   |
| शुकेन्दुसूर्यर्क्षगते मन्दे जातस्य स्वरूपम्             | २७१ |
| गुरुस्वर्क्षगते मन्दे जातस्य स्वरूपम्                   | "   |
| मेपादिषु लग्नेषु चन्द्राक्रान्तराद्व्युक्तस्वरूपातिदेशः | २७२ |

दृष्टिफलाध्यायः १७.

|   |     |
|---|-----|
| मेपादिचतुष्कस्ये चन्द्रे कुजाद्यैर्दृष्टे जातस्य फलविज्ञानम्  | २७४ |
| सिंहादिचतुष्कस्ये चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे जातस्य फलविज्ञानम् | २७५ |
| चापादिचतुष्कस्ये चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे जातस्य फलविज्ञानम्  | २७६ |
| वीक्षणफलतारतम्यम्   | २७७ |
| कुजशुक्रनवांशस्यस्य चन्द्रमसोऽर्कादिदृष्टस्य फलम्             | २७८ |
| बुधनवांशस्ये चन्द्रे सूर्यादिदृष्टे फलम्                      | "   |

|  |         |
|--|---------|
| विषयः  | पृष्ठम् |
| रविगुरुनवांशस्थे चन्द्रमसि सूर्यादिदृष्टे फलम् | २७९     |
| मन्दनवांशस्थे चन्द्रमसि सूर्यादिदृष्टे फलम्    | "       |
| अंशकफलतारतम्यम्                                | २८०     |

### भावाध्यायः १८.

|  |     |
|--|-----|
| आदिस्थस्य लग्नगतस्य द्वितीयास्थस्य च फलम्    | २८१ |
| लग्नात् तृतीयादिभावचतुष्स्थितस्यार्कस्य फलम् | २८२ |
| सप्तमादिभावपट्कस्थितस्यार्कस्य फलम्          | "   |
| लग्नादिभावपट्कस्थितस्य चन्द्रस्य फलम्        | २८३ |
| सप्तमादिभावपट्कस्थितस्य चन्द्रस्य फलम्       | २८४ |
| लग्नादिद्वादशभावस्थितयोर्भौमबुधयोर्फलम्      | "   |
| लग्नादिद्वादशभावस्थितस्य जीवस्य फलम्         | २८५ |
| लग्नादिद्वादशभावस्थितस्य शुकस्य फलम्         | "   |
| लग्नादिस्थस्य शनेः फलम्                      | २८६ |
| लग्नादिद्वादशभावस्थितानां ग्रहाणां फलविशेषः  | २८७ |
| निर्देष्टव्येषु शुभाशुभेषु तारतम्यक्रमः      | २८९ |

### आश्रययोगाध्यायः १९.

|  |     |
|--|-----|
| ग्रहाणां स्वक्षेत्रत्वादिगुणविशिष्टराशिफलानि                         | २९० |
| स्वोच्चस्थस्यैकस्यानि ग्रहस्य फलम्                                   | २९१ |
| कुम्भलग्नजातस्याशुभफलवम्   | २९२ |
| ग्रहाणां सूर्यादिहोरायोगफलम्   | २९३ |
| द्रेक्षाणफलम्  | २९४ |
| नवांशकफलम्   | "   |
| स्वत्रिंशांशस्थानां भौमसौरजीवसौम्यानां फलम्                          | २९५ |
| स्वत्रिंशांशस्थस्य शुकस्य भौमादित्रिंशांशस्थयोश्चन्द्रार्कयोश्च फलम् | २९६ |

विषयः

पृष्ठम्

## प्रकीर्णाध्यायः २०.

ग्रहाणानन्योन्यकारकत्वम्

२९७

कारकत्वविशेषः

२९८

वर्गोत्तमादौ शुभत्वनिरूपणम्

"

केन्द्रस्येपु अहेपु विशेषः

२९९

ग्रहाणां चारफलस्य कालविशेषः

"

## अनिष्टयोगाध्यायः २१.

सुतहीनचन्मज्ञानम्

३००

भार्याभरणयोगत्रयम्

३०१

विकलदारजन्मज्ञानम्

३०२

कलत्रगतो विशेषः

३०३

अनिष्टयोगान्तराणि

३०५

स्वर्गदोषलक्षणम्

३०७

नयनारिष्टम्

३०८

श्रोत्रारिष्टम्

३०९

अनिष्टान्तराणि

"

उन्मादलक्षणम्

३१०

अन्येऽरिष्टयोगाः

३११

## स्त्रीजातकाध्यायः २२.

पुरुषजन्मोक्तफलातिशयः

३१४

वपुस्तुल्यग्नेन्दुकमिति यदुक्तं तत्प्रदर्शनम्

"

भौमक्षेत्रे भौमादित्रिंशांशके जातायाः स्वरूपज्ञानम्

३१५

शुक्रबुधक्षेत्रयोः कुजादित्रिंशांशजातायाः स्वरूपज्ञानम्

३१६

चन्द्ररविगुप्तमन्दक्षेत्रेषु कुजादित्रिंशांशजातायाः स्वरूपज्ञानम्

"

स्त्रीगामनिष्टयोगः

३१७

## विषयः

४४म्

अस्तमये पतिश्चेति यदुक्तं तद्विज्ञानम्

३१८

तत्रैव विशेषः

३१९

बन्धकीर्वादिलक्षणम्

"

अस्तराद्यंशकवशेन स्त्रीणां पतिविशेषाः

३२०

वपुस्तु लग्नेन्दुगमित्यस्य विवरणम्

३२१

मर्तृमरणं निधने इति यदुक्तं तद्विज्ञानम्

३२२

पुनरपि स्त्रीगतो विशेषः

३२३

स्त्रीणां प्रयज्यायोगज्ञानम्

"

## निर्याणाध्यायः २३.

निर्माणकारणं निर्याणदेशश्च

३२४

विचित्राणि मृत्युकारणानि

३२५

राशिग्रहयोगकृतानि मृत्युकारणानि

३२६

अन्ये अनिष्टयोगाः

"

उक्तानां विचित्रमृत्युकारणयोगानामभावे पूर्वप्रदर्शितयोर्मृत्युग्रहस्य

ग्रहयोगेक्षणयोरप्यभावे सति ध्रुवत्वेन भाविनो मृत्योः कारणम्

३३०

परस्वाध्यप्रदेशेध्विति पूर्वं प्रदर्शितस्य विशेषकथनम्

"

क्षयपरिणामचिन्ता

३३३

मानुषस्य पूर्वजन्मावस्थाकथनम्

३३४

निर्याणानन्तरगतिः

"

## नष्टजातकाध्यायः २४.

नष्टजातकेति कर्तव्यताज्ञानम्

३३६

गुर्वाद्विज्ञानम्

३३७

ऋतुपरिवर्तनप्रकारः

३३८

शुक्लप्रतिपदादितिथिलक्षणम्

३३९

चान्द्रमासावगमनम्

३४०



विषयः

|                                      |     |
|--------------------------------------|-----|
| अत्र प्रकारान्तराणि                  | ३४१ |
| जन्मलक्षणपरिज्ञानम्                  | ३४२ |
| प्रकारान्तरेण लग्नानयनम्             | ॥   |
| राशीनां ग्रहाणां च गुणकाराः          | ३४३ |
| जन्मनक्षत्रानयनम्                    | ३४४ |
| गुणपिण्डावगन्तव्यानि नष्टजातकवस्तूनि | ३४५ |
| प्रकारान्तरेण जन्मनक्षत्रानयनम्      | ३४७ |
| नष्टजातकविधानोपसंहारः                | ३४९ |

द्वेकाणाध्यायः २५.

|  |     |
|--|-----|
| मेषद्वेकाणस्वरूपम्   | ३५१ |
| वृषप्रथमद्वितीयद्वेकाणस्वरूपम्                             | ३५२ |
| वृषतृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                                    | ३५३ |
| मिथुनप्रथमद्वितीयद्वेकाणस्वरूपम्                           | ३५४ |
| मिथुनान्त्यद्वेकाणस्वरूपं कर्कटाद्यद्वितीयद्वेकाणस्वरूपं च | ३५५ |
| कर्कटान्त्यद्वेकाणस्वरूपं सिंहद्यद्वितीयद्वेकाणस्वरूपं च   | ३५६ |
| सिंहान्त्यद्वेकाणस्वरूपं कन्याप्रथमद्वितीयद्वेकाणस्वरूपं च | ३५७ |
| कन्यान्त्यद्वेकाणस्वरूपं तुलाद्यद्वेकाणस्वरूपं च           | ३५८ |
| तुलाद्वितीयतृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                            | ३५९ |
| वृश्चिकप्रथमद्वेकाणस्वरूपम्                                | ३६० |
| वृश्चिकद्वितीयतृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                         | ॥   |
| धनिप्रथमद्वितीयद्वेकाणस्वरूपम्                             | ३६१ |
| धनितृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                                    | ३६२ |
| मकरप्रथमद्वेकाणस्वरूपम्                                    | ॥   |
| मकरद्वितीयतृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                             | ३६३ |
| कुम्भाद्यद्वितीयतृतीयद्वेकाणस्वरूपम्                       | ३६४ |
| मीनाद्यद्वेकाणस्वरूपम्                                     | ३६५ |

विषयः

पृष्ठम्

मीनद्वितीयदेवकाणस्वरूपम्

३६५

मीनतृतीयदेवकाणस्वरूपम्

३६६

उपसंहाराध्यायः २६.

आत्मौद्धत्यप रेशरपूर्विका चिकीर्षितप्रतिज्ञानिर्व्यूढि

३६७

अध्यायसङ्ग्रहः

३७०

यान्नाहोराध्यायसङ्ग्रहः

”



विवरणोपात्तवाक्यतद्ग्रन्थतत्कारः ।

| पृष्ठम् | वाक्यानि             | ग्रन्थनाम   | कर्तृनाम        |
|---------|----------------------|-------------|-----------------|
| २       | भाशीर्नमस्क्रियां    | ..          | ..              |
| ३       | पुस्तकान्मण्डले      | ..          | ..              |
| ४       | प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ  | ..          | भर्तृहरिः       |
| ५       | प्रकाशकौ द्वौ प्रथमौ | ..          | ..              |
| ६       | सलिलमये कृत्तिनि     | संहिता      | ..              |
| ७       | चन्द्रो जलमयो        | ..          | भार्यभट्टः      |
| ८       | द्वावेव पुरुषौ       | ..          | ..              |
| ९       | भूमौ प्रास्ताहुतिः   | ..          | ..              |
| १०      | मूलाधारोद्गतो        | ..          | ..              |
| ११      | प्रमाणमिच्छा च       | ..          | ..              |
| १२      | नवानके शितगु         | ..          | ..              |
| १३      | प्रियो मौनी नटो      | ..          | ..              |
| १४      | शुश्रूषा श्रवणं चैव  | ..          | ..              |
| १५      | स्वस्थचित्तौ         | ..          | ..              |
| १६      | केधोऽग्र प्रथम       | ..          | श्रीपतिः        |
| १७      | यदुपचितमन्य          | सारावली     | ..              |
| १८      | दशाप्रभेदेन          | ..          | ..              |
| १९      | चन्द्रो रक्तो जयो    | ..          | ..              |
| २०      | जय गुलिकः            | ..          | ..              |
| २१      | सर्वो द्रव्यो        | ..          | ..              |
| २२      | मेधादेः कन्यान्तं    | भार्यभटीयम् | ..              |
| २३      | ग्रहभागेष्ववमा       | कृष्णीयम्   | ..              |
| २४      | जातो न जीयति         | ..          | ..              |
| २५      | मूलाधारे हगानः       | ..          | ..              |
| २६      | इह तावदक्षदशकं       | ..          | भगवत्पादाचार्यः |
| २७      | सिंहः कन्या          | ..          | ..              |
| २८      | पृष्ठोदयेषु          | कृष्णीयम्   | ..              |
| २९      | भोजेपूर्वाः पुरुषाः  | सारावली     | ..              |
| ३०      | विषमेषु ग्रह         | कृष्णीयम्   | ..              |
| ३१      | स्थिरराशौ क्षय       | ..          | भट्टोत्तलः      |
| ३२      | भित्तुवरावि          | कृष्णीयम्   | ..              |
| ३३      | देखानसरण             | ..          | ..              |
| ३४      | रवीन्द्रोर्विषमे     | ..          | ..              |

| श्लोकम् | वाक्यानि            | ग्रन्थनाम     | कर्तृनाम    |
|---------|---------------------|---------------|-------------|
| २८      | सुखिनः प्रकृष्ट     | कृष्णीयम्     | ..          |
| २९      | वर्गोत्तमा नवविंशति | सारावली       | ..          |
| ३०      | सिंहे विंशति        | ..            | विद्यामाधवः |
| ३१      | तन्त्रे सुपरिज्ञाते | ..            | ..          |
| ३२      | ज्ञेयोऽत्र प्रथमं   | ..            | ..          |
| ३३      | अथोपचयसंज्ञा        | ..            | ..          |
| ३४      | लज्जायाः स्युर्भावा | ..            | ..          |
| ३५      | केन्द्रात् परं      | सारावली       | ..          |
| ३६      | यो यो भावः          | ..            | ..          |
| ३७      | मूर्त्यादिभाव       | ..            | ..          |
| ३८      | केन्द्रस्थाः स्युः  | ..            | बादरायणः    |
| ३९      | सर्वमपहाय           | ..            | ..          |
| ४०      | अथमाधिपात           | सारावली       | ..          |
| ४१      | अधिकारकरं           | ..            | ..          |
| ४२      | आत्मा सहैति         | संहिता        | ..          |
| ४३      | ग्रहा धारणाया       | ..            | ..          |
| ४४      | चन्द्रार्कौ बल      | ..            | ..          |
| ४५      | आत्मादयो गगन        | सारावली       | ..          |
| ४६      | द्वादशमण्डल         | ..            | ..          |
| ४७      | गौरोऽदणे विते       | अमरकोशः       | अमरसिंहः    |
| ४८      | रविकुजसुर           | कृष्णीयम्     | ..          |
| ४९      | अमावास्या चतु       | ..            | ..          |
| ५०      | कूरमहोऽर्कः कुज     | ..            | यवनः        |
| ५१      | भाषारसस्य           | सारावली       | ..          |
| ५२      | विषो मृगुजम्बू      | कृष्णीयम्     | ..          |
| ५३      | साग्नो मृगवह्निरसौ  | सहस्रनामविजयः | ..          |
| ५४      | सूर्यामजेन्दुपुत्री | कृष्णीयम्     | ..          |
| ५५      | सारिवर्कं शीतभा     | ..            | बादरः       |
| ५६      | राजसं बहु           | ..            | ..          |
| ५७      | तामसं अथ            | ..            | ..          |
| ५८      | दृक्काकिनि यम       | ..            | ..          |
| ५९      | यः सारिवर्कः        | ..            | ..          |
| ६०      | सर्वं रजस्तमो       | स्वप्नजातकम्  | ..          |
| ६१      | पितृं यद्विः        | अष्टादशद्वयम् | बादरः       |

| पृष्ठम् | वाक्यानि               | ग्रन्थनाम      | कर्तृनाम       |
|---------|------------------------|----------------|----------------|
| ४६      | इस्यः पिद्मल           | सारावली        | ..             |
| ४७      | इंपिपिद्मललोचनः        | "              | ..             |
| "       | चारुर्दीर्घभुजः        | "              | ..             |
| ४८      | तत्र सप्त स्वचो        | ..             | वाइटः          |
| ४९      | मलिनपिच्छ              | कृष्णीयम्      | ..             |
| "       | बलवश्वे हेम            | ..             | बादरायणः       |
| "       | नकंस्य सान्नं          | ..             | ..             |
| ५०      | भ्रगधवंसाम             | स्वल्पजातकम्   | ..             |
| "       | जामिग्रभे रटि          | ..             | यद्यनेश्वरः    |
| ५१      | हुक्षिरकदन्तमान्       | ..             | शारयः          |
| "       | द्वौ पक्षिमौ           | ..             | यवनः           |
| "       | यत्तयो रिपु            | ..             | मणिभ्यः        |
| ५२      | शुभोदये भवेन्          | ..             | ..             |
| "       | रवेर्गुहमिग्र          | ..             | यद्यनेश्वरादयः |
| ५३      | शयू मन्दसितौ           | ..             | ..             |
| ५४      | मूलत्रिकोणमय           | कृष्णीयम्      | ..             |
| "       | मूलत्रिकोणात्          | ..             | यद्यनेश्वरादयः |
| ५५      | स्वोरो रूपं            | ..             | श्रीपतिः       |
| "       | स्त्रीपुत्रपुंसकाख्याः | सारावली        | ..             |
| ५६      | गुर्वन्दवौ पूर्व       | ..             | यद्यनेश्वरः    |
| "       | कदाचिद् दक्षिण         | ..             | ..             |
| ५७      | दिवसकरेणास्त           | संहिता         | ..             |
| "       | मासे तु शुक्ल          | ..             | यद्यनेश्वरः    |
| ५८      | पादं स्वर्ग्ये         | ..             | श्रीपतिः       |
| "       | चतुरशीतिसहस्र          | योगशास्त्रम्   | ..             |
| ६०      | विहगोदितटवकाणे         | सारावली        | ..             |
| ६३      | सूर्यामभेन्दुपुत्री    | ..             | ..             |
| "       | द्वित्रिगुणाखं तेषां   | सारावली        | ..             |
| ६४      | भकंस्य मूलम्           | ..             | ..             |
| ६५      | मासि मासि              | नष्टाङ्गद्वयम् | वाइटः          |
| ६७      | स्त्रीणां गतो          | ..             | बादरायणः       |
| "       | क्षामप्रसन्नवदनां      | नष्टाङ्गद्वयम् | वाइटः          |
| "       | इजोनिर्गमनात्          | ..             | ..             |
| "       | पुरुषोपचयगृह           | ..             | बादरायणः       |

| श्लोक | शारदाणि        | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|----------------|-----------|----------|
| ६८    | शुद्धा         | ..        | ..       |
| ७०    | रक्षायुदांरिका | ..        | ..       |
| ७१    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७२    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७३    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७४    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७५    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७६    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७७    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७८    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ७९    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८०    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८१    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८२    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८३    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८४    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८५    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८६    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८७    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८८    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ८९    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९०    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९१    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९२    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९३    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९४    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९५    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९६    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९७    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९८    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ९९    | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १००   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०१   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०२   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०३   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०४   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०५   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०६   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०७   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०८   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| १०९   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |
| ११०   | गोपिपास्विता   | ..        | ..       |

| पृष्ठम् | वाक्यानि              | ग्रन्थनाम    | कर्तृनाम    |
|---------|-----------------------|--------------|-------------|
| १०९     | विस्तीर्णा पृथिवी     | ..           | ..          |
| १११     | गुरक्षेत्रगते चन्द्रे | ..           | गार्गिः     |
| ११२     | जलवत्यजलेन            | कृष्णीयम्    | ..          |
| ११८     | अियते च पाप           | सारावली      | ..          |
| ११९     | विमृमातृपृष्ठे        | ..           | ..          |
| १२०     | एकद्वित्रिचतु         | पद्यतिः      | ..          |
| १२१     | दिग्भ्योऽधिकं         | ..           | धीपतिः      |
| ..      | योगे दृष्टिफलं        | ..           | ..          |
| १२२     | जातस्त्रमिसे          | ..           | ध्वनेश्वरः  |
| ..      | भीचक्ष्वे भूरायने     | भारावली      | ..          |
| ..      | दीर्घोदये त्रिलम्बे   | ..           | ..          |
| ..      | लग्नाऽधिपेऽशङ्क       | ..           | मणिम्बः     |
| १२३     | केशो मातुः            | सारावली      | ..          |
| १२८     | उद्वयशशिमस्य          | ..           | जीवशमी      |
| ..      | शशिलानाम्तर           | स्वस्वजातकम् | ..          |
| १२४     | अर्धाक्षमयादूर्ध्वं   | संहिता       | ..          |
| १२५     | पक्षापरभाग            | ..           | बादरायणः    |
| १२६     | पर्यभिम्बा            | ..           | कात्यायनः   |
| ..      | पापेषु लग्नाभि        | ..           | प्रबनेश्वरः |
| ..      | अरिष्टप्रयगतैः        | ..           | ..          |
| १२७     | पापेषु लग्नाभि-       | ..           | ध्वनेश्वरः  |
| १२८     | व्यपाष्टमक्षोदयो      | सारावली      | ..          |
| ..      | क्षीणे च चन्द्रे      | ..           | गार्गि      |
| १२९     | लग्नाच्छशी            | ..           | ध्वनेश्वरः  |
| ..      | पक्षे निसे भवति       | ..           | मालव्यः     |
| १३६     | स्वोच्चशुद्धाः प्रहा  | भारावली      | ..          |
| ..      | लग्नक्षतुस्यं         | ..           | मणिम्बः     |
| १३७     | भूम्याः पुत्रं        | ..           | बादरायणः    |
| ..      | लग्ने ग्रहोर्न        | ..           | धीपतिः      |
| १३८     | एकक्षोपगतामी          | ..           | सत्यः       |
| १३९     | वर्षे द्वादश          | ..           | ..          |
| ..      | अष्टादश निमेषास्तु    | अमरकोशः      | ..          |
| १५२     | उद्योतिपमागम          | ..           | वराहमिहिर   |
| १५४     | सुखिनः प्रकृष्ट       | ..           | ..          |

| पृष्ठम् | वाक्यानि               | ग्रन्थनाम    | कर्तृनाम    |
|---------|------------------------|--------------|-------------|
| "       | शिव्यस्य पुद्दि        | "            | "           |
| १५९     | विशेषणमात्र            | "            | "           |
| "       | अंशोद्भवं विलम्बात्    | सारावली      | "           |
| १६०     | लग्नार्कशशाङ्कानां     | स्वरूपजातकम् | "           |
| १६१     | बली लग्नेन्दुमूर्याणां | "            | गार्गिः     |
| १६२     | पूर्वमायुः परीक्षेत्   | "            | वाहटः       |
| "       | पापपद्माश्रम           | "            | "           |
| "       | अशक्तचिन्ता            | "            | "           |
| १६३     | लुप्ताने पावकं         | "            | "           |
| "       | प्रशस्तं पुष्प         | "            | "           |
| "       | अपृष्ठतः पृष्ठतो       | महायात्रा    | भाचार्यः    |
| १६४     | एकक्षोपगतानां          | "            | सत्यः       |
| १६५     | कल्प्यो हरो            | "            | "           |
| "       | अन्योन्यद्वाराभिद्वी   | "            | "           |
| १६७     | सर्वैर्गैः             | "            | गार्गिः     |
| १७०     | श्रेष्ठा दशा स्त्रे    | "            | यद्यनेश्वरः |
| १७४     | सिक्कैर्विरहितो        | "            | वाहटः       |
| १७९     | हृदये व्याकुलीभावो     | "            | "           |
| १८०     | प्रयेदो बलवान्         | सारावली      | "           |
| १८१     | चन्द्रासुरग            | "            | "           |
| १८२     | वर्णमाक्रामनि          | "            | वाहटः       |
| "       | खादीनां पञ्च           | "            | "           |
| १८३     | छाया शुभाशुभ           | संहिता       | भाचार्यः    |
| १८८     | शनैश्चरमुर             | "            | भार्यभटः    |
| १८९     | तिर्यग्निश्चो          | "            | "           |
| १९१     | ससैते होरेणाः          | "            | भार्यभटः    |
| १९७     | देवो धनो               | "            | "           |
| "       | देवः सुभः              | "            | "           |
| "       | कालो बलीयान्           | "            | "           |
| १९८     | पुंसां जन्मादि         | "            | "           |
| २०२     | इष्टान्युदयोद्यादौ     | "            | विद्यामाधवः |
| "       | पाकं द्वादशघा          | अनरूपवृत्तिः | "           |
| २०५     | उदयादिन्दुतो           | "            | श्रीपतिः    |
| २०८     | समृगोरगसारि            | "            | गार्गिः     |



| पृष्ठम् | वाक्यानि              | ग्रन्थनाम         | कर्मनाम    |
|---------|-----------------------|-------------------|------------|
| २०९     | पापैः पापमतिः         | "                 | वचनाः      |
| २१०     | पापैश्चगतेः           | "                 | जीवतामा    |
| "       | त्रिप्रभृतिभिः        | स्वल्पजातकम्      | "          |
| २१३     | लग्ने सौरस्तुते       | "                 | बादरायणः   |
| "       | अदित्यश्च निशा        | "                 | 'मा'दित्यः |
| "       | सूर्यस्यापे सेन्दु    | "                 | बादरायणः   |
| २२०     | तुलायां दशमे          | "                 | "          |
| २२२     | पापक्षेत्रगतैः        | "                 | गार्गिः    |
| २२६     | अक्षेपाधाद्           | संहिता            | वराहमिहिरः |
| २३६     | सूर्या ग्रहेन्द्राद्  | "                 | "          |
| २३४     | स्वाशेऽथवाधिमित्रांते | "                 | गार्गिः    |
| २३५     | मिथुने चूने           | "                 | भुतकीर्तिः |
| "       | शशिनः सौर्याः         | "                 | बादरायणः   |
| २३८     | सर्वत्र सम्पदः        | "                 | "          |
| २४२     | अपुताज्ञाबुधौ         | "                 | "          |
| "       | अधौपनिषदिकम्          | "                 | कौटिल्यः   |
| २४३     | अतिमतिरति             | "                 | "          |
| २४५     | किं कुर्वन्ति ग्रहाः  | "                 | "          |
| "       | सम्पदो गुरुसंयोगे     | "                 | "          |
| २४७     | वर्णधर्माधमा          | "                 | "          |
| २५१     | नवमस्थाने सौरो        | "                 | "          |
| २६३     | विचित्रज्ञाने         | वराहसूत्रे        | वराहसूत्रः |
| २७३     | विचित्रज्ञाने         | "                 | "          |
| २८६     | विचित्रज्ञाने भवन्    | "                 | "          |
| २८८     | भद्रे जीवधने          | "                 | "          |
| २८९     | मयेपां वारताराः       | उक्तमहेश्वरसंवादः | "          |
| २९०     | वर्गित आश्रय          | "                 | श्रीपतिः   |
| २९९     | जन्माधिपो अत्रप       | "                 | वचनेश्वरः  |
| "       | आद्यावन्तेऽन्तःफल     | "                 | गार्गिः    |
| ३०१     | धीशितपुत्राश्च        | "                 | "          |
| ३०२     | चतुर्धाष्टमीः         | "                 | गार्गिः    |
| ३०३     | पञ्चमे नवमे           | "                 | "          |
| ३०५     | पञ्च द्वितीयाष्टमी    | "                 | "          |
| ३०७     | परस्परगृहे चोती       | "                 | गार्गिः    |

| शृङ्खला | वाक्यानि           | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम    |
|---------|--------------------|-----------|-------------|
| १०९     | अधुनेलोमयं         | ..        | बाह्यः      |
| ११०     | अदमनो जन्म         | ..        | ..          |
| १११     | धूमो वेदगृहो       | ..        | ..          |
| ११२     | सौन्दर्यं लभ       | ..        | ..          |
| ११३     | मरणं प्राणिनां     | ..        | ..          |
| ११४     | अस्त्युक्तैः पुण्य | ..        | ..          |
| ११५     | लानपगुरुरवि        | ..        | ..          |
| ११६     | लानाधिपस्थित       | ..        | ..          |
| ११७     | तस्मान्नृपः        | महापात्रा | ..          |
| ११८     | अथ नृपतिसमीपे      | ..        | ..          |
| ११९     | दृष्टां धर्मि      | ..        | ..          |
| १२०     | चित्रादितारका      | ..        | बोधायनः     |
| १२१     | अमत्रिषातस्तु      | ..        | ..          |
| १२२     | दिनमवृत्तिमंतरां   | ..        | श्रीवृत्तिः |
| १२३     | यावन् नालुग्रहः    | ..        | ..          |



## PREFACE

This edition is based on the following three palm leaf manuscripts

- 1 क Belonging to the Palace Library, Trivandrum
- 2 ख Lent by Mr Govinda Pisharoti, Kailasapuram, Vaikkam
- 3 ग Do Sri Kumaran Moothathu, Ayanthodi, Kaduthurathi

The colophons in these manuscripts show that the name of the commentary is Vivarana and its author Rudra while the following verses at the end of the manuscript ख furnish certain facts regarding the date and nativity of the commentator

“कृत्वा रत्नममहोदरीरमितरि प्रावण्यपूत मन  
 सखिभ्रम्य गिरा बराहमिहिरोत्तरथनामिधया ।  
 मन्वीकृत्यनुनिद्धमागमिकताप्राण सुधाद (?) प्रिया  
 यार्थं स्वाकृषि या उपशंसद नो न वक्ष्याह धिया ॥  
 भद्राणीनिरताद्यहि मकरेऽर्के सुषोदये ।  
 इह होराविचरण रुद्रेण सुसमारितम् ॥

The manuscript क runs up to the end of the 26th chapter. It is written on palm leaves in Malayalam characters and looks about three centuries old. It is almost free from errors. The commentary in this manuscript unlike in the other two mentions the name of the metre etc, in the text.

The manuscript ख having been returned to the owner soon after transcription, no description is given here.

The manuscript ग consists of Vivarana, running up to the end of the 24th adhaya with only a Malayalam commentary on the 25th. The commentary on the 26th chapter is incomplete and at the end of the manuscript ग found fragment of a Malayalam commentary on the 8th chapter. It is written on palm leaves in Malayalam characters. It is about two centuries old and is full of errors.

K SĀMBAŚIVA ŚĀSTRĪ

## INTRODUCTION.

The Horā śāstra of Varāhamihira is now published in the Trivandrum Sanskrit Series, along with the commentary of Rudra. The Jyotiś śāstra consists of three branches viz., Ganita, Samhitā and Horā; and the last branch can be further classified as Jātaka, Praśna, Muhūrta and Nīmitta. The present work apparently treating of Jātaka, includes in its scope the other topics also; and hence, it seems, the significant title Brhājātaka (lit., the bigger Jātaka).

The Horā śāstra is said to reveal to us the matured state of good and bad actions of men in their previous existences, ready to bear fruit, as is evident from,

‘कर्माक्षिप्तं पूर्वभवे सदादि

यत् तस्य वक्ति समभिध्यतकि ।’ (p. 9).

In respect of its terse and laconic style containing depth of sense, the work approaches the sūtras of Pāṇini; and being suited to the needs and taste of students it has superseded the treatises on Horā by Maya, Yavana, Manintha, Śaktipūrvā and others as the following verse shows :—

‘भूयोभिः पटुपुदिभिः पटुभिः होराफलज्ञस्ये

नन्द्यायममन्वितेषु बहुतः शास्त्रेषु दृष्टव्ये ।

होरातन्त्रमहर्षिप्रवक्तव्ये भगवत्प्रमाणम्

स्वयं पृथग्विचित्रमर्थबहुलं शास्त्रज्ञं प्राप्ते ॥’ (p. 8).

The peculiar popularity of the work is also due to the fact that it contains, in a nutshell, all that is essential in the works on the subject by ancient teachers.

The author is known to have flourished about the middle of the 6th century A. D. The following verse makes it certain that he was born of the Kapisthila gotra in the

Avanti country and received his education from his father and guru named Ādityadāsa.

‘आदित्यदासतनयसुदवासबोधः  
कापिशिलः सवितृलब्धवरप्रसादः ।  
आवन्तिको मुनिमतानवलोक्य सम्यग्  
होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥’ (p. 327).

He is known to have written the following works on the different branches of the Jyotiś śāstra.

1. Pañcasiddhānta
2. Laghujātaka
3. Br̥hadyātrā
4. Br̥hadvivāhapaṭala
5. Br̥hatsamhitā.

Treading the track of his predecessors the author reveals his high veneration for them, as is shown by the following extracts.

- (1) ‘मययवनमगिन्यशक्तिपूर्वं-  
दिवसकरादिषु यत्साराः प्रदिष्टाः ॥’ (p. 130)
- (2) ‘मास्वर्घं हसति ततस्वयैकगाना-  
मेकोऽं हरति बलीत्ययाह सत्यः ॥’ (p. 132).
- (3) ‘भायुर्दायं विष्णुगुप्तोऽपि नैवं  
देवस्वामी सिद्धसेनश्च चक्रे ॥’ (p. 137).
- (4) ‘स्वमतेन किलाह जीवशर्मा  
प्रहृदायं परमायुषः स्वरांशम् ॥’ (p. 139).
- (5) ‘प्राहुर्यवनाः स्वतुङ्गैः  
क्रूरैः क्रूरमतिर्महीपतिः ॥’ (p. 146).

It can be seen from the following extracts that all the subsequent writers on astrology refer to the work as a great authority and regard the author as an incarnation of the sun.

- (1) ‘यच्छास्त्रं मणिता चकार विपुलैः स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्योतिषां  
तस्योच्छिष्टिभिर्योर्व पुनः कलियुगे संसृत्य यो भूतलम् ।

भूय स्वल्पतर वराहमिहिरव्याजेन सर्वं न्यघा  
दित्य य प्रवदन्ति मोक्षकुशलास्त्रसौ नमो मास्वते ॥

(Bhattotpala's commentary on the Hora)

- (2) ज्योतिःशास्त्रमिदं विधाय विपुलं त्रिस्कन्धमिह पुरा  
लोकानां मतिमान् यत् कलियुगे उत्पातमभ्यास्य पुन ।  
स्पष्टं तत् सकलं ततो रचितवानादित्यदासामजो  
भूत्वा यो मिहिरो वराहमिहिर नाम्ना नमस्तुभ्ये ॥

(Daśadhvayī, a commentary on the Hora)

- (3) 'यं शास्त्रं त्रिपुलं चकार विततैः स्कन्धैश्चिमिर्ज्योतिषा  
तस्योच्छिन्तिभयात् स्वयं कलियुगे सञ्चितं यो भूतलम् ।  
भूय स्पष्टतरं वराहमिहिरव्याजेन सक्षिप्तिवान्  
लोकानुग्रहमूर्तये भगवते तस्मै नमो मास्वते ॥' (p 96)

An erudite commentary named Vivarana by Rudra is added to the work. From the fact that the commentator is called in this country by the names Uzhutra Varyar and Ittutra Varyar, which are apparently Malayalam corruptions of the Sanskrit term Rudra, it can be surmised that he was a native of Kerala. Besides, the people called Varyars are exclusively found to be natives of Kerala which, it is well known, was the seat of many learned men in ancient days who made the study of astrology and medicine their specialty.

From the verse,

‘भद्राशीनिर्णवाद्यदि मकरेर्द्वे शुभोदये ।  
इदं होराविरणं रुद्रेण सुसमापितम् ॥’

it is evident that the commentary was written on a Wednesday of the month Makara when the date indicated by the chronogram ‘भद्राशीनिर्णवाद्य’ coincides. The chronogram, however, when taken as a *liladina* comes to 1690524 which happens to be Monday the 16th in the month of Karkatakam of 702 of the *lollam Era* (1527 A.D.). It is

therefore taken, though in quite a new way as indicating the Kollam year, month and date which is Wednesday the 24th of the 6th month of the year 170 (995 A. D.). To ignore the words 'भद्राक्षीर्निष्ठात्य' of the author and to guess out any possible alteration of the text so as to suit the Kalidina is inadmissible.

The commentary is quoted\* as authority in the Praśnamārga written in 825 κ. κ (1650 A. D.); and this fact itself makes it clear that it is about four centuries old. And even if we take the chronogram as representing the Kalidina (702-12-16), either admitting or ignoring the disparity of Wednesday in Makara, there is every chance of the commentary being four centuries old.

Nilakantha in his Bhāṣya on the Āryabhaṭīya, mentions† a Rudra as one of the teachers of Parameśvara who wrote Drgganita about the beginning of the 15th century A. D. If this Rudra is the same as the author of Vivarana, his date may be assigned to the latter part of the 14th century A. D. As the chronogram ends with the word अङ्गि it seems natural to take it as representing Kali days; and if it is read as भद्राक्षी instead of भद्राक्षी as there is small difference between the Malayalam characters ग and ङ, it comes to 1690324 Kali days corresponding to the 13th ghatika of the 29th day in the month of Dhanu of the Kollam year 702 (1527 A. D.); and in case the Saṅkrānti happened on the same day, then the makarārka, the first day and Wednesday would also coincide.

There is another commentary on the work called Daśa-  
ūlhyāyī written by Govinda Somayājī. As this ends with

\* 'न्यायः सर्वगृहेष्वयं विवरणे प्रोक्तोऽयं सोऽप्युच्यते ।'

† 'परमेश्वरस्तु रुद्रपरमेश्वराम्बज-नारायण-माधवादिभ्यो गोलविद्भ्यो गणित-  
गोलयुक्तीरपि बाल्य एव सम्यग् गृहीत्वा दृग्गणितं करणं चकार ।'

the 10th chapter it cannot be said to serve the objects expected of a commentary. In the first two adhyāyas of both these commentaries are however found some parallel passages\* which give rise to the inference that one of them must have been indebted to the other.

Bhattotpala's commentary named *Brhājñātakavivṛti* is narrow in its scope and is far from making the appearance of *Vivaraṇa* superfluous.

From the references† to *Vyākaraṇa*, *Mīmāṃsā* and *Yoga śāstras*, the commentator appears to be well-versed in those branches of knowledge.

\* 'मेवादयः क्रमेण क्रियादिसंज्ञा भवन्ति । अथाष्टानां क्रियादीनां समासः तौक्षिकादयो व्यक्ताः प्रोक्ताः । तेनायमर्थः सूचितः— आत्माद्यष्टभाषाणां धर्मादिचतुर्भावंसापेक्षत्वम् आत्मनो धर्मसापेक्षत्वं धनस्य प्रवृत्तिमापेक्षत्वं पराक्रमस्वायांगमसापेक्षत्वं सुखस्य धनव्ययसापेक्षत्वं सुखसिद्धेर्धर्मसापेक्षत्वं तदुत्पन्नस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं कलत्रसुखस्यायांगमसापेक्षत्वं मरणरोगपराभवादावर्धनासमापेक्षत्वं इति ॥'

(*Vivaraṇa* p. 17).

संज्ञासंविधानमाह—क्रियेति । मेवादयो क्रियादयः संज्ञा उक्ताः । अथाष्टादीनां क्रियादीनां समासः । तौक्षिकादयो व्यक्ताः प्रोक्ताः तेनायमर्थः सूचितः— आत्माद्यष्टभाषाणां धर्मादिचतुर्भावंसापेक्षत्वम् आत्मनो धर्मसापेक्षत्वं धनस्य प्रवृत्तिमापेक्षत्वं पराक्रमस्वायांगमसापेक्षत्वं सुखस्य धनव्ययसापेक्षत्वं सुखसिद्धेर्धर्मसापेक्षत्वं तदुत्पन्नस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं कलत्रसुखस्यायांगमसापेक्षत्वं मरणरोगपराभवादेवर्धनासमापेक्षत्वम् इति

(*Daśādhyāyī*).†

† 'प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ।

पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपट्टेन नञ् ॥'

(p. 2).

'विशेषणमात्रप्रयोगे विज्ञेयप्रतिपत्तिः ।'

(p. 14:).

'यन्निद्वारे विषद्यायाः कुक्षिः प्ररपन्दते यदि ।

जन्मकाले सतः शीघ्रं पादयित्वात्तरेण्यशुम् ॥'

(p. 73)

'मूलाधारोऽत्रतो पदिद्रांशान्तमुणाधिन ।

पीयूषवर्षपूर्णमा कामदो न तु मोक्षद ॥

॥ पृथोर्ध्वगतस्तज्ज, दृष्यगोप सम्भवेत् ।

(p. 5).



It is a matter of extreme satisfaction for us that we are now in a position to publish this learned commentary in the Trivandrum Sanskrit Series. A work on Jyotiṣa named Goladīpikā has already been published (No. 49. T. S. S); and we hope to enrich the series by publishing more works on the subject.

K. SĀMBAŚIVA ŚĀSTRĪ.

## उपोद्धातः ।

-अस्य होराशास्त्रग्रन्थस्य प्रकाशने संशोधनावलम्बा आदर्शस्त्रियः ।  
तत्रैकः क.संज्ञितो राजकीयग्रन्थशालीयः ।

द्वितीयः ख.संज्ञितो व्याघ्रालयान्तर्गतकैलासपुरनिवासिमोविन्दपिपा-  
रोदिसम्बन्धी ।

तृतीयः ग.संज्ञितः कटिसिरुत्ति-आयाङ्कुटि-चोलिकरमग्रनाधिपति-  
श्रीकुमारनृपूततुलामिकः ।

त्रिष्वप्येषु सामान्यतस्तत्तदध्यायपरिसमाप्तिवाक्याद् विवरणमिति  
व्याख्याननामधेयं, रुद्र इति उत्कर्तृनामधेयं चावगम्यते ।

विशेषतस्तु ख.संज्ञितग्रन्थसमाप्तौ दृश्यमानेन

“कृत्वा रुक्मिसहोदरीकमितरि प्रीवर्ण्यपूतं मन-  
स्तद्विभ्रम्य गिरा वराहमिहिरोत्तर्यनामिधया ।  
सत्स्वीकृत्यनुविद्धमागमिकताप्राणं सुषीदं(?) प्रिया-  
यार्थं व्याकृषि वास्तवज्ञसदनो नन्वल्पमायं धिया ॥

भद्राश्रीर्निधृताचाहि मकरेऽर्के बुधोदये ।  
इदं होराविवरणं रुद्रेण सुसमापितम् ॥”

इति सन्दर्भेण ग्रन्थकर्तुर्निवासमयनं नामधेयं जीवितसमयश्च शक्यान्यवधार-  
यितुम् ।

अत्र क.संज्ञित आदितः षड्विंशतिसध्यायान् यावदविकलं स्वरूपमुप-  
लभ्यते । प्रायः शुद्धपाठोऽयमदर्शस्तत्र तत्र विवरणे मूलश्लोकसम्बन्धिषुच-  
नामधेयनिवेदनपुरस्सरैरवतारिकादिभिरितराम्नां विशिष्यते ।

अथ चायं ऋद्गुलविस्तृतिभित्तिवितस्तिदीर्घैः प्रायो वज्रिवेधचिह्नितोभ-  
याञ्चलैः प्रतिपङ्क्ति मार्का पादोनग्रन्थत्रयनिविष्टपङ्क्तिदशकात्मभिः केरलीम-  
लिपिभिरेकादशाधिकद्विंशतसङ्ख्यैस्तालपत्रपुटै रूपितस्त्रिंशतवर्षवृद्धः प्रति  
भाति ।

ख.संज्ञितः प्रतिरूपणानन्तरं तत्स्वामिने प्रतिसमर्पित इति न विशिष्य  
निरूपयितुं शक्यः ।

ग.संज्ञितस्त्वावितम्बतुर्बिंशतेरध्यायानां प्रस्तुतेन विवरणेन, ततः पञ्च-  
विंशस्य केनापि केरलीव्याख्यानेन, षड्विंशस्य विशकलितव्याख्यानश्लोक-  
सङ्घटनेन, सर्वान्ततो होराशास्त्रीयाष्टमाध्यायस्य केरलीव्याख्यानघटितेन केना-  
प्यंशेन च लब्धाकृतिर्वर्तते । प्रायः स्त्रलितबहुलपाठोऽयं द्विंशतवर्षपर्युषितः ।  
अत्र च ऋद्गुलवितानानि अर्धवितस्तिदीर्घाणि च मनाग् जीर्णश्रुतितानि  
चरवारिणदुत्तरं पञ्चशतं केरलीयलिपीनि तालपत्रपुटानि दृश्यन्ते । तत्र च  
प्रतिपुटमष्ट पङ्क्तयः प्रतिपङ्क्ति एकैको ग्रन्थश्च विद्यन्ते ।

अनन्तशयनम्, }  
१०-४-१०२. }

के. साम्बशिवशास्त्री.

## अवतारिका ।

श्रीचराहमिदिराचार्यप्रणीतं किमपि ज्योतिर्निबन्धनमिदं होराशास्त्रं  
नाम श्रीरुद्रविरचितेन विवर्णेन समन्वितं प्रकाश्यते । गणित-संहिता-  
होराभिधानैस्त्रिभिः स्कन्धैराचिताकृतेः किल महतो ज्योतिश्शास्त्रस्य कोऽप्य-  
न्यतमः स्कन्धो भवति होरा ।

वस्तुतो जातकं प्रश्नो मुहूर्तो निमित्तमिति चतुर्भिरङ्गैः स्वरूपिताया  
अपि होरायाः प्रथमं जातकं सुविपुलमवशिष्टाभिन्यञ्जनक्षमं च प्रतिपाद्य  
बृहज्जातकमिति नाम्नान्वयेन स्थाने प्रयतेऽयं ग्रन्थः ।

जन्मवतां पूर्वजन्मार्जितानां सतामसतां वा कर्मणां या पाकानुगुणा  
फलाभिसमर्पणप्रवणता तदभिन्यञ्जनमस्य मुख्यं कृत्यम् । तदुक्तमत्रैव —

‘कर्माजितं पूर्वभवे सदादि

यत्तस्य पक्तिं समभिन्यनक्ति ।’

(ष्टम्. ९)

इति ।

जाग्रत्स्वपि मययवनमणिन्धशक्तिपूर्वप्रमुखैः पूर्वैराचार्यैरुपनिबद्धेषु  
परेषु होराशास्त्रनिबन्धेष्विदमेव निबन्धनं पाणिनीयमिव वीर्यबहुलं सूत्रजालं,  
कार्यविपुलमाकृतिलविष्टमाखिलादरणीयम् । तथाचोक्तमाचार्यैः —

‘मूयोभिः पटुबुद्धिभिः पटुधियां होराफलज्ञस्ये

शब्दन्यायसमन्वितेषु बहुशः शास्त्रेषु दृष्टेष्वपि ।

होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नोद्यमानामहं

स्वरूपं वृत्तविचित्रमर्थबहुलं शास्त्रप्लवं प्रारभे ॥’

(ष्टम्. ८)

इति ।

बहूनां प्राचामाचार्याणां मतानि यावदपेक्षमालोक्य संहृत्य च सारं  
सममाणं प्रवृत्तस्यास्य प्रतिष्ठा काव्यन्यैव मन्ये ।

अस्य चैवंविधस्य ज्योतिर्निबन्धस्य निबन्धा श्रीवराहमिहिराचार्यः  
क्रिस्तोरनन्तरं षष्ठ्याः शताब्द्यास्तृतीये पादे स्वजीवितप्रकाशेन भुवं प्रकाश-  
यामासेति ज्ञायते ।

मुक्तकण्ठमाचार्योक्तमेव प्रमाणमधिकृत्येयांस्तु भागः प्रत्यक्षो विदुषाम् —

अस्याभिजनः — कापिष्ठिलाभिधः

जनकः शिक्षकश्च गुरुः — आदित्यदासः

जन्मभूमिः — अवन्ती

इति । यथा —

‘आदित्यदासतनयस्तदवासबोधः

कापिष्ठिलः सवितुलब्धवरप्रसादः ।

आचन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्

होरां वराहमिहिरो रुचिरा चकार ॥’

(पृष्ठम्. ३२७)

इमे चैतदाचार्यविरचिता अन्ये ज्योतिषग्रन्थाः —

- |                    |   |                        |
|--------------------|---|------------------------|
| (१) पञ्चसिद्धान्तः | — | (गणितविषयः)            |
| (२) लघुजातकम्      | — | (होरांशः)              |
| (३) बृहद्यात्रा    | — | (सूक्त्यादि) (होरांशः) |
| (४) बृहद्विवाहपटलः | — | “ ”                    |
| (५) बृहत्संहिता    | — | (संहिता)               |

इति ।

पूर्वाचार्यबहुमतेन यथा सञ्चरमाणोऽयं स्वतन्त्रम्यागमसिद्धिमान्यतामा-  
त्मनश्च विद्याविनयगौरवमसामान्यमभिव्यज्जयति । यथा —

(१) ‘भययवममणिन्धशक्तिपूर्व-

दिवसकरादिषु वत्सराः प्रदिष्टाः ।’

(पृष्ठम्. १३०)

(२) ‘सत्स्वर्धं हसति तत्तत्स्वयैकगान्-

मेकोऽंशं हरति बलीत्ययाह सत्यः ॥’

(पृष्ठम्. १३२)

- (३) 'आयुर्दायं विष्णुगुप्तोऽपि चैवं  
देवस्वामी सिद्धसेनश्च चक्रे ।'

(ष्टम्, १३७)

- (४) 'स्वमतेन किलाह जीवशर्मा  
महदायं परमायुषः स्वरांशम् ।'

(ष्टम्, १३९)

- (५) 'माहुर्यवनाः स्वतुङ्गैः  
कूरैः कूरमतिर्महीपतिः ।'

(ष्टम्, १८६)

इति ।

शास्त्रमिदमखण्डितमखिलज्योतिर्विदभ्युपगतेः सुप्रतिष्ठितम्, आचार्यध्वार्य  
महाणामिवाधीश्वरस्तान्त्रिकाध्यक्षः साक्षान्मिहिर एवेति चामियुक्तोक्तिमनु-  
सरामः । यथा भट्टोत्पलकृतवृहज्जातकविवृतौ —

'यच्छास्त्रं सविता चकार विपुलैः स्कन्धैस्त्रिमिर्ज्योतिषां  
तस्योच्छिष्टिभयात् पुनः कलियुगे संसृत्य यो मृतलम् ।  
भूयः स्वरूपतरं वराहमिहिरन्याजेन सर्व व्यधा-  
दित्थं यं प्रवदन्ति मोक्षकुशलास्तसौ नमो भाम्बते ॥'

गोविन्दसोमयाजिविरचितायां दशाध्याय्यां —

ज्योतिश्शास्त्रमिदं विधाय विपुलं त्रिस्कन्धभिन्नं पुरा  
लोकानां मतिमान् यतः कलियुगे तत्पातमीत्या पुनः ।  
स्वरूपं तत् सकलं ततो रचितवानादित्यदासात्मजो  
मूढा यो मिहिरो वराहमिहिरं नाम्ना नमस्कुर्यदे ॥'

धीरुद्रकृते च प्रस्तुते विवरणे —

'यः शास्त्रं विपुलं चकार वितर्तैः स्कन्धैस्त्रिमिर्ज्योतिषां  
तस्योच्छिष्टिभयात् स्वयं कलियुगे संश्रित्य यो मृतलम् ।

भूयः स्पष्टतरं वराहमिहिरव्याजेन संक्षिप्तवान्  
लोकानुग्रहमूर्तये भगवते तस्मै नमो भास्वते ॥'

(पृष्ठम्. ९६)

इति ।

अथैतादृशो होराशास्त्रस्य विशदं विपुलं च विवरणाख्यानं किमपि  
व्याख्यानमप्यनुयदिदं प्रकाशितमवतार्यते ।

व्याख्यानस्यास्य नामधेयं 'विवरणमिति कर्ता चास्य रुद्रनामेति चाद-  
र्शतोऽवगम्यते । यथा—

१. 'इति श्रीरुद्रकृते बृहज्जातकविवरणे द्रव्याणाध्यायः पञ्च-  
विंशः ।'

२. 'इदं होराविवरणं रुद्रेण सुसमापितम् ।' इति

अस्य च विवरणकर्तुः उपुत्र वारियर्, इन्दुत्र वारियर् इति वा  
श्रूयमाणं रुद्रदेश्यं नामान्तरं केरलीयत्वं विशदयति । यद् वाररसंज्ञिता हि  
केरलाभिजना एव दृष्टाः । केरलाश्च प्रायो बहोः कालादारम्य ज्योतिषायुर्वेदा-  
दिनैकतन्त्रविज्ञाननिधीनां महापण्डितानां काप्याकरभूमिरिति चानपलपनीयं.  
सत्त्वमप्यस्य मन्ये केरलीयतया सुतरां प्रसीदति ।

अस्य च रुद्रस्य जीवितसमयनिर्धारणाय पूर्वोक्त ख- संज्ञितादर्शगतेना-  
नेन —

'भद्राशीर्निघृताद्यहि मकरेऽर्के बुधोदये' ।

इति परिसमाप्तिपथपूर्वार्धेन विवृत इव विविक्तः कोऽपि पन्थाः । येन गच्छता-  
मस्माकमिदमिदं द्रष्टव्यं भवति । तथाहि — 'भद्राशीर्निघृताद्ये'त्यंशेन निर्दि-  
श्यमानया कलिदिनसङ्ख्यया यावता मकरमासो बुधवारश्च सम्मिलितस्त्वा-  
वत्या भवितव्यम् । परन्तु इयं सा (१६९०५२४) निर्दिश्यमाना कलिदिने-  
सङ्ख्या ७०२ तमकोलम्बवर्षे कर्कटकमासं सोमवारं चैव सङ्घटयितुं कल्पते,

न तु मकरार्कबुधादयौ । तयोः सङ्घटनमनुसृत्य चेत् कामपि निर्दिश्यमानामन्या  
\*गणनामुद्दिशेम, तदा १७० तमे कोलम्बवर्षे पञ्चाना मासामतीतौ चतुर्विंशे  
दिवसे इति शक्यमुपपादयितुम् ।

‘मद्राशीर्निघृताद्यही’ति पद्यस्य चायमर्थः—मद्रया आशिषा निघृते  
सम्भृते आद्यहि अहर्मुखे मकरेऽर्के मकरमासि बुधोदये बुधवारे होराविवरणं  
नाम इदं व्याख्यानं रुद्रेण निर्विघ्नं परिसमापितम् इति ।

अत्र च ‘मद्राशीर्निघृताद्ये’ति मङ्गलपरिसमासिद्योतकशब्दघटनाचातुर्य-  
मन्यथयित्वा यथाकथञ्चिद् ‘मूषृते निघृताद्यही’त्यादिपाठभेदकल्पनेन मकरार्क-  
बुधोदयसङ्घटनानुगुणकलिदिनसङ्ख्यासम्पादनश्रमस्तु न शोदक्षमः ।

इयता विवरणकर्तायं रुद्रः १७० तम कोलम्बवर्षसमाने ए. डि.  
९०५ तमे वर्षे व्याख्यानमिदं सुसमापयन् लब्धजीवितोऽमूदिति वक्तव्यं  
भवति । किन्तु मार्गोऽयमिदमप्रथमः ।

८२५ तमे कोलम्बवर्षे (१६५० ए. डि.) कृतत्वेनाभ्युपगते प्रश्नमार्गे  
दृश्यमानेन

‘न्याय सर्वगृहेष्वयं विवरणे प्रोक्तोऽथ सोऽप्युच्यते ।’

इति श्लोकपादेन स्मर्यमाणमिदं विवरणं ततः प्राचीनं सत् स्वकर्तुं रुद्रस्य  
मार्गी चतुःशताब्द्याः प्राचीनत्वमभिव्यङ्क्तुमलम् ।

मद्राशीरिति यथास्वितरीत्या वा मकरार्कबुधोदययोः सम्मेलनानुगुण-  
मन्यथाकृतया वा यथाकथाचन विधया कलिदिनसङ्ख्यानिर्देशमभ्युपयता-  
मपीदमस्य चतुःशताब्द्याः प्राचीनत्वमपरिहरणीयमेव ।

आर्यमटीयसूत्रभाष्यकारेण नीलकण्ठसोमयाजिवरेण पुनराचार्येण  
दृग्गणितकृतः परमेश्वरपण्डितस्य गोलविद्यासम्पत्तिप्रमवानाचार्यान्—



‘परमेश्वरस्तु रुद्रपरमेश्वरात्मजनारायणमाधवादिभ्यो गोलविद्भ्यो गणित-  
गोलयुक्तीरपि वाल्य एव सम्यग् गृहीत्वा दृग्गणितं करणं चकार ।’

इति-सरता गृह्यमाणो रुद्रो यद्यसद्विवरणकारः स्यान्नाम तदा ए. डि.  
पञ्चदशशताब्द्याः प्रारम्भजीविनः परमेश्वरपण्डितात् प्राचीनोऽयम् ए. डि.  
चतुर्दशशताब्द्याः उत्तरार्धजीवीत्यपि शक्यते सम्भावयितुम् ।

अत्र कश्चिदयमभ्यूहः— यद् ‘अहि’पदस्वारस्यात् कलिदिनसङ्ख्या-  
वश्यम्भावेन, सादृश्यभूयस्त्वमूलकलेखकप्रमादापत्तिरे ‘शे’‘गे’न विनिमीयमाने  
‘भद्रागीरि’ति पाठाभ्युपगतौ सम्पद्यमानयानया १६९०३२४ कलिदिन-  
सङ्ख्यया ४६२७ तमकलिसंवत्सरसमाने ७०२ तमकोलम्बवर्षे (१५२७ तमे  
क्रैस्ताब्दे) कलिदिशा मेपतः अष्टानां मासामष्टाविंशतेर्दिवसानां त्रयोदशानां  
नाडिकानां चातिक्रमो लभ्यते । तदानीन्तनगणितप्रक्रियया यदि सूर्यसङ्क्रमो-  
ऽपि घटेत तदा मकरार्कः प्रथमादिनं बुधोदयश्चापि यथावत् प्रकल्पेरन् । अतो  
व्याख्यानस्यास्य चतुर्दशशताब्द्याः प्राचीनत्वं वक्तव्यमिति ।

जाग्रत्यपि श्रीगोविन्दसोमयाज्ञिवर्यविरचिता दशाध्यायीसंज्ञिता  
व्याख्या स्वतोऽसमग्रा नास्य विवरणस्य गतार्थताशङ्काया अप्यलम् । किन्तु  
प्रथमयोरध्याययोस्तत्र तत्रोपलभ्यमाना समानवाक्यसराणिरनयोरन्यतरप्रभवता  
विशदयतीव च । यथा—

क्रियतावुरिजितुमकुलीरलेयपार्थोनजूकक्रोर्प्यारुशः ।

तौक्षिक आकोकेरो हृद्रोगश्चेर्थसिः क्रमशः ॥

विवरणव्याख्या — मेपादयः क्रमेण क्रियादिसंज्ञा भवन्ति । अत्रा-  
ष्टानां क्रियादीनां समासः । तौक्षिकादयो व्यस्ताः प्रोक्ताः । तेनायमर्थः सू-  
चितः— आत्माद्यष्टभावानां धर्मादिचतुर्मावसापेक्षत्वम् आत्मनो धर्मसापे-  
क्षत्वं, धनस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं, पराक्रमस्यार्थागमसापेक्षत्वं, सुखस्य धनव्यय-  
सापेक्षत्वं, सु(खः)तःसिद्धेर्धर्मसापेक्षत्वं, शत्रुक्षयस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं कलत्रमुस-  
स्यार्थागमसापेक्षत्वं, भरणयोगपरामवादावर्थनाशसापेक्षत्वम् इति ॥ (पृष्ठम्. १७):

दशाध्यायी — संज्ञाविधानमाह - क्रियेति । मेपादीनां क्रियादयः संज्ञा उक्ताः । अयाद्या(दीः)नां क्रियादीनां समासः । तौक्षिकादयो व्यस्ताः प्रोक्ताः । तेनायमर्थः सूचितः—आत्माद्यष्टमावानां धर्मादिचतुर्भावसापेक्षत्वम्, आत्मनो धर्मसापेक्षत्वं, धनस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं, पराक्रमस्यार्थागमसापेक्षत्वं, सुखस्य धनव्ययसापेक्षत्वं, सुखसिद्धेरर्थसापेक्षत्वं, शत्रुक्षयस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं, कलत्रसुखस्यार्थागमसापेक्षत्वं, मरणरोगपराभवादेरर्थनाशसापेक्षत्वम् इति ।

श्रीमद्भोटपलाचार्यनिबद्धा नाम्ना बृहज्जातकविधृतिर्व्याख्यापि प्रायो मूलार्थविवरणसङ्कुचितगतिविवरणस्यास्य प्रादुर्भावापेक्षा न मनागपि निरोद्धुमर्हति ।

तत्रतत्रानुगुणैस्तन्त्रान्तरीयप्रमाणवाक्योद्धरणैर्ज्योतिस्तन्त्रव्याख्यातुरप्यस्य श्रीरुद्रस्यान्येष्वपि तन्त्रेषु किमप्यसाधारणं नैपुणमभिव्यज्यते ।

यथा —

(१) व्याकरणम् —

‘प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ।  
पर्युदासः स विज्ञेये यत्रोत्ररपदेन नञ् ॥’

(ष्टष्ठम् २).

(२) मीमांसा —

‘विशेषणमात्रप्रयोगे विशेष्यप्रतिषेधः ॥’

(ष्टष्ठम्. १४१)

(३) आधुनैकः —

‘वस्तिद्वारे विपलायाः कुक्षीः प्रस्पन्दते यदि ।

अन्मकाले सतः शीघ्रं पाटयित्वोदरेच्छिनुम् ॥’

(ष्टष्ठम्. ७२)

(४) योगशास्त्रम् —

‘मूलाधारोद्गतो यदिर्द्वादशान्तमुपाश्रितः ।

वीथुपवर्षपूर्णात्मा कामदो न ह्य मोक्षदा ॥

॥ एवोर्ध्वगतस्नस्मादपवर्गाय सम्भवेत् ॥

(ष्टम्. ५).

किं बहुना --

पण्डितवरस्यास्य श्रीरुद्रस्य समग्रगुणसम्पन्नमिदं ज्योतिर्विदां बहुमतं होराविवरणमसदनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावल्यामेव प्रथमं प्रकाश्यत इति घन्या वयमपि । स्वसा चास्य काचिल्लब्धावतारा नाम्ना गोलदीपिका (ग्रन्थाङ्कः ४९) सगोत्रमनुजं प्रतीक्षमाणापि जाता कृतार्था । इतः परमप्येवमनेकेषां सगर्भ्याणामप्याविर्भावेन प्रमोदितुमिमे कृतभागधेये स्तामित्याशंसुरद्य विरमामि ।

अनन्तशयनम्. }  
१०-४-१०२. }

के. साम्प्रशिवशास्त्री.

॥ श्रीः ॥

श्रीचण्डमिहिराचार्यप्रणीतं

## होराशास्त्रं

श्रीरुद्रविरचितेन विवरणेन समेतम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

मूर्तित्वे पङ्क्तिपितः शशभृतो वर्त्मानुपुनर्जन्मना-

मात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजतां मर्तामरज्योतिषाम् ।

लोकानां प्रलयोदयस्थितित्रिभुश्वानेरुधा यः श्रुतौ

वाचं नः स दधानु नैककिरणस्त्रैलोक्यदीपो रविः ॥ १ ॥

(विवरणम्)

जयति भगवान् गजास्यो यत्कर्णव्यजनमारुता भञ्जताम् ।

यान्तो व्यमनानि हरन्त्यापान्तधार्पयन्त्यमीष्टानि ॥

सत्यज्ञानपरब्रह्मज्योत्स्नानन्दरूपिणीम् ।

नौमि सर्वोत्तमोदात्तप्रभमालां सरस्वतीम् ॥

सत्यज्ञानप्रदापेष्टदेवकालप्रबोधिने ।

नमः श्रीगुप्ते साक्षात्परमेश्वरमूर्तये ॥

येषामात्मनि गर्भसंस्कृतिमुखैर्मौञ्जीनिबन्धान्तमैः .

पूतैः कर्मभिरत्र भाति विधिवद् ब्रह्म प्रतिष्ठापितम् ।

श्रौतस्मार्तसमस्तकर्ममततानुष्ठाननिष्ठात्मन-

स्तानेतान् प्रणमामि भूमिविबुधानिष्टार्थकल्पद्रुमान् ॥

श्रीसूर्यादीन् सुसंवेद्यनिग्रहानुग्रहान् ग्रहान् ।

जगत्सृष्टिस्थितिलयज्ञानहेतूजुपास्महे ॥

श्रीमद्बराहमिहिरहोरातात्पर्यसागरे ।

सैदर्थरत्नसंसिद्धयै टीकानौका विचार्यते ॥

तत्र लोकानुग्रहार्थमतीतानागतवर्तमानकालविषयफलविशेषज्ञानो-  
पायैर्भूतं होराशास्त्रं चिकीर्षुः श्रीबराहमिहिराचार्यैः प्रथमम्

“आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्”

इत्युक्तं शिष्टाचारमनुसरेण प्रारम्भितस्याविज्ञपरिसमाप्तये समुचितेष्ट-  
देवतामाशीर्मुखेन परामृशति —

मूर्तिर्त्वे इति । अत्र सप्तविंशतिः पदानि । सः रविः नः वाचं  
दधातु इति क्रियाकारकसम्बन्धः । सः यच्छब्दयुक्तवाक्यसप्तकोक्तगुण-  
विशिष्टः । रविः ‘रु शब्द’ इत्यस्माद्धातोर्निष्पत्त्या शब्दब्रह्मस्वरूप-  
स्वयीमयो भगवानादित्यो रविशब्देनोच्यते । ‘एतद्यन्मण्डलं खे तपति  
दिनकृतस्ता ऋचोऽर्चोऽपि यानि द्योतन्ते तानि सामानी’त्यादिभिः  
सूर्यस्य त्रयीमयत्वम् यत एव शब्दब्रह्मस्वरूपत्वं च प्रदर्शयता रवि-  
शब्देन निर्देशाद् भगवतः श्रीसूर्यदेवस्याभिन्नादेशप्रधाने जातकशास्त्रे

१. ‘ते क’ घ. २. ‘स्व’ घ. ३. ‘समानरत्न’ ग. ४. ‘यजानम्  
घ. ५. ‘व’ घ. ६. ‘आरिप्प’ घ. ७. ‘स इति य’ घ, म इति  
यश्चन्द्रयाक्ययुक्तमण्डलं छ. ८. ‘वाट म आदि’ घ. ९. ‘यि ता’ घ. १०.  
‘कर्मनाये’ घ

समुचितेष्टदेवतात्वं ध्वेन्यते । नः अस्मभ्यं वाचं प्रार्थयत्वेन विशिष्टां  
वाचमित्यर्थः, वाङ्मात्रस्याप्रार्थनीयत्वात् । वाचो वैशिष्ट्यं च यथा-  
कालप्रतिमानमप्रतिहतत्वं सत्यत्वं श्रोतृमनोहरत्वम् इत्यादिभिर्गुणैः  
संयुक्तः । तादृशीं वाचं दधातु । 'हु धौञ् घागणपोषणयो'रित्यस्माद्  
आशिषि लोट् । दधातुं पोषयस्वित्यर्थः । नैकाकिरण इति प्रसज्यप्रतिषेधे  
नञ् । तथाच भर्तृहविः—

“प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह र्यत्र नञ् ।  
पयुदासः स विज्ञेया यत्रोत्तमपदेन नञ् ॥”

इति । एककिरणो न इति योजना । एकप्रकारत्वमेकत्वं । अत्रैक-  
शब्देन शैत्यदियुक्तकिरणविशेषणनैकप्रकारत्वमाश्लिष्यते । तस्माद्  
एकत्वमेकप्रकारत्वमत्र नञा निषिध्यते । तथाच मति नैकाकिरणः शीत-  
किरणः उष्णकिरणः शीतोष्णकिरणश्चेत्युक्तं भवति । यानि यानि  
प्रकाशकत्वयुक्तानि वस्तूनि रत्नादीनि, तेषां प्रकाशकत्वं शक्तिर्का-  
देव जायत इत्यर्थः । अत एव त्रैलोक्यदीपः त्रैलोक्यस्य प्रकाशक-  
त्वाद् दीप्तभूत इत्यर्थः । 'प्रकाशकौ द्वौ प्रथमौ ग्रहाणामि'त्यादिवचनेषु  
चन्द्रस्यापि प्रकाशकत्वमुक्तम् । तैत् कथमित्यत्राह— यः शशभूतः  
मूर्तित्वे परिकल्पितः । य इति यच्छब्दः सप्तस्वप्नवान्तरवाक्येषु योज-

१. 'धेयते ।' ग. घ. च. २. 'वाच मत्यविषयो यथाकाल-  
प्रतिमानयुक्तमप्रतिहतां श्रोतृजनहृदयङ्गमा चेत्यर्थान् निष्यति । केचनवाचाग्र'  
घ. ट. च. , 'वाचं मत्यविषयो यथारालप्रतिमानयुक्तमप्रतिहतां श्रोतृजन-  
हृदयङ्गमा चेत्यर्थान् निष्यति । केचनवाचाग्रस्याप्रार्थनीयत्वाद् दधा' ग.  
३. 'स्वे स दधानु' ट., 'याद् दधानु' घ. ४. 'घाञ् दानघागणयोः' क. ग. च.  
'तु मस्यादय' क. ग. घ. ५. 'तु । नैक' ट. घ. ६. 'त्वन् । तस्मादनैकप्रकारकिरणः  
उष्णकिरणः शीतकिरणश्चेत्यर्थः । यानि' क. ग. घ. ७. 'त । यानि' ट. ८.  
'शय' घ., 'शिव' ट. ९. 'त्वमकां' च. १०. 'जा' घ. ११. 'कादा प्र ट'  
१२. 'तत्र कथमेवेत्य' घ., 'कथमित्य' च.

नीयः । शशभृतः चन्द्रस्य मूर्तित्वे मूर्तित्वशब्देनामूर्तत्वव्याघृष्टि-  
रुच्यते । अमूर्तानामदृश्यत्वं प्रसज्यते । अतस्तन्मा भूदिति चन्द्रस्य  
मूर्तित्वे दृश्यत्वकरणे परिकल्पितः सामर्थ्ययुक्तः । इदं व्यक्तमुक्तम्  
आचार्येण मंहितायां —

“सलिलमये शशिनि रवेर्दोधितयो मूर्छितास्तमो नैशम् ।  
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥”

इति । आर्यभटेनाप्युक्तं — “चन्द्रो जलमयोऽर्कोऽग्निः” इति । तस्माद्  
जलस्वरूपः स्वतः प्रकाशशून्यश्चन्द्रः सूर्याशुमंस्पर्शवशाद् दृश्यमूर्ति-  
र्भवतीत्यर्थः । तस्माच्चन्द्रस्य प्रकाशकत्वमपि रविकृतमेवेति सिद्धम् ।  
तथा यः अपुनर्जन्मनां वर्त्म च भवति । अपुनर्जन्मनां पुनरावृत्ति-  
शून्यानां वर्त्म मुक्तानां गमनभूमिरित्यर्थः । तथाचोक्तं —

“द्वावेव पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।  
परिव्राह् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥”

इति । यः आत्मविदामात्मा इति तृतीयं वाक्यम् । आत्मानं विदन्ती-  
त्यात्मविदः । कः आत्मेति चेद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणेभ्यो दृश्येभ्यो  
व्यतिरिक्तोऽन्तरतम आकाशवत् सर्वगतः सूक्ष्मो नित्यो निरवयवो  
निर्गुणो निरञ्जनो गमनागमनादिरहितोऽहङ्कारममकारच्छाद्वेप-  
प्रयत्नरहितः स्वयञ्ज्योतिःस्वभावोऽन्युष्णवत् सवितृप्रकाशव-  
ष्वाकाशादिभूतरहितो बुद्ध्यादिकरणरहितः प्राणादिवायुभेदरहितः  
सत्त्वादिगुणरहितोऽश्रुनायापिषामाशोकमोहजरामरणबुद्धिशरीरधमरहितो  
यः सर्वप्राणिहृदि स्थितः सर्वबुद्धेर्द्रष्टा स आत्मेत्यभिधीयते ।  
तद्विदां निवृत्तिमार्गनिष्ठानां वैदान्तिकानां सिद्धान्तरूपेण प्रतिपाद्यो य

१. 'तः मूर्तित्वे शशभृतः चन्द्र' ड. च. २. 'तस्या' ख, 'तित्व' घ.  
३. 'तथा चोक्तमां ग.', 'तथा चोक्तं' च. ४. 'ति । आत्मविदामात्मा च भवति ।  
आत्मानं' ग. ड. च.

आत्मा तत्स्वरूप इत्यर्थः । यः यजतां क्रतुश्च भवतीति सम्बन्धः ।  
यजतां यज्वनां कर्मपाण्डनिष्ठानां गृहस्थानां क्रतुश्च, क्रतुः हविस्संस्थ-  
सोमसंस्थादिभेदैर्बहुविधः, तत्स्वरूपः । यजमानानामभीष्टफलप्रदायि-  
क्रतुदेवतास्वरूप इत्यर्थः । तथा यः अमरज्योतिषां भर्ता । अमराणां  
ज्योतिषां च क्रतुषु हविर्भागभुजां क्रतुसम्पादनसाधनभूतधन-  
धान्यवर्धकैस्त्रद्वारेण भर्ता भरणशीलः । तथाचोक्तम् —

“अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते घृष्टिर्घृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥”

इति । यः लोकानां प्रलयोदयस्थितिविभूश्च भवतीत्यन्वयः । प्र-  
लयोदयस्थितिविभूः प्रलयस्य मंहारस्य उदयस्य सृष्टेः स्थितेः  
पालनस्य च विभूः प्रभुः । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमपि शक्तः प्रभुः  
इत्युच्यते । मांख्यैः सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन प्रतिपादितो य ईश्वरः  
तत्स्वरूप इत्यर्थः । यः श्रुतौ अनेकधा यो रविः श्रुतौ वन्दे अनेकधा  
अनेकप्रकारेण पठ्यत इत्यर्थः । इति सप्तावान्तरवाक्यानर्थत्र यद्वृत्तेन  
दर्शितानि । स तादृशः सर्वप्रकाशकानेककिरणोऽपवर्गप्रदः स्वर्गप्रदः  
सृष्टिस्थितिमंहारकर्ता प्रसिद्धो रविर्नो वाचं दधात्वित्येवंलक्षणेन प्रधान-  
वाक्येन सहाग्रादिश्लोकेऽष्टौ वाक्यानि । अत्राशीर्वादः, तन्मुखे-  
नेष्टदेवतानमस्कारश्च प्रदर्शितः । तथा वस्तुनिर्देशश्चात्रैवाक्यैः पदै-  
रक्षरैश्च यथासारं प्रदर्शितः । तद्यथा — वस्तुनिर्देश इति वस्तुनः प्रति-  
पिपादयिपितस्य प्रमेयशरीरस्य निर्देशः सूत्ररूपेण प्रकाशनमुच्यते ।

१. ‘विः क्रतुदेवतास्वरूप इत्यर्थः’ इ. २. ‘तां च भवति । भर्ता’  
ग. छ. ३. ‘रज्योतिषां क्रतुदविभूजां क्रतु’ छ., ‘रज्योतिषां च क्रतुषु’ च.  
४. ‘कसाद्द्वारेण’ इ. ५. ‘भुः प्रलयस्य संहार’ घ. ६. ‘सु. । क’ घ. इ. च.  
७. ‘या स्थितश्च भवति । यो’ ग. छ. च. ८. ‘नि यद्’ च. ९. ‘दः सृष्टि’ छ.  
१०. ‘हतां प्र’ च. ११. ‘व्यकरणेन छ’ च. १२. ‘नि । आशी’ छ. च  
१३. ‘दसु’ ग. छ. च १४. ‘य प’ घ. १५. ‘वः अथ सूत्र’ घ.



अत्र खलु होराशास्त्रे जातकफलप्रदर्शनविषये तन्मूलत्वेनाष्टौ सूर्य-  
सोमकुजबुधगुरुशुक्रशनिश्चरा लग्नाशित्रेति परिगृह्यन्ते । तत्र प्रधान-  
वाक्येनै साक्षाद्विशब्दयुक्तेन सूर्यः, शशमृच्छब्दयुक्तेन वाक्येन  
चन्द्रः सूत्रितः । चर्मापुनर्जन्मनामित्यनेन वाक्येनापवर्गविषयेणाप-  
वर्गस्यै सत्त्वैकसाध्यत्वात् तथा परिव्राजकस्य रणेऽभिमुखहतस्य च  
सूर्यमण्डलभेदकत्वसामान्योक्तिवलात् सत्त्वरूपो भौमः सूचितः ।  
अथवा भौमस्याग्नेयत्वाद्ग्रेष्व योगसाधनत्वेनापवर्गस्य मूलत्वादपवर्ग  
विषयेण वाक्येन भौमः सूच्यते । तथाचोक्तं योगप्रकरणे —

“मूलाधारोद्गतो वह्निर्द्वादशान्तमुपाश्रितः ।

पीयूषवर्षपूर्णात्मा कामदो नतुं मोक्षदः ॥”

म एवोर्ध्वगतस्तस्मादपवर्गाय मम्भेत् ।”

इति । एवमपवर्गस्य सत्त्ववह्निः साध्यत्वात् ममाधेश्व मूलाधारोद्गत-  
वह्निगहकृतमनोमारुतमूलत्वाच्च चर्मापुनर्जन्मनामिति वाक्येन सत्त्वा-  
त्मक आग्नेयो भौमोऽत्र सूत्रितः । आत्माविदामात्मेति वाक्येन बुध-  
नामधेयविच्छब्दयुक्तेनै बुधश्च सूत्रितः । क्रतुश्च यजतामिति वाक्येन  
‘क्रतूपयोग्यानि तपस्विनश्च’ इत्याद्युक्तरूपस्य चापादिद्वेकाणस्य

१. ‘न स’ च. २. ‘त्यष्टौ व’ च. ३. ‘न सूर्यः, दशमृतो मूर्तिस्त्वे  
परिकल्पित इत्यनेन चन्द्रः । वरमा’ च. ४. ‘स्य च स’ घ. ५. ‘वयुक्तपुरुषत्वा’  
ग. छ. च. ६. ‘व’ च. ७. ‘पोऽङ्गारकः । अथवा’ च. ८. ‘नत्वादप’ च.  
९. ‘च’ घ. १०. ‘न । जमे नीवारशुकप्रभमश्च रुधिरं सूत्रमूदमं परस्ताद् दीर्घो-  
त्तरीपमण्डयुति पुनरनलस्थूलतालामभेतत् । पश्चात् कालामिजालप्रवृत्तिपरि(ग)तं  
पूर्णमद्रैतमन्ते भारूपं + + + + अवभयतिमिरच्छेदिनोऽव्याद् भवाङ्गम् ॥’ इति ।  
ग. च. ११. ‘मूलाधारस्थितवह्निर्मूलत्वाच्च वरमा’ घ. १२. ‘व सत्त्वात्मकः  
तथा वद्व्यात्मकश्चाङ्गारकोऽत्र चर्मापुनर्जन्मनामित्यनेन सूचितः । तथा आत्म’ क.  
च. १३. ‘न बुधत्वधर्मवान् बुधश्च सूचितः’ द. च. १४. ‘त्यनेन वा’ क. च.  
१५. ‘दिवापादिद्वेकाणस्य रूपेण दु’ क. छ. घ.

‘सुग्राण्डमुक्ते’त्याद्युक्तरूपस्य मीनादिद्वेकाणस्य च स्वामी स्वयं  
 स्वाध्याययज्ञप्रवर्तकः सुगुरुश्च सूत्रितः । तथा भर्ता मरज्योतिषामिति  
 वाक्येन दाम्पत्यपुरुषवाचकमर्तृशब्दयुक्तेन कामात्मकः तथा भोग-  
 प्रधामश्च शुकः सूचितः । लोकानां प्रलयोदयस्थितिविभूरित्यनेन प्रलय-  
 शब्दयुक्तेन मृत्युकाकः जनैश्च सूचितः । श्रुतावनेकधा इति  
 वाक्येन राशिस्त्वमम्पादकानेकत्ववाचकानेकशब्दयुक्तेन लम्प्राशिक्ष  
 सूचितः । ते च प्रत्येकं बहुविधविशेषयुक्ताः आयुर्दायेऽष्टकवर्गे पृथ-  
 ग्विधेषु योगेषु च गृह्यन्ते इत्यष्टमिर्वाक्यैरत्र सूत्रिताः । तथा नवक्षे-  
 चणात्मकराशिचक्रगतानि सप्तविंशतिनक्षत्राणि सप्तविंशतिर्पदैरत्र  
 संख्यासाभ्येन सूत्रितानि । त्रैलोक्यदीप इति पदेन जन्मनः  
 पूर्वमपादानभूतस्यानूकशब्दवाच्यस्य पूर्वलोकस्य, जननादिमरणान्तस्य  
 चेहलोकस्य, मरणात् परस्य गतिशब्दवाच्यस्य परलोकस्य चेति  
 त्रयाणां लोकानां दीपत्वं तत्रत्यममस्तवृत्तान्तदर्शकत्वं भगवतो रघेः  
 प्रतिपादयता होराशास्त्रप्रतिपाद्यं वस्तु समस्तं सूत्रितम् । एतद् दृष्ट-  
 जातकविषयम् । नष्टजातकविषयं चात्र किञ्चिदक्षरसंख्यया सूचितम् ।  
 तद्यथा — मूर्तित्वे परिकल्पितः शुद्धभृतो वर्त्मानुर्जन्मनामात्मैत्येता-  
 वता इतिशब्दान्तेन श्लोकांशेन तत् प्रदर्श्यते । ‘शब्दन्त्यापसमन्वितेषु’  
 इत्युत्तरश्लोके वक्ष्यमाणपदेनास्य शास्त्रस्य शब्दन्त्यापव्यतिरेकेणापि  
 कश्चित् कश्चिदर्थावकाशत्वं प्रतिपादयिष्यमाणमत्राप्यनुसर्तव्यम् । मूर्तित्वे  
 परिकल्पित इत्यत्र अपरिकल्पित इति पदच्छेदोऽप्यत्रापेक्ष्यते । तेन

१. ‘उक्तमीनादिद्वेकाणरूपेण च सस्यम्भवान् धर्मक्रियाफलप्रदो गुरुः  
 सूत्रितः’ क. ख. घ. ङ. २. ‘विशुद्धेननेव’ छ. च. ३. ‘युक्तेन प्रलयकारक’  
 शनै’ घ ‘युक्तवाक्येन मृत्यु’ ङ. ‘युक्तेन वाक्येन मृत्यु’ च. ४. ‘राशित्वमूजानेकत्व’  
 छ. ५. ‘सूचितः । एवमत्राष्टमिर्वाक्यैरकोदितप्रान्तस्य जातकफलोत्तिनिमित्त-  
 भूताष्टकस्य प्रस्तावः कृतः । ते चाकांक्ष्यः प्रत्येकमायुर्दोषाष्टकवर्गयोगं निपु  
 यद्विधविशेषयुक्ता गृह्यन्ते इति धेतव्यं तेषामवयवयुग्मैर्वाच्यैर्निर्देशः कृत  
 इत्यवगतस्यम् । तथा नव’ ग. छ. च. ६. ‘पदैः सूत्रितानि’ घ. ७. ‘जन्मनां  
 पूर्व प्रधानभूत’ ङ. ८. ‘तत्र स च

मूर्तित्वे अपरिकल्पितः शशभृत आत्मा इति योजनीयम् । अस्या-  
यमर्थः — मूर्तित्व इत्यक्षरसंख्यया पञ्चपट्यधिकानि चतुश्शतानि  
भवन्ति । तत्र अपरिकल्पित इति परिकल्पितसंख्यया शून्यः, परिकल्पित-  
संख्यां ततः शोधयेदित्यर्थः । इयमत्र प्रक्रिया — पञ्चपट्यधिकचतु-  
श्शतानि विन्यस्य ततः परिकल्पितशोधने कर्तव्ये एकविंशत्यधिक-  
शतस्य शोधनं कर्तुं शक्यते । ततः परस्याङ्कद्वयस्य शोधनं यथान्यायं  
कर्तुं शोधनविषयाङ्कशून्यत्वान्न शक्यते । अतः परिकल्पितसंख्यायां  
चतुर्थपञ्चमाङ्कयोः शोधनं मूर्तित्वसंख्यायां चतुर्थपञ्चमाङ्कयोः शून्य-  
त्वात् पुनरपि तत्रैव मूर्तित्वसंख्यायां विलोमेन द्वितीयप्रथमयोरङ्कयोः  
कर्तव्यम् । तथाकृते पञ्चपट्यधिकचतुश्शतानि अष्टाविंशत्यधिकत्रि-  
शतानि भवन्ति । स च- राशिः शशभृतः शशेन पञ्चपञ्चाशता भृतः  
पूरितः आत्मा भवति । अस्य शास्त्रस्य श्लोकसंख्यारूपं शरीरं भवतीत्यर्थः ।  
मूर्तित्वे सल्लापशोधनेन शशक्षेपेण च गोजालमिति अक्षरसंख्यया त्र्यशी-  
त्यधिकानि त्रीणि शतानि अस्य शास्त्रस्य आत्मभूतश्लोकप्रमाणभूतानि  
भवन्ति । आदेरारम्य 'अध्यायानां विंशतिः पञ्चयुक्ते'ति अध्याय-  
संख्याकथनश्लोकावधिकानि गोजालप्रमाणानि पद्यान्वयत्र शास्त्रे वक्ष्यन्त  
इत्युक्तं भवति । अत्र श्लोकसंख्यानयनप्रकारे तिस्रः संख्या निर्दिष्टाः ।  
अत्र प्रथमा मूर्तित्वमिति, द्वितीया परिकल्पितरहितं मूर्तित्व जरागौ-  
रिति, तृतीया परिकल्पितरहितं शशयुक्तमूर्तिरिति गोजालमिति । एतासु  
प्रथमा स्थानत्रयगतानां संख्यानां पञ्चपदचतुर्णां योगे पञ्चदश  
भवति । द्वितीयसंख्यास्थानत्रयस्थानाम् अष्टकद्विकत्रिकाणां, तथा

१. 'मस्याये' इ. २. 'कल्पित इति संख्यया परि' घ. ३. 'संख्या तत  
शोधनीयेत्यर्थः' इ. ४. 'कल्प्यते । ततः परि' इ. ५. 'संख्यया पि',  
६. 'प्रथमयोः कर्तव्यम्' इ. ७. 'जालमिति त्र्य' क. ८. ग. ९.  
'तत्र' घ. इ. १०. 'प्रथमसंख्यास्थान' घ., 'पञ्चपट्यधिकचतु' च. ११. 'चतुर्णां  
संख्यानां पञ्च' घ. १२. 'भवन्ति । तदुत्तरद्वितीयप्रतीकयोः संख्ययोरपि तथैव  
स्थानत्रयगतानां संख्यानामष्टकद्विकत्रिकाणां त्रिकादिकत्रिकाणां च' इत्यनेन महतिशक्ति-  
र्भवति । यतोऽत्र' घ.

तृतीयसंख्या(स्थानत्रय)गतानां त्रिकाष्टकत्रिकाणां च योगः सप्तविंशति-  
भवति । पञ्चदशघटिकागण नवांशः सप्तविंशतिनक्षत्रात्मको भवतीत्यर्थो  
लभ्यते । यतोऽत्र पञ्चदशभिः प्रथमसंख्यागतैः द्वितीयतृतीयसंख्यागता  
सप्तविंशतिर्जाता, तस्मात् पञ्चदशघटिकागणनेन नवांशकेन सप्तविंशति-  
प्रमाणानि नक्षत्राणि लभ्यन्ते इति, पञ्चदश प्रमाणराशिः, सप्तविंशतिः  
फलराशिः, नवांशगतनाडिका इच्छाराशिः, एभिस्त्रैराशिकेन —

“प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोस्तत्फलमभ्यजातिः ।  
मध्ये तदिच्छाहतमाहिहन् स्यादिच्छाफलम्”

इत्थुक्तलक्षणेन तात्कालिकलग्नगतनवांशकनाडिकाभ्यः प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रं  
लभ्यते । अत्र क्रियानाघवाय त्रिभिरपवर्तने कृतं नवकं गुणकारः  
पञ्चकं भागद्वयकश्च स्यात् । तथा लग्नचन्द्रयोस्तुल्यत्वाद्यन्द्भुक्तनवांश  
नाडीभिर्पि प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रं लभ्यते । उभयत्रानीतयोर्जन्मनक्षत्रयोः  
संवादाभावे लग्नचन्द्रयोर्बलाधिकेनानीतं जन्मस्थं भवति । तथाचोक्तं —

“नवांशके जीतगुभुक्तनाडिकां  
निहत्य रन्ध्रेण विमज्ज्य पञ्चभिः ।  
फलान्युद्ध्येव तथैव लग्नमात्  
प्रवर्तनं भविष्यति नष्टजातके ॥”

इति । अन्योऽपि नष्टजानप्रकारोऽत्र दिव्याग्नेः सूचितः । उक्तोऽयं  
नष्टजातकप्रकारो लग्नविषयः । अथारूढविषयः प्रदर्श्यते — भूतित्वे,  
परिकल्पितः शशभृत इति द्वादशभिरक्षैः स्वस्वमंख्यागशाद् योजितैः  
पद्मत्वारिंशत्संख्यो राशिर्भवति । स च शशभृतः भूतित्वे परिकल्पितः

२. ‘ततो लग्नगतनवांशकनाडिका इच्छाराशिः सप्तविंशतिगुणकारः पञ्चदश  
भागद्वयः एभिस्त्रैराशिकैः प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रं लभ्यते । अत्र क्रियाघवाय गुणकार-  
भागद्वययोस्त्रिभिरपवर्तने कृते नवकं गुणकारः पञ्चकं भागद्वयकश्च भवति । लग्नचन्द्रयो-  
स्तुल्यफलत्वाद्यन्द्भुक्तनवांशकनाडिकाभिरपि प्रष्टुर्जन्मनक्षत्रावयने कथंभ्यम्  
तथाचोक्तम्’ ॥ ६. ७. ८.

कर्कटकाशेरारूढस्ते परिकल्पितः । परिकल्पित इत्युक्तिवञ्चन तदा-  
नयनप्रकारोऽत्रान्तव्यः । एकोनपञ्चाशद्वाशिग्र कूटस्थत्वेन परिगृह्यते ।  
तस्मादारूढचक्रशोधनं कर्तव्यम् । तत्प्रकारश्च,

“प्रियो मौनी नटो गानी दानी यानी तनुः पटुः ।

भौनुः खनिर्धनुः स्रुनुः क्रमात् त्याज्यास्त्वजादितः ॥”

इत्यनेनोक्तः । मेपादिराशिषु क्रमादारूढेषु सत्सु कूटस्थराशेः प्रिया-  
दयः शोध्यन्ते इति न्यायेन कर्कटराशावारूढे सति कूटस्थाद् गानी  
शोधनेन यथोक्तः पटुचत्वारिंशत्संख्यो राशिर्भवति । स चात्र प्रदर्शि-  
तेन श्लोकसंख्याप्रमाणेन गोजालेन स्थानत्रयसंख्यायोगवशात्  
संक्षिप्तेन चतुर्दशकेन हत्वा चतुष्पञ्चाशता विभज्य शिष्टेन प्रभुर्जन्म-  
मक्षत्रं लभ्यते । हारकः कुत्र प्रदर्शित इति चेत्, अत्र मूर्त्तित्वे परि-  
कल्पितः शशभृतो घर्मेति चतुर्दशभिर्धरैः पञ्चपञ्चाशत्संख्यो राशि-  
र्भवति । स च अपुनः एकोनः चतुष्पञ्चाशत्संख्यो भवति । सोऽत्र  
हारकत्वेन सूत्रितः । अत्रापि यथोक्तयोगुणहारयोः द्वाभ्यामपवर्त्तनेन  
मप्तकं गुणकारः, मप्तविंशतिर्भागहारश्च स्यात् । “सप्ताहतं त्रिधन-  
भाजितशेषमृक्षम्” इत्युक्तं भवति । कूटस्थराशेः सप्तकमपनीय आरूढ-  
चक्रशोधनं कृत्वा शेषेण यथोक्तकर्मण्यनुष्ठिते गुरुनक्षत्रं लभ्यते ।  
मप्तकद्वयापनयनेन, तद्वत् सूर्यनक्षत्रं लभ्यते । सप्तकत्रयापनयनेन  
यथोक्तकर्मण्यनुष्ठिते लग्नराशिर्लभ्यते । एवमारूढविषयः नष्टजातकः  
चतुस्साधनानयनप्रकारोऽत्र शृङ्गग्राहिकया सूत्रित इति द्रष्टव्यम् । एवं  
वस्तुनिर्देशोऽपि सम्यक् प्रतिपादितः ॥ १ ॥

\* अथ स्वध्यापारस्य लोकानुग्रहविषयत्वं प्रदर्शयन् चिकीर्षितं प्रतिजानीते —

भूयोभिः पटुबुद्धिभिः पटुधियां होराफलज्ञस्ये

शब्दन्यायसमन्वितेषु बहुशः शास्त्रेषु दृष्टेष्वपि ।

१. ‘राशावारूढ’ क. ख. घ. २. ‘ह्यनशोधन’ छ ३. ‘मन खनी धनी स्रुनुः’,  
४. ‘क्रमेणारूढेषु’ च ५. ‘शोधनीया इ’ घ. छ. च ६. ‘अत्र यथोक्त’, ७. ‘गुणकारहार’  
घ. ८. ‘द्वयापवर्त्तनेन’, ९. ‘त्रयापवर्त्तनेन’ च.

होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नोद्यमानामहं

स्वल्पं वृत्तविचित्रमर्थबहुलं शास्त्रप्रबं प्रारभे ॥ २ ॥

इति । अहं भूयोभिः पटुबुद्धिभिः होराफलज्ञस्ये बहुशः शास्त्रेषु दृष्टेषु सत्स्वपि होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणे भग्नोद्यमानां पटुधियां शास्त्रप्रबं प्रारभे इत्यन्वयः । भूयोभिः बहुभिः पटुबुद्धिभिः पटुत्वं गुणमभ्युत्थता, तद्युक्तबुद्धिभिः । बुद्धेर्गुणाश्च —

“शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥”

इति प्रसिद्धाः । अनेन पटुबुद्धिभिरिति होराचार्याणां निर्देशेन होरातन्त्र-निर्वहणे ऊहापोहपटुत्वं विशेषेणापेक्ष्यते । तथाचोक्तं —

“स्वस्थचिथो विविक्तस्थः पञ्चसिद्धान्तकोविदः ।

ऊहापोहपटुः सिद्धमन्त्रो जानाति जातकम् ॥”

इति । होराफलज्ञस्ये जातकफलावबोधनार्थम् । दृष्टेषु श्रुतिमूलत्वात् पराशरादिभिः साक्षात्कृतेषु । होरातन्त्रस्य पूर्वजन्मैहिकपारत्रिष्वपिषय-बहुविधाविशेषावबोधकत्वाद् अदृष्टपारत्वेन महार्णवत्वरूपणम् । अत-स्तरप्रतरणसाधनत्वाच्चिकीर्षितशास्त्रस्य पुबत्वरूपणं घटते । पूर्वशास्त्राणां शब्दन्यायममन्वयकथनेन चिकीर्षितशास्त्रे शब्दन्यायव्यतिरेकेणापि क्वचित् क्वचिद् अर्थविशेषपञ्चनं ध्वन्यते । स्वल्पमिति सारमङ्गह-रूपत्वात् सुखाध्येयमिति भावः । अर्थबहुलं, स्वशास्त्रस्य जातकविषय-त्वेऽपि प्रश्नशास्त्राद्यर्थानामपि प्रतिपादकत्वं द्योत्यते । पूर्वेषां होरा-शास्त्राणामभिधायकामिधेययोः शब्दार्थयोः बाहुल्याद् दुर्ग्रहत्वेन पटु-धियामपि भग्नोद्यमत्वमुक्तम् । अत्र शास्त्रे सारमात्रोपदेशेन शब्द-लाघवात् सुग्रहत्वेन होरातन्त्रमहार्णवप्रतरणं सुकरं भग्नोदित्यभिप्रायः ॥२॥

१. ‘दृष्टेष्वपि होरा’, २. ‘बुद्धिगुणाः —’ च. ३. ‘श्रवणं ज्ञानं ग्रहणं’ घ.  
४. ‘यथोक्तं —’ घ. छ. च. ५. ‘ग्रहणरूप’ ६. ‘महार्णवप्रतरणं सुकरं’,

अथ शिष्यप्ररोचनाय होराशास्त्रनिर्वचनपूर्वकं होराशास्त्राभिधेयं प्रतिपादयति —

होरेत्यहोरात्रविकल्पमेके

वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात् ।

कर्माजिनं पूर्वभवे सदादि

यत् तस्य पक्तिं समभिव्यनक्ति ॥ ३ ॥

इति । एकं पूर्वापरवर्णलोपादहोरात्रविकल्पं होरेति वाञ्छन्ति इत्येवमर्थः । एकं मुख्यार्थः 'मुख्यान्येवेष्वेव' इति मिहः । पूर्वापरवर्णलोपात् पूर्वापरवर्णलोपं विधेयम् । पूर्ववर्णस्य अकारस्य अपरवर्णस्य लकारस्य च लोपं विधेयेत्यर्थः । ल्यब्लोरं पञ्चमी । अहोरात्रविकल्पं, विशिष्टः कल्पः विकल्पः । वैशिष्ट्यं जननेन वा प्रश्रंनं वा । अहोरात्रे यो विद्वत्तः गम् अकारत्वे हारयोर्लोपं कृत्वा होरा इति वाञ्छन्ति । जननोपलक्षितं वा प्रश्रोपलक्षितं वा नात्कालिकमहोरात्राभ्यां होराशब्देन निर्दिशन्तीत्यर्थः । स च विशिष्टाऽहोरात्रवयवः तात्कालिकप्रसङ्गानां लक्षणस्य च निर्णयसाधनत्वेनास्मिञ्छब्देऽवधारणीयः । तथा चेन्नतं श्रोतृना — 'द्वयोऽत्र प्रथमं हि जन्मममयः' इति । नदवधाग्नप्रयोजनमाह — (कर्मेति ।) अत्र मा होरेत्यध्यास्तव्यः । सा हंरा पूर्वभवे आर्जित सदादि कर्म यत् तस्य पक्तिं समभिव्यनक्ति इति सम्बन्धः । पूर्वजन्मनि आर्जितं सदादि । आदिशब्देन असह्य सदाद्य गृह्यते । दृढकर्मोपाजितं सत्, अदृढकर्मोपाजितं सत्, दृढादृढकर्मोपाजितं सदादृ इति त्रिविधं यत् कर्म तस्य पक्तिं परिपाकं समभिव्यनक्ति सम्यग् अभिव्यनक्ति । तथा च साराचल्यां —

"यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम् ।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमपि द्रव्याणि दीप इव ॥"

इति ।

“दशाप्रभेदेन विचिन्तयेद् दृढं दृढतरं चाष्टकवर्गगोचरैः ।  
दृढादृढं योगवशेन चिन्तयेदिति त्रिधा जातकसूक्ष्मसङ्ग्रहः ॥”

इति फलचिन्तनस्य त्रैविध्यं चाचार्यैः प्रदर्शितम् । अत्र—

‘आधानजन्मापरिवोधकाले संपृच्छतां जन्म वदेद्विलम्बाद्’

इति वक्ष्यमाणनष्टजातकादिप्रश्नविशेषेषु प्रथमावधारणीयस्योदयलग्नस्य साधनभूतं दिनगतं निर्णेतुं कालारूढयोरवश्यमाश्रितः सम्बन्धस्य प्रतिपादक सूक्ष्मराशिप्रमाणमपि दर्शितं होरेत्यहोरात्रविकल्पमित्यनेन । कथमिति चेत्, ‘लुप्त छेदन’ इत्यस्माद्वातोर्निष्पन्नस्य लोपशब्दस्य छेदार्थवाचकत्वेन छिन्नस्य च भागद्वयात्मकत्वेन, पूर्वापरवर्णविभागादित्यर्थात् सिध्यति । तैतः होरेत्यत्र हकारः पूर्ववर्णः । रेफस्त्वपरवर्णः तदधःस्थितो वर्ण इति अक्षरसंख्यया रत्नदानमिति प्राणद्वयाधिकाष्टविनाड्यात्मकं सूक्ष्मराशिप्रमाणमत्रोपदिष्टं भवति । पष्टिघटिकात्मकस्याहोरात्रस्य द्वादशधा विभागे पञ्च पञ्च नाडिका मेपादि-राशयो भवन्ति । तत्रैकस्य राशेः पञ्चघटिकात्मकस्य पट्त्रिंशो भागो त्रेकाणद्वादशांशस्वरूपः सूक्ष्मराशिप्रमाणं रत्नदानम् । तस्यापि त्रिधा विभागे सति त्र्यंशद्वयघुक्तपोडशप्रमाणात्मकः सूक्ष्मत्रेकाण इम-

१. ‘जातकविशेषेषु’, २. ‘तथा होरे’ च. ३. ‘होरेत्यत्र पूर्ववर्णस्य हकार-स्थापनादपरवर्णो रेफः स्थाप्यः । एवं विभक्तेऽक्षरं’, ४. ‘द्वयाष्ट’ घ. ५. भवति । कर्मपाठाभिस्यजनकालस्य सरकालमिन्दुमहिममित्यादिभिर्वक्ष्यमाणस्य परमसाधनं गुलिकस्फुटानयनमप्यत्र सूचितमेव । तद्यथा—‘संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि इत्यमरसिंहवशात् कल्पशब्देन प्रलयवाचकत्वाद् सृष्ट्युत्पत्तिको मान्दिरभिधीयते । स च गुलिकः अह्नि रात्रौ च गृहगुदेति । तद्रुदयकालः अहोरात्रविकल्पः, त्रिंशद्याडीप्रमाणस्य अहो रात्रेश्च विकल्पः । अति चतुष्कस्य क्षयं पट्त्रिंशति-नाडिका प्रमाणं वाञ्छन्ति । कश्चिद्वहति चेत् एके मुख्ये सूर्यवारे इति ध्यात् । सूर्यवारस्य वारेषु प्रथमतः प्रसिद्धम् । तत्तत्सूर्यवारे त्रिंशद्याड्यात्मके विकल्पेन चत-सृणां नाडीनां क्षयेण पट्त्रिंशत्याडिकायां गुलिकोदयः । तत्रानन्दयोर विरुद्धेन द्वाविंशत्याडिकायां गुलिकोदय इत्यादि सिद्ध्यति । अहो रात्रेश्च त्रिंशद्याड्यात्म-कत्वम् । इतिशब्दाद् अक्षरसंख्यया पष्टिवाचकाद् अनन्तरम् अहोरात्राणि पष्टि-घटिकात्मकस्य — छ



स्तुत्यप्रमाणः स्यात् । शङ्कुच्छायाद्यवगते सावयवे प्रश्नकालदिनगते रत्नदानगणनेन यः सूक्ष्मराशिर्वर्तते तस्यारूढराशेश्च केन्द्रत्वे सति दिनगतं शुद्धं भवति । आरूढे चरगशौ सति वर्तमानरत्नदाने यन्नरत्नमिति, स्थिरराशौ यन्नभानुरिति, उभयराशौ यन्नसुनुरिति प्रमाणवशाद् दिनगतनिर्णय इति साम्प्रदायिकस्य दिनगतनिर्णयस्य साधनभूतं सूक्ष्मराशिप्रमाणमत्र होराशब्देन प्रदर्शितम् । दिनगते यावन्ति रत्नदानप्रमाणानि गतानि तां मख्यां त्रिभिः मह्यगुणस्य द्वादशभिर्विभज्य शिष्टे अर्काधिष्ठितत्रिकोणचार शिमारभ्य गणिते यो राशिर्भवति स एव पुनरिभस्तुत्यराशिः । ततः परं वर्तमानरत्नदाने उक्तप्रमाणतमारूढकेन्द्रत्रिकोणैकतममिभस्तुत्यं दिनगतावधित्वेन गृहीयात् । तददिनगतं सूक्ष्मं भवतीति सम्प्रदायविदोऽत्र दिनगतनिर्णयं कुर्वते । एवं निर्णीतेन दिनगतेन तात्कालिकोदयलग्नानयनं तथा तात्कालग्रहस्फुटानयनं च गणितशास्त्रोक्तन्यायेन कर्तव्यम् । तथा कर्मपाकाभिव्यञ्जनकालस्य गुलिकसम्बन्धवशादवधारयितव्यत्वं द्योतयितुमत्र गुलिकोऽपि सूत्रितः । तद्यथा — एके इत्यहोरात्रविकल्पं वाञ्छन्तीत्यत्र विशब्देन अक्षरसंख्यया चतुष्कमुच्यते । तस्य कल्पः क्षयः । एके इति एकशब्देन मुख्यवाचिना सूर्यवार उच्यते । इतिशब्द आदिबचनः । 'इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु' इत्यमरः । सूर्यवाराद्यहोरात्रगतश्चतुष्कक्षयः एके इत्यहोरात्रविकल्पः । अत्राक्षरसंख्यया पष्टिवाचकाद् इतिशब्दादनन्तरोक्ताहोरात्रशब्देन अहो रात्रेश्च त्रिंशन्नाडिकात्मकत्वं द्योतितम् । तयोः सूर्यवारादिचतुष्कक्षयः गुलिकत्रायसंवादी । तथारहि - सूर्यवारे त्रिकल्पः चतुष्कक्षयः पष्टविंशतिर्नाडिकाः । सोमवारे ततो विकल्पः द्वाविंशतिः । मीमवारे ततोऽपि क्षयः अष्टादश । बुधवारे चतुर्दश । गुरुवारे दश । भृगुवारे षट् । मन्दवारे द्वावित्यहोरात्र-

१. 'प्रमाणत्वात् प्रश्नकालदिनगते सावयवे शङ्कु' च. २. 'गुण' ख

३. 'निर्णीयात्' च. ४. 'सम्बन्धावधार' घ. ५. क्षयः । 'सर्वतः प्रलय' कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि इत्यमरः । एके, ६. 'इति यादवः' इ, ७. 'ततो त्रिकल्पः अष्टादश' च.

विकल्पशब्देन व्यञ्जितं भवति । तस्मादहोरात्रविकल्पो गुलिकः ।  
तथाचोक्तं —

“चन्द्रो रुद्रो जयो विधा नयः स्तेनः खनी रवेः ।  
त्रिंशद्भाष्याद्वि गुलिको दिनपञ्चमवन्निधि ॥”

इति । गुलिकस्वरूपं चोक्तमन्यत्र —

“अथ गुलिकः क्लृप्तमः शनैश्चरस्यात्मजः खलः पापः ।  
सर्पाकृतिरस्थुग्रो निगद्यते मृत्युरखिलसंहारी ॥

नीलाञ्जनसङ्काशो रक्ताक्षो विषमभीषणो दीर्घः ।  
पञ्चास्यः पृथुदंष्ट्रो भयङ्करः सर्वदा गुलिकः ॥”

इत्यादि । उक्तस्वरूपो गुलिकोऽपि सर्वकालोपादानकारणत्वेनात्र शास्त्रा-  
रम्भे प्रदर्शित इति वेदितव्यम् । अतान्योऽपि योजनप्रकारः — एकै  
अहोरात्रविकल्पं पूर्वापरवर्णलोपाद् होरेति वाञ्छन्ति इति योजना ।  
एकै केचित् सम्प्रदायविद इत्यर्थः । अहोरात्रविकल्पम् अहोरात्र-  
शब्देन द्वादश राशयः कथ्यन्ते । तेषां घटिकामण्डलसमानत्वात् ।  
अथवा अहोरात्रेत्यत्र इकाराक्षरसंख्ययाष्टकं, रेफेण द्विकं, लकारेण  
च द्विकम्, एतेषां मङ्कलिते द्वादश लभ्यन्ते इत्यहोरात्रेण द्वादश  
राशयः कथ्यन्ते । एतेषां विकल्पः चतुर्धा कल्पनम् एकैकस्य  
राशेश्चतुश्चतुर्भागकल्पनं होरेति वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात् पूर्वापर-  
वर्णलोपं निमित्तीकृत्य । पूर्वशब्देन लघुरहितः यथापूर्वस्थाया धातु-  
रुच्यते, अपरशब्देन भूमाववगाढं मूलमुच्यते । वर्णशब्देन घ्राहण-  
क्षत्रियादिजीवविशेषवाचिना जीवमामान्यमुच्यते । लोपशब्देन विनष्टं  
वस्तुच्यते । पूर्व च अपरं च वर्णश्च लोपश्चेति द्वन्द्वसमासः । ‘सर्वो  
द्वन्द्वो विभाषकवद्भवती’त्येकवद्भावः । धातुमूलजीवमृतानि वस्तूनि

१. ‘रात्रविकल्पेन द्वा’ घ. २. ‘तेषां षोडशघटिका’ ग. ३. ‘न्ये लक्ष्यते ।  
लोप’, ४. ‘जीवमूलमृतानि वस्तूनि’, ग. घ.

निमिचीकृत्येत्यर्थः । मेपादिराशिषु चतुर्धा विभक्तेषु प्रथमो भागो धातुः द्वितीयो मूलं तृतीयो जीवः चतुर्थो मृत इति कल्पनं हेरेति वाञ्छन्तीत्युक्तं भवति । चतुर्भागस्य होरात्वकथनेन तत्र चतुर्भागे लग्नवद् अंशकल्पनं कर्तव्यमिति द्योत्यते । तद्यथा— एका राशिः नवर्क्षचरणात्मकः । तस्य चतुर्भागेः पादत्रययुक्तास्त्रयस्त्रिंशद्वष्टिका भवन्ति । तत्र नवांशकः पादोनचतुर्नाडिकात्मको भवति । पञ्चांशश्च पृथिव्यप्तेजोवाग्वाकाशात्मकः पादोनसप्तनाडिकात्मको भवति । पञ्चांशस्य नवमभागः पादोनघटिकात्मको भवति । द्वादशांशकः (सपादैकोन)-पञ्चांशद्विनाडिकायुक्तघटीद्वयात्मकश्च भवेत् । इत्यादिभिर्भास्वादीनां विशेषा वक्तव्या इति वियोन्यादिष्वस्योपयोगाद् दशा द्योत्यते । तस्माद्दहो रात्रेश्च वृद्धिहासयोस्त्रैराशिकेन गुलिकानयनं कर्तव्यमित्यपि द्योत्यते । कालनिर्देशमात्रादेव ग्रहस्फुटानामुदयलग्नस्य चानयनं गणितशास्त्रज्ञानात् सेत्स्यति । गुलिकानयनमत्र व्यक्तमुक्तं च । अतो जातकादिनिरूपणस्योपादानसर्वस्वमत्राभिहितं भवति ॥ ३ ॥

अथ जननोपलक्षिते वा प्रक्षोपलक्षिते वा कालावयवे शुभाशुभनिर्देशस्य कर्तव्यत्वात् प्रथमं कालपुरुषस्य देहावयवभूतान् राश्यंशकानुपदिशति—

कालाङ्गानि वगाङ्गमाननमुगे हृत्कोडवामोभृतौ

वस्तिर्व्यञ्जनमूरुजानुयुगले जङ्घे ततोऽङ्घ्रिद्वयम् ।

मेपाश्विप्रथमा नवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयो

राशिक्षेत्रगृहर्क्षभानि भवनं चैकार्थसम्प्रत्यये ॥ ४ ॥

इति । नवर्क्षचरणाः मेपाश्विप्रथमाः चक्रस्थिताः राशयः वराङ्गादीनि कालाङ्गानि भवन्तीति सम्बन्धः । सप्तविंशतिनक्षत्रेषु द्वादशधा विभक्तेषु एको भागः नवर्क्षचरणात्मको भवति । मेपाश्विप्रथमाः, नक्षत्राणां

कादाचित्कयोर्धनिष्ठादित्वकृत्तिकादित्वयोर्व्युदासाय अश्विप्रथमत्व-  
युक्तम् । चक्रस्थिताः चक्र द्विविधं स्थिरचक्रं चरचक्रं च, तत्र स्थिरचक्रं  
'प्राच्यादि गृहे क्रियादय' इत्यादिना वक्ष्यते । चरचक्रं तु

"मेपादेः कन्यान्तं मममुदगपमण्डलार्धमपयातम् ।

तौल्यादेर्मौनान्तं शेषार्धं दक्षिणेनैव ॥"

इत्युक्तस्वरूपमपक्रममण्डलम् । तत्र स्थिरचक्रस्थिता राशयः प्रश्ने-  
प्यारूढज्ञानार्थं गृह्यन्ते । चरचक्रस्थिता राशयः पुनर्जातके प्रश्ने च  
विलग्नानयनार्थं गृह्यन्ते । राशय इति । वनसेनादिवद् अवयवनिर्वर्त्या-  
र्थत्वेन राशिशब्दः स्वस्मादंशकानां प्राधान्यं व्यनक्ति । अंशकेष्वपि  
नवर्षचरणा इत्युक्त्या नवांशकानां प्राधान्यं ध्वन्यते । एते राशयः  
कालपुरुषस्य अङ्गानि । तत्र मेपो वराङ्गं षडाधारेभ्यः परस्ताद्भागः ।  
द्वपमः तस्य अधः स्थितम् आकण्ठादाननम् । उरस्तदधो यावद्वाह-  
न्तरालं मिथुनम् । तदधः स्तनान्तरम् उदरस्योपरि हृदयं कर्कटकः ।  
तस्याधस्तान्नाभेरुपरिभाग उदरं सिंहः । नाभेरधस्ताद् वस्तेरुपरि-  
भागो वासःस्थानं कन्या । लिङ्गनाभ्योर्मध्यदाहभ्यं लिङ्गमूलावधिप्र-  
देशो वस्तिशब्देनोच्यते, स तुलाराशिः । लिङ्गनाभ्योर्मध्यप्रदेशे द्विधा  
विभक्ते तदुपरिभागः कन्याराशिः, तदधोभागस्तुलाराशिरित्युक्तं  
भवति । लिङ्गमूलादारभ्य गुदावधिर्व्यञ्जनं वृश्चिकराशिः । अयं पुमान्  
इयं स्त्रीति व्यङ्ग्यतेऽनेनेति व्यञ्जनम् । गुदादिजानुपर्यन्तावूरु चाप-

१. 'लं तदध' म. २. 'ता' जातके' च. ३. 'श स्यात्', ४. 'सिंहः ।  
तस्य सिंहाराशिरुपस्थानस्य कोटस्याधो नाभेराहभ्यं नाभिलिङ्गान्तराहभ्योऽवधिकं वासो-  
मन्धनस्थानं वासोमृच्छब्देनोच्यते ।

ओजवीतं पुष्पीपण्डं नगभिजावृतिरोहितम् ।

अच्छिद्रं घटलं वायः पुष्पां पुच्छविवर्जिताम् (?) ॥

इति यचनाद् नाभेर्वासस्थानान्तर्भायः सिध्यति तद् वासोमृच्छस्थानं कन्याराशिः ।  
तदधोभागे वस्तिस्थानं लिङ्गमूलावधिकं तुलाराशिः । ततो लिङ्गादिगुदान्तं स्थानं  
व्यञ्जनशब्देनोच्यते तद् वृश्चिकराशिः । गुदादि' ग. च.

राशिः । जानुमण्डलद्वयं मकरराशिः । तदधो गुल्फावधि जह्वायुगलं  
कुम्भराशिः । तस्याधोभागः पादयुगलं म.नराशिः । इति देहे स्थिर-  
चक्रन्यासः प्रदर्शितः । 'शृङ्गालमनादिभिर्वा' इति वक्ष्यमाणनष्टजातक-  
प्रश्नादावस्योपयोगः । राश्यादयः पञ्च शब्दा भवनशब्दश्च एकार्थ-  
सम्प्रत्यये एकस्यार्थस्य सम्प्रत्यये अवबोधने वर्तन्ते ॥ ४ ॥

कालाह्नयेन प्रस्तुतानां राशीनां कलविशेषज्ञानोपायभूतं मुनिभिः प्रदर्शित-  
माकारादिकमाह —

मत्स्यौ घटी नृमिथुनं सगदं सवीणं

चापी नरोऽश्वजघनो मकरो मृगास्यः ।

तौली सप्तस्यदहना प्लवगा च कन्या

शेषाः स्वनामसदृशाः स्वचराश्च सर्वे ॥ ५ ॥

इति । आपिनाभावसिद्धेनाक्षेपेणात्रान्वयो निर्वहणीयः । मीनो-  
राशिः मत्स्यौ मुखपुच्छप्रतिबद्धमत्स्यद्वितयकारः । कुम्भराशिः  
घटी स्कन्धन्यस्तङ्गिर्घटः पुरुषः । मगदं सवीणं नृमिथुनं गदाहस्तः  
पुरुषः वीणाहस्ता नारी च (मिथुनराशिः) । नवमो राशिः चापी  
धनुर्धरः अश्वाक्रागधश्शरीरार्धः नरः । दशमो राशिः मृगाकारपूर्वार्धो  
मकराकारापरार्धश्च । सप्तमो राशिः तुलाधरः पुरुषः । षष्ठो राशिः  
प्लवगैता सप्तस्यदहना करधृतेन सस्येन दहनेन च सहिता कन्यका ।  
शेषाः स्वनामसदृशाः । तत्र प्रथमो मेपाकारः । द्वितीयो वृषभाकारः ।  
चतुर्थः कर्कटकाकारः । पञ्चमः सिंहाकारः । अष्टमो वृश्चिकाकारः ।  
सर्वे स्वचराश्च सर्वे मेपादयो द्वादश राक्षसः स्वस्वाकारसमुचितप्रदेश-  
चारिणः । तथा मेपः दिवा घनचरः रात्रौ ग्रामचरः । तद्वद् वृषभः  
क्षेत्रचरश्च इत्यादिप्रदेशा नष्टद्रव्यचोरादिस्थानज्ञानार्थमवधार्याः । तत्र

मेपराशेः पूर्वस्य मीनराशेः प्रथमग्रहणाद् व्ययराशिना पूर्वजन्मविदेक  
इति सूचितम् ॥ ५ ॥

उद्दिष्टानां राशीनां राशिसंज्ञैरोद्देश्यानां नवांशकानां द्वादशांशकानां चाधि-  
पतीनाह —

क्षितिजसितज्ञचन्द्ररविसौम्यसितावनिजाः

सुरगुरुसौरिमन्दगुरवश्च गृहांशकपाः ।

अजमृगतौलिचन्द्रभवनादि नवांशविधि-

र्भवनसमांशकाधिपतयः स्वगृहात् क्रमशः ॥ ६ ॥

इति । क्षितिजसितज्ञादयो गृहांशकपाः । भवन्तीति शेषः ।  
क्षितिजः मेपराशेर्मेपनवांशकस्य मेपद्वादशांशकस्य चाधिपतिः । सितः  
वृषमराशेर्वृषभनवांशकस्य वृषभद्वादशांशकस्य चाधिपतिः । इत्याद्यनु-  
सन्धेयम् । तत्राप्येव भवनपर्यन्तमैद्विषराशयः । अन्ये पारत्रिकराशयः ।  
ग्रहेष्वपि तथैव द्रष्टव्यम् । नवांशविधिः अजमृगतौलिचन्द्रभवनादि इति  
सम्बन्धः । मेपराशौ मेपादिचापान्तानां नवांशानां सम्भवाद् वृषभे  
मयरादिकन्यान्ताः, मिथुने तुलादिमिथुनान्ताः, कर्कटके वृष्यादिमीना-  
न्ताश्च नवांशका भवेयुः इत्यनुवादः । अतो मेपादिचतुष्के षट्त्रिंशन्नवां-  
शकाः राशेर्नवर्क्षचरणत्वाद्, एको नवांशक एकं नक्षत्रचरणम् । ततः  
मेपवृषमिथुनकर्कटकनेवांशात्मकम् अश्विनीनक्षत्रम् । सिंहाद्यंशचतुष्कं  
भरणी । चापाद्यंशचतुष्कं कृत्तिका इत्युक्तं भवति । एवं नव नक्ष-  
त्राणि षट्त्रिंशद्विंशतिः । तां नवांशं नैवैवन्ति । भवनसमांशकाधिपतयः,  
द्वादशांशकाधिपतयः स्वगृहात् क्रमशो भवन्ति, स्वं स्वं राशिमारम्य  
द्वादशांशका भवन्तीत्यर्थः । मेपे मेपादिमीनान्ताः वृषे वृषादिमेपान्ता  
इत्यादि । अत्र कालचक्रदशक्रमोऽपि सूच्यते । क्षितिजाद्यष्टपदानां  
समासः सुरगुर्वादिचतुर्णां समासः । तेन दक्षिणर्धेषु मेपादिमीनान्तं

क्रमेण गणनीयं वृश्चिकादिचापान्तं व्युत्क्रमेण गणनीयम् । तदर्थं क्षिति-  
जाद्यष्टपदच्छेदः कृतः । वामर्धेष्वपि चापादिवृश्चिकान्तं क्रमेण गणनीयं  
मीनादिमेपान्तं व्युत्क्रमेण गणनीयम् इत्युक्तं भवति । तदर्थः सुरगुरुसौरि-  
मन्दगुरवश्चेति चतुर्णां पृथक् समासः । अजमृगतौलिचन्द्रभवनादि  
नवांशविधिरिति दशापहारः कथितः । मेघत्रिकोणराशीनां मेपादिनवाशा  
धिपा दशापहर्तारः । वृषत्रिकोणानां मृगादिनवांशाधिपाः, मिथुन-  
त्रिकोणराशीनां तुलादिमिथुनान्तनवांशाधिपाः, कर्कषत्रिकोणराशीनां  
कक्ष्यादिनवाशाधिपा दशापहर्तारः । भवनसमांशकाधिपतय इति ।  
मेपादिमीनान्ते गणिते सति पुनरेव वृश्चिकादि व्युत्क्रमेण गणना  
कार्या इत्युक्तं भवति ॥ ६ ॥

त्रिंशदशकाभाह —

कुजरविजगुरुज्ञशुक्रभागाः

पवनसमीरणकोर्पिजूकलेयाः ।

अयुजि युजि तु ते विपर्ययस्थाः

शशिभवनालिङ्गपान्तमृक्षसन्धिः ॥ ७ ॥

इति । अयुजि पवनसमीरणकोर्पिजूकलेयाः कुजरविजगुरुज्ञशुक्र-  
भागाः भवन्ति । ओजराशौ पञ्चभागाः प्रथमे कुजस्य ततः पञ्च  
शनेः, ततोऽष्टौ गुरोः, ततः सप्त बुधस्य, ततः पञ्च शुक्रस्येत्यर्थः ।  
ते युजि विपर्ययस्थाः युग्मराशौ ते ग्रहांशाः उक्तविपर्ययेण प्रथमे-  
पञ्चांशाः शुक्रस्य, ततः सप्त बुधस्य, ततोऽष्टौ गुरोः, ततः पञ्च शनेः,  
ततः पञ्च कुजस्येति यावत् । अन्यदर्थान्तरं चिन्त्यम् । यस्य त्रिंशदश  
उदितः तद्वशाद् भवनादिष्ववकाशोऽवगन्तव्यः । कुजरविजयोः शुक्र-  
स्याप्यल्पोऽवकाशः गुरोरवकाशबाहुल्यं, बुधस्य मध्यमोऽवकाश इति  
भोजनशपनादीनां स्थानावकाशोऽनेन ज्ञेयः । तथाच कृष्णीये —

“ग्रहभागेष्ववकाशो भोजनविधिशयनमैथुनानि पुनः ।

ब्राह्म्यो वर्णोत्कर्षो विप्रादीनां पुरोक्तानाम् ॥”

इति । तत्र यस्मिन्नेह विरुद्धभूतैक्यं सम्भवति तत्र तथाविधो रोगो वाच्यः । शशिवचनालिङ्गपान्तमृक्षसन्धिर्भवति । कर्कटकवृश्चिकमीनानामन्यमृक्षयोः राशिनक्षत्रयोः सममवयितत्वाद् ऋक्षसन्धिर्भवति । अतोऽस्मिन् राशिचक्रे त्रयः खण्डाः । अत्रान्तशब्देन यस्याकस्यचिदवसाने वक्तव्ये कर्कटकवृश्चिकमनो निरूपणीया इत्युक्तं भवति । नक्षत्रराक्ष्योर्गुणपक्षेद(स्मा? यसा)नो गण्डान्तसंज्ञः । अन्तशब्देनाशुभत्वं सूचितम् ।

“जातो न जीवति नरो मातुरण्यं भवेत् स कुलहन्ता ।

यदि जीवति गण्डान्ते बहुगजतुरगो भवेद् भूपः” ॥ ७ ॥

- मेपादीनां पारिभाषिकाणि संज्ञान्तराण्यह —

क्रियतांबुरिजितुमकुलीरलेयपार्थोनजूककोप्याख्याः ।

तौक्षिक, आकोकेरो हृद्रोगश्चेर्थसिः क्रमशः ॥ ८ ॥

मेपादयः क्रमेण क्रियादिसंज्ञा भवन्ति । अत्रापानां क्रियादीनां समासः । तौक्षिकादयो व्यस्ताः प्रोक्ताः । तेनायमर्थः सूचितः — आत्माद्यष्टभावानां धर्मादिचतुर्भावमापेक्षत्वम् आत्मनो धर्मसापेक्षत्वं धनस्य प्रवृत्तिमापेक्षत्वं पराक्रमस्यार्थागममापेक्षत्वं सुखस्य धनव्ययमापेक्षत्वं सुखसिद्धेर्धर्मसापेक्षत्वं शत्रुक्षयस्य प्रवृत्तिसापेक्षत्वं कलत्रसुखस्यार्थागमसापेक्षत्वं मरणरोगपरामवादावर्धनाशसापेक्षत्वम् इति ॥ ८ ॥

एवं चतुर्भिः श्लोकैः राशीनां नामस्वरूपप्रतिपादनं कालपुरुषस्य देहं चोक्तं पदवर्गानाह —

द्रेक्षाणहोरानवभागसंज्ञा-

खिंशांशका द्वात्रिंशसंज्ञिताश्च ।

क्षेत्रं च यद्यस्य स तस्य वर्गो

होरेति लग्नं भवनस्य चार्धम् ॥ ९ ॥



इति । द्रवकाणहोगानवभागसंज्ञाः त्रिंशांशका द्वादशसंज्ञिताश्च  
क्षेत्रं च एतेषु पदसु यद् यस्य स तस्य ग्रहस्य वर्गो भवतीति यावत् ।  
होरा इति लक्षणं भवनस्य अर्थं च । होरेत्युदयलग्नस्य राश्यर्धस्य च  
संज्ञा इति यावद् । अत्र कालपुरुषदेहप्रतिपादनानन्तरमुक्तानां पदवर्गाणां  
द्रवकाणादिक्रमेणोक्त्या कालपुरुषस्य मूलाधारादयः षडाधाराः क्रमेण  
संज्ञिताः ।

“मूलाधारो दृगाणः स्यात् पितृचिन्ता रविस्तथा ।  
स्वाधिष्ठाने तु होरा स्यान्मातृचिन्ता तथा शशी ॥

मणिपूरं नवांशश्च भ्रातृचिन्ता कुजोऽपि च ।  
अनाहते च त्रिंशांशो वाणीचिन्ता बृधस्तथा ॥

विशुद्धौ द्वादशांशः स्यात् पुत्रचिन्ता तथा गुरुः ।  
आज्ञायां क्षेत्रमुद्दिष्टं जायाचिन्ता सितस्तथा ॥

द्वादशान्ते शनैश्चारी नाशचिन्ता च कीर्त्तिता ।  
तत्रस्यैस्तदधीशैश्च बलाबलवशात् फलम् ॥”

इति । तत्र दिक्षात्रमित्यवगन्तव्यम् । तत्र चन्द्रार्कयोस्त्रिंशांशकाभावाद्  
भौमादीनां होराभावाद् यथासम्भवं (त्याग्या)दिष्विकल्पा ग्रहस्य  
वर्गा उच्यन्ते । तत्र पदवर्गाणां वेदाङ्गत्वं प्रदर्शयति — द्रवकाणः पादौ,  
होरा वक्रं, नवभागाः पाण्डुगलं, त्रिंशांशकश्चक्षुषी, द्वादशांशको  
नासापुटं, क्षेत्रं श्रवणपुगलम् इति । अन्यदप्यर्थान्तरमत्र सूचितम् ।  
नवांशका नव प्राणात्मकाः ।

“प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।  
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो घनञ्जयः ॥”

घनञ्जयव्यतिरिक्ता नव प्राणा नवांशकाः । द्वादशांशकास्तु मनोबुद्धी-  
न्द्रियदशकात्मकाः । नवभिः प्राणैर्द्वादशमिरिन्द्रियैरपि एकत्रिंशतिभिर्ध-  
नैश्च मन्त्ररीरमुत्पद्यते । तथाचोक्तं भगवत्पद्माचार्येण —

“इह सावदक्षदशकं मनसा सह बुद्धितत्त्वमप वायुगणः ।

इति लिङ्गमेतदमुना पुरुषः सह सङ्गतो भवति जीवः ॥”

इति । स्पूलशरीरं तु त्वगसृङ्मांसमेदोस्त्रिमज्जाशुक्लमयं तद्वाशिसंज्ञम्  
इति । तत्र जातके लग्नराशेरर्धं फलम् अर्धं चन्द्रस्य । प्रक्षेप्युदया-  
रूढयोस्तद्वत् । अतो लग्नचन्द्रयोर्बलवतः पद्वर्गफलं - होराशास्त्रेण  
निरूपणीयमिति सूचितम् ॥ ९ ॥

गोजाश्विकर्किमिथुनाः ममृगाः निशाख्याः

पृष्ठोदया विमिथुनाः कथितास्त एव ।

शीर्षोदया दिनवलाश्च भवन्ति शेपा

लग्नं समेत्युभयतः पृथुरोमयुग्मम् । १० ॥

समृगा गोजाश्विकर्किमिथुना निशाख्याः कथिता इत्यन्वयः ।  
विमिथुनास्त एव पृष्ठोदया इति सम्बन्धः । शेपाः शीर्षोदयाः दिन-  
वलाश्च भवन्ति । नत्र विशेषमाह — पृथुरोमयुग्मम् उभयतो लग्नं  
समेति । मुखपृच्छप्रतिबद्धत्वात् । अतो मीनराशिरुभयोदयः । अग्रान्य-  
दप्यर्थान्तरं सूत्रितम् । निशाख्या इत्युक्तमग्निशापतेरप्येते राशयो  
भवन्ति । दिनवला इत्युक्तत्वाद् दिनपते राशय इत्युक्तम् । तथा  
चोक्तं —

“मिहः कन्या तुमाली च कुम्भान्त्या सूर्यराशयः ।

अन्ये तु राशयश्चान्द्रा धुनिशाराशयश्च ते ॥”

(इति) निशाराशयो निशाफलदाः दिनराशयो दिवाफलदाः । पृष्ठोदयाः  
अशुभदाः, शीर्षोदयाः शुभदाः, इत्युक्तम् । तथाच कृष्णाये -

“पृष्ठोदयेषु सिध्यत्यशुमं मूर्धोदयेषु शुभमुक्तम् ।

उभयोदये विमिश्रं ग्रहरहितेभ्यः फलं वाच्यम् ॥”

इति । पृष्ठोदये पारमंयुतेऽत्यन्तमशुभत्वं शुभमम्बन्धे मध्यमत्वं तद्वि-  
परीतं शीर्षोदयेषु वक्तव्यम् । पृष्ठे उदयो येषां ते पृष्ठोदयाः चिरेण  
शुभफल्दा इत्यर्थः । अन्यथा शीर्षोदयाः । पृष्ठोदयस्थानां ग्रहाणां  
राशिषु दशासु च पृष्ठे फलोदयः, शीर्षोदयस्थानांमादौ । उभयोदय-  
स्थानां मध्ये फलोदयः । वक्ष्यति च— ‘पृष्ठोभयकेदयर्क्षगाः स्वान्त्या-  
न्तःप्रथमेषु पारुदाः’ इति ॥ १० ॥

अन्यमपि राशिष्वप्य विशेपमाह —

क्रूरः सौम्यः पुरुषवनिते ते चगगद्विदेहाः

प्रागादीशः क्रियवृषनृयुक्कर्कटाः मत्रिकोणाः ।

मार्तण्डेन्द्रोर्युजि सममे चन्द्रभान्वोश्च होरे

द्रेक्षाणाः स्युः स्वभवनसुतत्रित्रिकोणाधिपानाम् ॥ ११ ॥

इति । क्रूरः सौम्यः ओजराशयः क्रूराः युग्मराशयः सौम्याः ।  
पुरुषवनिते ओजराशयः पुरुषाः युग्मराशयः स्त्रियः । क्रूरः सौम्य  
इत्यत्र जन्मना स्वाभाविकं क्रूरत्वं सौम्यत्वं च । मेषसिंहदुम्भा-  
निसर्गतः क्रूराः । मिथुनतौलिचापधराः क्रूरषु सौम्याः । वृषमक्षौ  
निमर्गसौम्यौ । अन्ये सौम्येषु क्रूराः । क्रूरसौम्याश्रितानामपि क्रूरत्व  
सौम्यत्वं च भवति । राश्यधिपानां बलहीनत्वे राशयः फल्दा भवन्ति ।  
अनेन ओजराशिषु जाताः क्रूरा भवन्ति, युग्मराशिषु जाताः पुरुषाः  
सौम्या भवन्ति । तथाच सारावल्याम् — “ओजपूग्राः पुरुषाः सौम्या  
युग्मेषु (इति) सर्वभवनेषु” । ओजराशिषु द्रव्याण्यपि रुक्षाणि युग्मराशौ  
द्रव्याणि सौम्यानि । ओजराशिषु विषमसङ्ख्यं मिथुनकर्म युग्मराशिषु  
समसङ्ख्यम् । तथाच कृष्णायै —

“विरमेषु ग्रहराशिषु मैथुनमेकं द्विवागभितरेषु ।”

(इति) किं बहुना, सर्वपदार्थानां विषमराशिषु क्रूरत्वं समराशिषु सौम्यत्वं  
च वक्तव्यम् । ओजराशिषु जाताः सत्त्वादिगुणयुताः, युग्मराशिषु

जाताश्चापल्यादिस्त्रीगुणयुताः । ओजराशिषु ग्रहबहुः पौरुषयुक्तो भवति । विपरीते विपरीतम् । अस्योपयोगो जातकेषु । जन्मलग्न-  
राश्योस्तदधिपस्थितराश्योश्च ओजयुग्मत्वमवगत्य जातानां क्रूर-  
सौम्यत्वं पुरुषप्रणितात्वं च निर्णेतव्यम् । ते च राश्यः चरागद्विदेहाः  
चरस्थिगभयाश्च भवन्ति । पुनरापि तथैव क्रमः । अतो मेपकर्कटतुला-  
मरुताः चरा इत्यादि । चरागशिषु जन्मलग्नौ (मौलौ) तदीशौ चरस्थौ  
चेद् जातोऽपि सञ्चारशीलः । स्थिरराशिगताः सर्वे चेत् स्थितिशीलः ।  
उभयराशिषु मिश्रस्वभावः । प्रश्नादावपि चरागशौ चरभूतं फलं, स्थिर-  
राशौ स्थिरम्, उभये मिश्रमिति । तथाच भट्टोत्पलः —

“स्थिरराशौ लग्नगते स्थानप्राप्तिं वदेन्न गमनं च ।  
रागोपशमो नाशो द्रव्याणां स्यात् परामर्शो नात्र ॥  
चरागशौ विपरीतं मिश्रं वाच्यं द्विसूर्युदये ।  
स्थिरावत् प्रथमेऽर्धे स्यादवरं चरागशिवत् सर्वम् ॥

इति । धातुमूलजीवाश्चरादिभिरुद्धाः । चरा धातुः धातोर्नहि स्थिर-  
भावः, न गच्छतीत्यगः स्थिराणि मूलद्रव्याणि, द्विदेहाः देहशब्देन  
जोन ऊह्य इति । सत्रिकोणाः क्रियश्चपनृपृकर्कटाः प्रागादीनां दिशा-  
मीशा भवन्ति । अनेन दिग्परिज्ञानं प्रयोजनम् । ते राश्यो बलवन्-  
थेत् तेषु दिक्षु कार्यादितन्विः । अपुञ्जि होरे मार्तण्डन्दाः । ओजराशौ  
राश्वर्धरूपा होरा प्रथमौ सूर्यस्य, द्वितीया चन्द्रस्य । समर्धे चन्द्र-  
भान्वोश्च समराशौ प्रथमा होरा चन्द्रस्य द्वितीया सूर्यस्य । अधिपतिचल-  
संपूर्तार्थेव होरायाः फलत्वम्, अन्यथा रिफलत्वं, तदर्थं मार्तण्डेन्द्रो गिति  
सम्बन्धार्थे पठ्यते । द्रव्याणां स्वभवनसुतत्रिकोणाधिपानां स्थुः, राशि-  
त्रिभागरूपेण द्रव्याणेषु प्रथमस्तद्वाश्वधिपस्य, द्वितीयः पञ्चमाधिपस्य,

१ 'रा', २. 'रा उम' क पाठः. ३. 'नामीशा' च पाठः ४ 'न्ति । अपुञ्जि'  
फ. प. घ. च. पाठः. ५. 'महोरा स' प. पाठः. ६ 'न्योश्च युग्मराशौ प्रथ' च.  
पाठः. ७. 'श्च । द्रव्याणां' ख ग घ. द. च. पाठः.

तृतीयो नवमाधिपस्य इति यावत् । अन्यथान्ये व्याचक्षते । एकस्मिन् राशौ नवांशकवशात् स्वमवनसुतत्रिकोणाधिपानामित्युक्ताः । कथमिति चेद् एकस्मिन् राशौ प्रथमपञ्चमन(वां ? वमां)शाधिपानां द्वेक्काणाः । यथा— भेषे कुजरविगुरुणां, धृषे शनिसितबुधोनाम् इत्यादि । तथाच कुणीये—

“क्षितिसुतरविगुरुमौरा भृगुजबुधौ भार्गवश्च रवितनयः ।  
बुधचन्द्ररुधिरजीवाः द्वेक्काणगणेश्वराः प्रोक्ताः ॥”

इति । द्वेक्काणाः स्युर्गिति फलदानशक्ता भवेयुरित्युक्तम् । प्रश्नादांविपि—  
“द्वेक्काणसदृशथोरो लघांशसदृशं धनम् ।”

इति ॥ ११ ॥

होराद्वेक्काणयोः पक्षान्तरमाह—

केचित्तु होरां प्रथमां भपस्य  
वाञ्छन्ति लाभधिपतेर्द्वितीयाम् ।  
द्वेक्काणसंज्ञामपि वर्णयन्ति  
स्वद्वादशैकादशगशिपानाम् ॥ १२ ॥

इति । केचित्तु प्रथमां होरां भपस्य वाञ्छन्ति । भपो राश्यधिपः । द्वितीयां लाभधिपतेः । चन्द्रार्कयोर्दौर्बल्ये कस्मिंश्चिद् विषयेऽयं विधिर्निरूपणीयः । प्रथमोक्तहोराविधिर्जातके, पुनरुक्तः प्रश्ने इति याचार्थः ? योऽस्तम् । तथाचोक्तं कैचित्तु—

“रवीन्द्रोर्विषमे चन्द्ररव्योदचात्र समे क्रमात् ।  
होरा स्याल्लघपस्याद्या द्वितीया लाभपस्य तु ॥

१. 'ति वर्णयन्ति । अत्र बलक्षितमित्यप्याहार्यम् । प्रथमां होरां तद्वादशपस्य, द्वितीयां तद्वादशपस्य, इति केचिदाचार्या वर्णयन्ति । ततः द्वेक्काणसंज्ञा । प्रथम-द्वेक्काण' घ. पाठः. २. 'होरां प्रथमां म' द. घ. पाठः. ३. 'तेः । द्वेक्का' घ. ग. द. घ. पाठः.

आद्या तु जातके प्रोक्ता द्वितीया प्रश्नकर्मणि ।”

इति । द्रेक्काणसंज्ञामपि वर्णयन्ति स्वद्वादशैकादशराशिपानाम्, अत्र क्लृप्तमित्यध्याहृतव्यम् । प्रथमद्रेक्काणस्तद्वाश्यधिपस्य, द्वादशस्थानाधिपस्य द्वितीयः, एकादशस्थानाधिपस्य तृतीयः । अत्र द्रेक्काणविधिसिप्रकारः । द्रेक्काणाः स्युः स्वमंवनसुतत्रिकोणाधिपानामित्येकः । चरागद्विदेहा इत्युक्तक्रमेण त्रिकोणगतचराशिपतेः प्रथमद्रेक्काणः, स्थिरराशिपतेर्द्वितीयः, उभयराशिपतेस्तृतीय इति द्वितीयः प्रकारः । द्रेक्काणमंज्ञामपि वर्णयन्तीत्यादिनोक्तस्तृतीयः । केचित्त्रितयत्र तुशब्देन विषयभेदोऽस्तीति सूचितम् । आद्यः पक्षो जातविधाने द्वितीयो जातकविधाने, तृतीयः प्रश्ने । आचार्यस्य पूर्वोक्त एवेष्टः ॥ १२ ॥

राशीनां ग्रहवशेन विज्ञेयमाह—

अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा

क्षपवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः ।

दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशै-

स्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः ॥ १३ ॥

इति । अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा क्षपवणिजौ च दिवाकरादि-  
तुङ्गा भवन्ति । दिवाकरस्य भेषस्तुङ्गैः चन्द्रस्य वृष इत्यादि । अतृष्य-  
मागानाह — दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिर्धै इति ।  
तत्रापि तुङ्गा इत्यध्याहार्यम् । तत्र भेषे दशभिरंशैस्तुङ्गो दिवाकर-  
इत्यादि योजनीयम् । तेऽस्तनीचोः ते ग्रहाः अस्तं नीचं येषां तेऽस्त-  
नीचाः । उच्चानां सप्तमराशयो नीचाः । तेषां दशाद्यंशा अतिनीचा-

१. 'वि क्लृप्तमपि स्व' क. पाठः. 'वि स्व' द. पाठः. २. 'नां वर्णयन्ति । क'  
क. द. पाठः. ३. 'हार्यम् । प्र' ख. ग. पाठः. 'हार्यम् तद्वाश्यधिपस्य प्रथमद्रेक्काणः,  
द्वा' द. घ. पाठः. ४. 'यः । अथ राशीनां' ख. ग. पाठः. 'य. राशीनां' घ. द. घ.  
पाठः. ५. 'ङ्ग इत्या' द. पाठः. ६. 'भिन्ना येऽस्तनीचाः इति' द. पाठः. ७. 'अनाद्यो-  
ऽनयां' ख. पाठः. ८. 'येऽपि दश' क. पाठः. ९. 'चाः उच्य' घ. पाठः.

श्वेत्युक्तं भवति । अत्र अश्वपुत्रादि पञ्च राशय एकेन पदेनोक्ताः । ततः पञ्चसु ग्रहेषु तुल्यगतेषु जातो दिव्यो भवतीति सूचितम् । तथाच कृष्णीये —

“सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः ।  
एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्ते स्वोच्चगैरतः परं दिव्याः ॥”

इति ॥ १३ ॥

उच्योपदेशानन्तरमुक्तानुरूपफलान् वर्गोत्तमानाह —

वर्गोत्तमाश्चरगृहादिषु पूर्वमध्य-  
पर्यन्ततः सुशुभदा नवभागसंज्ञाः ।  
सिंहो वृषः प्रथमपष्ठहयाङ्गतौलि-  
कुम्भास्त्रिकोणभवनानि भवन्ति सूर्यात् ॥ १४ ॥

इति । चरगृहादिषु पूर्वमध्यपर्यन्ततः नवभागसंज्ञाः वर्गोत्तमा भवन्ति । सुशुभदाः सुतरां शुभदाः, शत्रुनीचाद्यंशत्वेऽपि वर्गोत्तमानां शुभदत्वमेस्तीत्युक्तं भवति । तथाच स्वयमेव वक्ष्यति — ‘शुभं वर्गोत्तमे जन्म’ इति,

“वर्गोत्तमस्वपरागेषु शुभं व्यदुक्तं तत्पुष्टमध्यलघुताशुभमुत्क्रमेण”  
इति च । मेघे मेघनवांशः वृषे वृषनवांश इत्यादि । नवभागसंज्ञाः सुशुभदा इत्युक्तत्वाद् द्वादशभागाः शुभदा इति तर्कणीयम् । तथाच सारावल्यां —

“वर्गोत्तमा नवांशास्तथादिमध्यान्तगाश्चराद्येषु ।  
सूतेः कुलमुख्यकरा द्वादशभागाः स्वराश्याशाः ॥”

इति । मूलत्रिकोणानाह — सिंहादयः सूर्यात् त्रिकोणभवनानि

भवन्ति । सिंहरवः क्षेत्रन्त्रं त्रिकोणत्वं च, वृषभस्य चन्द्रस्य उच्चत्वं त्रिकोणत्वं च, कन्याया बुधस्य क्षेत्रत्वमुच्चत्वं त्रिकोणत्वं च, इत्यादिषु विशेषमाह विद्यामाधवः -

“सिंहे विंशतिरादितो गत्रि परे सर्वेऽशकास्तुङ्गतो

भेषे द्वादश पञ्च योषति परे तुङ्गाद्वणाङ्गे दश ।

जूरे पञ्च पटे तु विंशतिरमी मूलत्रिकोणाह्वयाः

सूर्यादेः क्रमशा ग्रहस्य कथिताः शेषाः स्वराश्यंशकाः ॥”

इति । अत्र सिंहो वृष इति द्वे पदे । अन्यत् समस्तम् । तेन चन्द्रादित्यग्राधान्यमुक्तम् । त्रिकोणभवनानि भवन्ति सूर्यादिति वचनात् त्रिकोणराशीनां स्वक्षेत्रेभ्यः प्राधान्यं सूचितम् ॥ १४ ॥

राशीनां प्रभादिकालविषयविशेषमाह —

होरादयस्तनुकुटुम्बसहोत्थबन्धु-

पुत्रारिपत्निमरणानि शुभास्पदायाः ।

रिःफारुयमित्युपचयान्यरिकर्मलाभ-

दुश्चित्कसंज्ञितगृहाणि न नित्यमेके ॥ १५ ॥

इति । होरादयः राशयः तनुकुटुम्बसहोत्थबन्धुपुत्रारिपत्निमरणानि शुभास्पदायाः रिःफारुयमिति भवन्ति । एतेर्द्वादशभावेः शरीरिणां प्रभजातकेषु समस्तपदार्थश्चिन्त्येत । ततः सम्यगविज्ञातजन्मकालस्यैव जातफलं चिन्त्यम् । तथाचोक्तं —

“तन्त्रे सुपग्निज्ञाते लप्ते छोर्योन्वयन्तसंविदिते ।

होगर्षे च सुरटे नोदेन्दुर्माती वन्द्या ॥”

इति । श्रीरतिशब्द — “ज्ञेयोऽत्र प्रथमं हि जन्मममयशलायाम्बुयन्त्रैः

१. 'मिति । वृषभस्य उच्चत्वं त्रिकोणत्वं च चन्द्रस्य, सिंहरवः क्षेत्रत्रिकोणत्वं च, कन्याया बुधस्य क्षेत्रं च. पाठः. २. 'चन्द्रस्य वृषस्य उच्चत्वं, सिंहरवः क्षेत्रत्रिकोणत्वं च, कन्याया बुधस्य क्षेत्रं च. पाठः. ३. 'च चन्द्रस्य वृषभस्य उ. च. पाठः. ४. 'ल-विनोपविषयविशेषं' च. पाठः. ५. 'मिति । करिकर्म' म. ग. घ. ङ. च. पाठः.



स्फुटम्” इति । अत्र तनुः शरीरं, कुटुम्बो भ्रंशणीयजनः, सहोत्था  
 भ्रातरः । बन्धुशब्देन मातृपितृभागिनेयादिरुच्यते । पुत्राः आत्मजाः ।  
 अरिशब्देन शत्रुरोगादिरुच्यते । पत्नी भार्या । मरणशब्देन द्रव्यनाश-  
 विषद्रोणपराभवाः रुच्यते । शुभशब्देन माग्यधर्मादिरुच्यते । आस्पद-  
 शब्देनावलम्बः । आयशब्देन सर्वाभीष्टागमः । रिःकशब्देन पापरागादि  
 रुच्यते । इतिशब्देनापी भावा एव सर्वजन्तूनां सर्वपदार्थजापका  
 इति सूचितम् । किं पुनस्त्रिविधमुक्तं लग्नादारभ्याष्टमपर्यन्तमैहिक-  
 राशयः, नवमादारभ्यैकादशपर्यन्तं पारत्रिकराशयः, द्वादशतमः सर्वेषां  
 सुकृतदुष्कृतानां धनानां च व्ययभावत्वान्मोक्षराशिरिति विशेषः ।  
 अरिकर्मलाभदुश्चित्कृतसंज्ञितगृहाणि उपचयानि भवन्ति । लग्नात् षष्ठ-  
 दशमैकादशतृतीयराशय उपचयसंज्ञा भवन्ति, शिष्टा अपचयराशयः ।  
 यतस्तत्र स्थिता ग्रहा उपचयकराः । अत्र मतान्तरमाह — एके उप-  
 चयत्वं न नित्यमिति वदन्ति ।

“अथोपचयसंज्ञा स्यात् त्रिलाभरिपुकर्मणाम् ।

न चेद्भवन्ति ते दृष्टाः पापैः स्वस्वामिशत्रुभिः ॥”

इत्यादिवचनदर्शनादेवमुक्तम् । इदं बराहमिहिराचार्यस्य नाभिप्रेतम्  
 ॥ १५ ॥

लग्नादीनामेव संज्ञान्तराण्यमाह —

कल्यस्वविक्रमगृहप्रतिभाक्षतानि

चित्तोत्थरन्ध्रगुरुमानभवव्ययानि ।

लग्नाच्चतुर्थनिघने चतुरश्रसंज्ञे

द्यूनं च सप्तमगृहं दशमर्क्षमाज्ञा ॥ १६ ॥

इति । होरादय इत्यनुवर्तते । होरादयः कल्यादिसंज्ञावन्तोऽपि  
 भवन्ति । लग्नाद्येकेन पदेनोक्ता अदृश्यभागस्थाः सप्तमादिषट्भागा दृश्य-

भागस्था इत्युक्तं भवति । 'पर्यायमन्यप्लुपलभ्य वदेच्च लोकादि'त्पु-  
 चरत्र वक्ष्यति । तस्मादन्यस्यास्त्रेभ्योऽप्येतेषां पर्याया वेद्याः । लग्नाच्चतुर्थं  
 निधने चतुरश्रसंज्ञे भवतः । तत्र चतुर्थं जननगृहम् अष्टमं परैर्दत्तम् ।  
 तत्राष्टमराशिः स्वाधिपतिना युक्तश्चतुर्थराशिर्वलहीनश्चेत् तदा स्वपूर्व-  
 भवनं परेषां दत्त्वान्पदं गृहं धनेनादाय तत्र स्थितो भवति । सप्तमगृहं  
 धनं च भवति । दशमर्धमाज्ञा च भवति ॥ १६ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण लग्नादीनां नामान्तराण्यह —

कण्टककेन्द्रचतुष्टयसंज्ञाः

सप्तमलग्नचतुर्थखभानाम् ।

तेषु यथाभिहितेषु बलाढ्याः

कीटनराम्बुचराः पशवश्च ॥ १७ ॥

इति । सप्तमलग्नचतुर्थखभानां कण्टककेन्द्रचतुष्टयसंज्ञा भवन्ति ।  
 सप्तमादीनां चतुर्णां कण्टकं केन्द्रं चतुष्टयम् इति तिस्रः संज्ञा भवन्ति ।  
 अत्र लग्नादिभावानामुभयत्र संज्ञानिर्देशेन लग्नादिभावानां तत्तत्संज्ञा-  
 विषयफलं प्रति प्रत्येकं संज्ञान्तरानपेक्षितया स्वातन्त्र्यं द्योत्यते । यस्य  
 पुरुषस्य जातकं निरूप्यते, तस्य साक्षात्सम्बन्धिनः कल्यादयो भावाः  
 परम्परया सम्बन्धिनस्तन्वादयं इति विधेयश्रोतनाय च पृथङ् निर्देशः  
 कृतः । तद्यथा कल्यः स्वस्यः । "वार्तो निरामयः कल्य उल्लाघो  
 निर्गतो गदाद्" इत्यमरः । रोगारोग्यसुखदुःखाद्यनुभवकृदन्तरात्मा  
 कल्यः, श प्रथमभावः । स्वम् आत्मनो वपनाशनादिसम्पादकं धनं,  
 न द्वितीयो भावः । तृतीयो विक्रमः । विक्रमस्त्वतिशक्तिः । चतुर्थो  
 गृहम्, आत्मनो भोजनशयनासनाद्यधिकरणं मन्दिरम् । पञ्चमः प्रतिमा,  
 न तदुचिन्कार्यकार्यविशेषप्रतिमानम् । षष्ठभावः क्षनं, वातपित्तादि-  
 निमित्तो वा अभिघातपतनादिनिमित्तो वा निजागन्तुकमेदाद् द्विविधो  
 व्रणः । सप्तमभावश्चित्तोत्थः, वनितामोगाभिनिवेशः । अष्टमो रन्ध्रम्,  
 आधिप्याध्यायनिष्ठागमः । नवमो गुरुः, ऐहिकपारत्रिकसुखोपायोप-  
 देशः । दशमो भावो मानश्चित्तसमुच्चतिः । एकादशो भावोऽर्थोगमः ।

द्वादशो व्ययः, अर्थव्यय इति यावत् । एते भावा आत्मनः साक्षात् सम्बन्धिनः । तन्वादयस्तु परम्परया सम्बन्धिनः । तत्र मातृपितृशुक्रशोणितोद्भवस्त्वगसृग्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्रस्वरूपः स्वकीयो देहः । तत्रात्मनः काष्ठाश्वत् सम्बन्धः प्रमिद्धः स प्रथमभावः । द्वितीयो भावः कुटुम्बं वसनाशनादिप्रदानभरणीयो वर्गः । तृतीयो भ्राता समानोदरः । सहोत्पन्नशब्देन भ्रातृसदृशः त्रयस्यादयो गृह्यन्ते । चतुर्थो बन्धुः, मातुलपितृव्यादयः । पञ्चमः पुत्रः । षष्ठः शत्रुः । सप्तमः पत्नी । अष्टमो मरणं प्राणवियोगौघाद्या । नवमं शुभं धर्मः । दशममास्पदं शत्रुभिरपरिभजनीयस्थानम् । एकादशद्वादशाभ्यामायव्ययौ । एषां तन्वादीनां परम्परया स्वकीयत्वेन सम्बन्धः । एवं परम्परया सम्बन्धवन्तोऽन्वेष्येऽपि भावाः शास्त्रान्तरोक्ता अपि तन्वादिभिः साधर्म्येणोपलक्ष्यन्ते । तथाहि —

“भ्रात्राद्याः स्युर्भावा मूर्तिः कोशो यौधो बाहो मन्त्रः ।

शत्रुर्मर्गोऽथायुर्धर्मो व्यापारश्च प्राप्त्यप्राप्ती ॥

मूर्तिरमत्र मक्ष्यं भोज्यं भोजयितृभाव उपदंशः ।

सैचनमन्नं सहभुक् पूर्तिश्च तथा कथा च शयनमपि ॥”

इत्यादि । तनुशब्देनात्मशरीरस्वास्थ्यादृष्टानमानसम्बन्धासम्बन्धतत्स्थानवृष्टिनद्यधोजलप्लवश्च लक्षिताः । अत्र सप्तमलग्नयोः चतुर्थखभयोरेकत्वेऽपि पृथग्भावः सूचितः । सप्तमलग्नयोः कण्टकसंज्ञा, चतुर्थखभयोः केन्द्रसंज्ञा । सर्वेषां चतुष्टयमंज्ञा । राशीनां बलाबलनिरूपणप्रकारमाहोत्तरार्धेन — यथाभिहितेषु तेषु सप्तमलग्नचतुर्थखभेषु कीटनराम्बुचराः पशवश्च बलाढ्या भवन्तीति । कीटशब्देन दुष्टजातयो लक्ष्यन्ते व(न्ध्या)न्य(य) महिषवराहादयः । तेषामस्ते सन्ध्यायां बलं भवति । नरशब्देन तद्विपरीतनराः इदये वीर्यवन्तः । अम्बुचराश्चतुर्थे मध्याह्ने वीर्यवन्तः शशिमृगश्च । स्नानव्रतनिषमाजुष्ठानहोमादिकं चतुर्थभवनादूह्यम् । चतुर्थभवनाधिपः स्थिरराशौ चेत् स्वगृहस्थः कर्मादिकं करोति, चरराशौ विदेशगृहस्थ इति विशेषः । उभयमपि द्रष्टव्यम् । स दशमं, पशूनां चतुष्पाद्राशीनां दशमे बलमित्युक्तं भवति ॥ १७ ॥

१ ‘नः सम्प्र’ ख. ग. २. ‘गस्थानम् न’, ३. ‘युःस्वान्तं चर्मो’ ग. ४. ‘पूर्तिकथा शयनमपि विलम्बाया’, ५. ‘ति । सप्तमे कीटराशिर्बलवान्, दशमे नरराशिर्बलवान्, चतुर्थे जलराशिः दशमे चतुष्पाद्राशिरित्युक्तं भवति ॥ १७ ॥ ख. ग. द.

केन्द्रान्तरालराशीनां संज्ञामाह —

केन्द्रात् परं पणपरं परतश्च तद्व-

दापोक्लिमं द्विबुक्रमम्बु सुखं च वेश्म ।

जामित्रमस्तभवनं सुतमं त्रिकोणं

मेपूरणं दशममत्र च कर्म विद्यात् ॥ १८ ॥

इति । केन्द्रात् परं पणपरं भवति केन्द्रस्थानन्तरो राशिः पणपर-  
संज्ञो भवति । तद्वद् आपोक्लिमं तद्वन् परत आपोक्लिमं भवति पणपरात्  
परो राशिरापोक्लिममंज्ञ इत्यर्थः । केन्द्रपणपरापोक्लिमगतैर्ग्रहैर्बाल्ययौवन-  
वार्धकावस्थासु कर्म वाच्यम् । तथा च सारावल्यां —

“केन्द्रात् परं पणपरमापोक्लिमसंज्ञितं तयोः परतः ।

बालयुवस्यविरत्ये क्रमेण फलदा ग्रहास्तेषु ॥ ”

इति । केषाञ्चिद् भार्यानां प्रमिद्धानि संज्ञान्तराण्याह — वेश्मराशिः  
द्विबुक्रमम् अम्बु सुखं च भवति । यत्रभवनं जामित्रं भवति । सुतमं त्रिकोणं  
भवति । दशमं मेपूरणं च भवति । अत्र कर्म च विद्याद् दशमे कर्मेति  
संज्ञामिति विद्यात् । कर्म विद्यादिति शब्देन जातस्य प्रवृत्तिं विद्यादिति  
यचितम् । चशब्दाद् यज्ञादिकर्म चिन्तनीयम् ॥ १८ ॥

हस्तयुगमाह —

होरा स्वामिगुरुक्षीक्षितयुता नान्यैश्च वीर्योत्कटा

केन्द्रस्था द्विपदादयोऽह्नि निशि च प्राप्ते च सन्ध्याद्वये ।

पूर्वार्धे विषयादयः कृतगुणा मानं प्रतीपं ततो

दुश्चित्तकं सहजं तपश्च नवमं व्याधं त्रिकोणं च तत् ॥ १९ ॥

इति । स्वामिगुरुक्षीक्षितयुता होरा वीर्योत्कटा भवति स्वामिना

गुरुणा बुधेन च वीक्षिता युता वा होरा वीर्योत्कटा भवति । अन्यैर्न च  
 अन्यैः स्वामिगुरुबुधेतैः । अत्रान्यशब्देन पापग्रहा मृशन्ते । तत्र गुरुशै  
 भाववृद्धिकरौ । अर्कस्य भावानां क्रौर्यत्वं तनुकुटुम्बादिभावैरुष्णत्वम् ।  
 चन्द्रोऽपि बलिष्ठो भाववृद्धिक(रः)क्षीणश्चेत् प्रकृतिवदनवरतशोककरः ।  
 शुक्रः सर्वत्र औशनसनयफलदः ईक्षणभावनाशमृच । तथा चोक्तं —

“यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा  
 सौम्यैर्वा स्यात् तस्य तस्याभिवृद्धिः ।  
 पापैरेवं तस्य भावस्य हानि-  
 निर्देष्टव्या जन्मिनां पृच्छतां वा ॥”

“मृत्यादिभावनायाः स्वर्क्षात् पष्ठाष्टरिःफणा नेष्टाः”  
 इत्यादि च विचिन्तनीयम् । केन्द्रस्था राशयो वीर्योत्कटा इति शेषः ।  
 अत एव पणपरस्था मध्यबला आपोक्लिमस्था हीनबला इति च द्रष्टव्यम् ।  
 तथा वाइरायणः —

“केन्द्रस्थाः स्फुरतिबला मध्यबलाः पणपराशिता ज्ञेयाः ।  
 आपोक्लिमगाः सर्वे हीनबला राशयः कथिताः ॥”

इति । द्विपदादयः अहि निशि च सन्ध्याद्वये प्राप्ते च वीर्योत्कटा  
 भवन्ति । द्विपाद्राशयः अहि, चतुष्पाद्राशयो रात्रौ, कीटराशयः पूर्वसन्ध्या-  
 याम् अपरसन्ध्यायां च वीर्योत्कटा भवन्तीत्यर्थः । अत्र कीटशब्देन  
 वृश्चिकमीनमकरान्त्यार्था उक्ताः । पूर्वार्धे मेषादिपदके विपदादयः पञ्च  
 पद सप्त अष्ट नव दश च सङ्ख्याः कृन्तुणाः चतुर्गुणाः मानं राशि-  
 प्रमाणं भवतीति शेषः । तत् उत्तरार्धे तुलादिपदके प्रतोपं प्रतिलोमेन  
 दशादयो विषयान्ताः सङ्ख्याश्चतुर्गुणाः प्रमाणं भवति । ततो मीनमेष-  
 योर्विंशतिः प्रमाणं, वृषमकुम्भयोश्चतुर्विंशतिरित्याद्युक्तं भवति । ह्रस्व-  
 दीर्घादिपरिज्ञाने अस्य प्रमाणस्योपयोगः, नोदयलगादौ । सङ्गं  
 दुश्चित्कं भवति, नवमं तपश्च भवतीति शेषः । तत् व्याघ्रं त्रिकोणं च  
 नवमस्य त्रिशिकोणमिति संज्ञाप्यस्तीति यावत् । अत्र नवमस्थानं नि-  
 शेषतश्चिन्तनीयमिति सूचितम् । तथाचोक्तं — “सर्वमपहाय चिन्त्यं  
 भाग्यर्थं प्राणिनां विज्ञेयेण” इति ॥ १९ ॥

राशीनां वर्णानाह —

रक्तः श्वेतः शुक्रतनुनिभः पाटलो धूम्रपाण्डु-

श्वित्रः कृष्णः कनकसदृशः पिङ्गलः कर्पूरश्च ।

वभ्रुः स्वच्छः प्रथमभवनाद्येषु वर्णाः प्लवत्वं

स्वेशाशाख्यं दिनकरयुताद् भाद् द्वितीयं च वेतिः ॥ २० ॥

इति । मेपो रक्तः वृषः श्वेतः मिथुनः शुक्रतनुनिभः हरित  
इत्यादि । प्रथमभवनाद्येषु मेपादेराशिषु वर्णाः रक्तादय इति सम्बन्धः ।  
प्लवत्वं स्वेशाशाख्यं प्लवत्वं दिक्प्रवणत्वं स्वेशाशाख्यं राशीश्वरस्य दि-  
शाख्यम् । ग्रहदिशः 'प्रागाद्या' इति वक्ष्यन्ते । ततो मेपराशिः दक्षिणपुत्र  
इत्यादि । स्वजन्मलग्नराशिः प्रभराशिर्वा यादृक्प्लवो भवति तां दिशं  
गतो राजाचिरेण रिपून् जयति । तथा सारावस्थां —

“भवनाधिपतिदिशातः\* प्लव इति यवनैः प्रयत्नतः प्रोक्तम् ।

तत्प्लवगो विनिहन्त्यादचिरेण महीपतिः शत्रून् ॥”

इति । दिनकरयुताद् भाद् द्वितीयं वेतिसंज्ञं च भवति । द्वादशं वासीति  
चकारात् सूच्यते । एवं राशीनां निसर्गभवाः ग्रहभवाः समयभवाश्च  
विशेषा उक्ताः ॥ २० ॥

इति होराविवरणे राशिप्रभेदः प्रथमोऽध्यायः ।

## अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ ग्रहाणां नामरूपादिकं विवक्षुः प्रथमं मेपादिराश्यवयविना कालपुरुषेण  
सम्बन्धं शार्दूलविश्वीकृतेनाह —

कालत्मा दिनकृन्मनस्तुहिनगुः सत्त्व कुजो ज्ञो वचो

जीवो ज्ञानसुखे मितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः ।

१ 'दिग्प्रमाण' २ 'जतः प्ल' ३. 'नि । एव' क

\* 'भवनाधि पतिदिनाम प्ल' इति सुवितसाराश्लीपलः-

राजानौ रविशीतगू क्षितिसुतो नेता कुमरो बुधः

सूरिर्दानवपूजितश्च सचिवौ प्रेप्यः सहस्रांशुजः ॥ १ ॥

इति । दिनकृत् कालात्मा कालपुरुषस्यात्मा आत्मशब्देन देहाधिष्ठितो जीवात्मोच्यते । तुद्दिनयुः मनः चन्द्रोऽन्तःकरणम् । कुजः सत्त्वम् । सत्त्वशब्देनात्र “अविकारकं सत्त्वं व्यसनाभ्युदयागमे” इत्युक्तो गुणोऽभिधीयते । धीर्यमिति यावत् । ज्ञः वचः वागिन्द्रियम् । जीवः ज्ञानसुखे ज्ञानं सुखं च । मितश्च शुक्रोऽपि ज्ञानसुखे, किन्तु मदनः कामात्मकश्च । दिनेशात्मजः दुःखम् । आत्मादिभूतेषु ग्रहेषु बलवत्सु जातस्य पुरुषस्यात्मादयोऽपि बलिने भवन्ति, दुर्बलेषु दुर्बला भवन्ति । आत्मभूतस्य दिनकृतो बलवत्त्वे जातस्यात्मप्रभावी जायते, मनोभूतस्य चन्द्रस्य बलवत्त्वे मनःप्रभावी जायते, प्रभावादेव सर्वकार्यसिद्धिः । आत्ममनसोरितरेतरार्थ्यत्वात् सूर्याचन्द्रमसोरेकस्य बलवशादितरस्य बलसिद्धिः । तथा च संहितायाम् —

“आत्मा सदैति मनसा मन इन्द्रियेण  
स्वार्थेन चेन्द्रियगणः क्रम एवमेव ।

एष शीघ्रः (१) ।

योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति  
यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥”

इति । अत्र दिनकृदादयः क्रमेण कथिताः । तेन किञ्चित् प्रयोजनं विद्यते दिनयामाधिपत्यविज्ञानम् । तथाचोक्तं—

“प्रदा वारनाशादयो वासरस्य  
(सूर्यः प्र)माणाष्टमागाधिनाथाः क्रमेण ।  
तथा यामवत्याश्च तत्पञ्चमाद्या  
य आद्यांशनाथः स एवाष्टमस्य ॥”

दिनेशात्मज इति दिनेशशब्देन अन्त्यांशस्य वारेशाधिपत्यमुक्तम् । दुःखस्वरूपस्य शनैर्यामात्मना विद्यमानस्य गुलिकस्यापि दुःखत्वं

सूचितम् । मनस्तुद्दिनगुरिति पुरुषस्य मनःप्राधान्येन सर्वप्रवृत्ति-  
र्दृश्यते । तस्माच्चन्द्रबलधयेऽन्यग्रहेर्न किञ्चित् प्रयोजनं विद्यते ।  
तथाचोक्तं —

“चन्द्राहौ बलयुक्तौ कुजादयः प्रोक्तमार्गबलहीनाः ।

शुभफल्दास्ते सर्वे दशासु योगेषु सञ्चिन्त्याः ॥”

इति । किन्तु जन्मनि बलवद्ग्रहरेत एव भावा आत्मादयः शुभा  
भवन्ति, दुर्बलैर्दुर्बलाः, मौरस्य विपरीतम् । तथाच सारावल्याम्—

“आत्मादयो गगनगैर्बलिभिर्बलवत्तराः ।

दुर्बलैर्दुर्बला ज्ञेया विपरीतं ज्ञानेः स्मृतम् ॥”

इति । रविशीतगू राजानौ । रविः राजा, चन्द्रो राक्षी । क्षितिसुतो  
नेता दण्डनायकः । बुधः कुमारः । सूरिः दानवपूजितश्च सचिवौ । जीवा  
कार्यसचिवः, शुक्रो नर्मसचिव इति विशेषः । सहस्रांशुजः प्रेम्प्यः  
किङ्करः । जन्मकाले यो ग्रहो बलवान् जातस्तत्समानरूपो भवतीति ।  
राजानौ रविशीतगू इत्यनेनान्यदपि सूचितं — दिनपतिर्निशापतिश्च  
द्वादशाशीनामधिपौ । तत्र रविः (स्वस्थ)स्थानात् सिंहादारभ्य क्रमात्  
षड्दशपधितिः । तत्र चन्द्रः (स्व)स्थानादारभ्योत्क्रमेण षड्दशपधितिः  
रविचन्द्राभ्यां दत्तमेव कुजादीनां राश्याधिपत्यम् । कुमारभूतस्य बुधस्य  
रविणा स्वस्थानाद् धनस्थानं दत्तं, पराक्रमसचिवस्य शुक्रस्य तृतीय  
पराक्रमस्थानं दत्तम् । सेनापतेः कुजस्य बन्धुस्थानम् । बुद्धिसचिवस्य  
गुरोर्युद्धिस्थानम् प्रेम्प्यस्य ज्ञानेः प्रेम्प्यस्थानं षष्ठ दत्तम् । एवं चन्द्रेण  
व्युत्क्रमगणनया धनादिस्थानानि दत्तानि इति । तथाच सारा-  
वल्यां —

“द्वादशमण्डलभगणस्तस्या(र्थेऽर्थे) मिहतो रविर्नाथः ।

कर्कटकान् प्रतिलोपं शशभृदथा(स्या न्येऽ)पि तद्धानात् ॥



भानोरधे विहगैः शूरास्तेजस्विनश्च साहसिकाः ।  
शशिनो मृदवः सौम्याः सौभाग्ययुताः प्रजायन्ते ॥”

इति ॥ १ ॥

अधुना व्यवहारार्थं ग्रहाणां संज्ञां कर्तुं कामः प्रालिनीमाह —

हेलिः सूर्यश्चन्द्रमाः शीतरश्मि-  
हेमा विद् ज्ञो बोधनश्चेन्दुपुत्रः ।  
आरो वक्रः क्रूरदृक् चावनेयः  
कोणो मन्दः सूर्यपुत्राऽसितश्च ॥ २ ॥

इति । सूर्यो हेलिः । शीतरश्मिः चन्द्रमाः । इन्दुपुत्रः हेमा विद्  
ज्ञः बोधनश्च, बुधस्य चत्वारि नामान्युक्तानि । आवनेयः आरः वक्रः  
क्रूरदृक् च, कुजस्य त्रीणि नामान्युक्तानि । सूर्यपुत्रः कोणः मन्दः  
असितश्च, मन्दस्य त्रीण्युक्तानि ॥ २ ॥

अधुना गुरुशुक्रराहुकेतूनां मंशास्तिलकेनाह —

जीवोऽङ्गिराः सुरगुरुर्वचसांपतिर्ज्योक्  
शुक्रो भृगुर्भृगुसुतः सित आस्फुजिच्च ।  
राहुस्तमोऽगुःसुश्च शिखीति केतुः  
पर्यायमन्यदुपलभ्य वदेच्च लोकात् ॥ ३ ॥

इति । जीव इति गुणवचनं जीवनप्रदत्वात् । अङ्गिरा इत्यनेन  
विशिष्टमोत्रजात इति । सुरगुरुर्इत्यनेनाग्न्याधानाद्यश्वमेधपर्यन्तानां  
क्रतूनामुपदेष्टृत्वमुक्तम् । वचसां पतिरित्यनेन क्षत्रव्याख्यनादि-  
व्यवहारपटुत्वं सूचितम् । ज्योक् एतानि गुरोर्गुणनामधेयानि । शुक्रः

१. 'ति ॥ १ ॥ ग्रहाणां नामान्याह — हेलिः' घ. छ. च. २. 'भव नसुतस्य  
त्रो' घ. छ. ३. 'सूर्यपुत्रस्यापि त्रौ' छ. च. ४. 'णि नामान्यु' च.

भृगुसुतः सित-आस्फुजित् च एतानि शुक्रस्य गुणनामधेयानि । राहुः  
तमं अगुः असुरश्च, राहोर्ह्युक्तानि । केतुः शिखीति केतोः शिखीत्येकं  
नामोक्तम् । अनुक्तानां नाम्नां ग्राह्यत्वमाह चतुर्थपादेन—अन्यत्  
लोकादुपलभ्य वदेत् ॥ ३ ॥

अधुना ग्रहवर्णान् धवतुकामः शास्त्रिर्नामाह—

रक्तश्यामो भास्करो गौर इन्दु-

नात्युच्चाङ्गो रक्तगौरश्च वक्रः ।

दूर्वाश्यामो ज्ञो गुरुर्गौरगात्रः

श्यामः शुक्रो भास्करिः कृष्णदेहः ॥ ४ ॥

इति । भास्करः रक्तश्यामः भवति, उच्चे रक्तः नीचे श्यामः ।  
इन्दुर्गौरः धवलप्रायरक्तः । वक्रो नात्युच्चाङ्गः रक्तगौरश्च नातिदीर्घाङ्गः  
उच्चे रक्तः नीचे गौरः । ज्ञः दूर्वावर्णः । गुरुर्गौरगात्रः पीतगात्रः ।  
'गौरोऽरुणे मिते पीत' इत्यमरः । शुक्रः श्यामः । भास्करिः कृष्णदेहः  
कृष्णवर्णः । वर्णज्ञानप्रयोजनं सर्वग्रहेषु यो वनवान्स्तद्वर्णस्तत्काले  
जातो भवति । प्रश्नकाले चोरादेरपि ॥ ४ ॥

अधुना ग्रहानां वर्णस्याम्यं ग्रहदेवताश्च विवस्वाम्यं सौम्यपापार्थं च शास्त्र-  
विकीर्तितमाह—

वर्णास्ताम्रसितातिरक्तहरितव्यापीतचित्रासिता

बह्वयम्बग्निजकेशवेन्द्रशचिकाः सूर्यादिनाथाः क्रमात् ।

प्रागाद्या रविशुक्रलोहिततमस्मौरेन्दुवित्सूरयः

क्षीणेन्द्रर्कमहीसुतार्कतनयाः पापा बुधस्तैर्युनः ॥ ५ ॥

इति । क्रमात् सूर्यादिनाथाः वर्णाः ताम्रसितातिरक्तहरितव्या-  
पीतचित्रासिता इत्यन्वयः । तत्र ताम्रवर्णस्य नाथः सूर्यः, पितृस्य  
श्वेतवर्णस्य नाथश्चन्द्रः, अतिरक्तस्य लोहितस्याङ्गाकः, हरितस्य शुक्र-

१. 'य शुक्रायपि चत्वारि नामान्युक्तानि । राहुः' घ. ङ. घ. २. 'स्त्रीणि  
नामान्युक्तानि' च ३. 'अन्यत् पर्यायं च लो' क ४. देहः ॥ ४ ॥ एवं ग्रहानां  
निर्देशरीरवर्णानुष्ठानं तदाधिदैवतान् वर्णनाह—' ख ग. घ

वर्णस्य बुधः, व्यापीतस्य हरिद्रावर्णस्य जीवः, चित्रो नानावर्ण-  
स्तस्य शुक्रः, अमितस्य जनैश्वरः । बलवति ग्रहे हृतनष्टादिद्रव्यवर्ण-  
ज्ञानं जन्मनि प्रश्नकाले चोक्तद्रव्यलाभः । अन्यथा हानिः । ग्रह-  
पूजायां तद्वर्णकृतसुपूजा । बृहद्यम्बप्रिजकेशवेन्द्रशचिकाः क्रमेण सूर्या-  
दिनाथा भवन्ति । अत्र सूर्यादीनां नाथा इति मम्बन्धः । आदित्यस्य  
बह्मिदेवता, चन्द्रस्य अम्यु जलं देवता, कृत्रस्य अग्निजः सुव्रह्मण्यः,  
बुधस्य विष्णुः, शुक्रो रिन्द्रः । (इन्द्रशब्देन) 'इदि परमैश्वर्य' इत्यस्मा-  
द्भातोर्निष्पद्येन परमेश्वर उच्यते । शुक्रस्य शची । शचीशब्देन शक्तिविशेष  
वाचकेन शक्तिमामान्यलक्षणमाया मूलप्रकृतिरुच्यते । शनेः कः  
ब्रह्मा । अप्राप्य विशेषः—बह्मिशब्देनाग्निश्च रुद्रश्च विवक्षितौ । चन्द्रस्या-  
म्बित्युक्तत्वाद् धाराशङ्काभिप्रेकादि । तत्र क्रूरक्षेत्रे हरपूजा शुभक्षेत्रे  
विष्णुपूजा युग्मराजौ दुर्गा इति विशेषः । अग्निज इत्यत्र स्थिरे यदि  
गृहे पशुधादिपूजा, चरे यदि स्कन्दालये । केशव इत्यनेन श्रवणपूजा-  
दिकम् । इन्द्र इत्यनेनायुष्मत्यादिर्द्वाहोमपर्यन्तं कर्मोक्तं, विप्रपूजा-  
दिकं च । जीवस्यापि क्रूरक्षेत्रे हरपूजा शुभक्षेत्रे वैष्णवपूजा युग्मे दुर्गा  
क्रूर युग्मे काली चेति । शचीत्यनेन बलहीनः शुक्रो महायक्षीचामु-  
ण्ड्यादीनामभिदेवता । क इत्यनेन ब्राह्मणानां प्रेष्यजनानाम् अन्य-  
देवतानां च ग्रहणम् । तत्र गणहोमादिकं कर्तव्यम् । अत्र प्रयोजनं  
ग्रहपूजायां ग्रहोक्तदेवतापूजा, तथाच चोराणां नामानयने बलबद्ध-  
ग्रहोक्तदेवपर्यायनाम, तथाच यात्रायां ग्रहदेवता सम्पूज्य तदिशं या-  
याद् इति । रविशुक्रलोहिततमःसौरैन्दुवित्स्त्रयः प्रागाद्याः । प्रागादीनां  
दिशां नाथा इति यावत् । अत्र पश्चान्तरमाह कृष्णीये—

“रविकुजसुरगुरुशशितनयभृगुजसौरैन्दुसैहिकेयानाम् ।

प्रादक्षिण्येन दिशः प्रागाद्याः कल्पिताश्चान्यैः ॥”

अयं पक्षो नष्टमुष्ट्यादिषु ग्राह्यः । एतदाचार्यस्य नामिप्रेतम् । प्रयो-  
जनं केन्द्रस्ये ग्रहे सक्तिकागृहे द्वारज्ञानं हृतनष्टादिषु चोरादेर्गमनं  
च । क्षीणेन्द्रर्कमरीसुतार्कतनयाः पापा भवन्ति पापफलसूचकाः ।

तैर्युतो बुधश्च । क्षीणेन्दुः, “अमावास्याचतुर्दश्योः क्षीणश्चन्द्रो न सर्वदा” इति चन्द्रस्यापरपक्षावसान एव पापत्वम् । अत एवाक्षीण-  
चन्द्रः केवलः शुभयुतश्च बुधो गुरुशुक्रौ च शुभा इत्युक्तं भवति ।  
आदित्यस्य स्वीचादिषु क्रूरत्वमेव न पापत्वम् । अत्र चन्द्रस्य क्षी(ण)-  
त्वे पापफलदत्वं न स्वतो जायेते । चन्द्रस्य क्षीणत्वे अन्ये ग्रहाः  
स्थानवलादिवलवन्तोऽपि विवला भवन्ति । तस्मात् सर्वे ग्रहाः शुभानि  
न दद्युः । तेन हि क्षीणचन्द्रस्य पापत्वम् । चन्द्रादप्यर्कस्य पापत्वं,  
तस्मादपि कुजस्य, तस्मादपि शनेः । रविकुजौ तु वह्निभूतस्वरूपौ  
क्षत्रकुलाधिपौ च । तथापि रवेः सत्त्वगुणत्वादत्यन्तं पापत्वं न विद्यते ।  
कुजस्य तमोमयत्वात् पापत्वमुच्यते । शनेस्तु तमोमयत्वादन्य-  
जातित्वाद् वायुमयत्वाद् दुःखमयत्वाच्च कुजादपि पापत्वं जायेते ।  
यवनपक्षे रवेः क्रूरत्वं कुजशून्योः पापत्वमिति विशेषः । तथा च  
तद्वाक्यम् —

“क्रूरग्रहोऽर्कः कुजस्यैव तु पापौ शुभाः शुक्रशशाङ्कजीवाः”

इति । अस्य प्रयोजनं तु शुक्रग्रहैः पापग्रहैश्च बलयुतैः फलभेद उच्यते ।  
तथाच सारावल्याम् —

“आचारसत्त्वशुभशौचयुताः सुरुपा-

स्तेजस्विनः कृताविदो द्विजदेवमक्ताः ।

स्रग्बलगन्धजलभूषणसम्प्रियाश्च

मौम्यग्रहैर्बलयुतैः पुरुषा भवन्ति ॥

लुब्धाः कुरूपनिष्ठा निजकार्यनिष्ठाः

साधुद्विपः सकलहाश्च तमोभिभूताः ।

क्रूराः सदा वधरता मलिनाः कृतघ्नाः

पापग्रहैर्बलयुतैः पिशुनाः कुरुपाः ॥”

इति ॥ ५ ॥

१. ‘ति । पापग्रहाः पापफलसूचकत्वात् पापा इत्युच्यन्ते ॥ ५ ॥’ ख. ग.

अधुना ग्रहाणां प्रकृत्यादीनौपच्युन्दसिकेनाह —

बुधसूर्यसुतौ नपुंसकारूपौ

शशिशुकौ युवती नरास्तु शेषाः ।

शिखिभूखपयोमरुद्गणानां

वशिनो भूमिसुतादयः क्रमेण ॥ ६ ॥

इति । बुधसूर्यसुतौ नपुंसकारूपौ भवतः । शशिशुकौ युवती भवतः । शेषास्तु नरा भवन्ति । अत्र उत्तरत्र प्रथमं स्त्रीनिर्देशाद् बुधः स्त्रीनपुंसकमिति शनिः पुत्रपुंसकमिति च सिध्यति । अत्रार्थविशेषो धन्यते — शेषा रविकुजशुरवः पुरुषाः । तेषां मध्येऽर्कः पिता कुतो भ्राता गुरुः सुत इति । तथा शशिशुकौ युवती शशी माता शुक्रो भर्ता इति । भूमिसुतादयः क्रमेण शिखिभूखपयोमरुद्गणानां वशिनो भवन्ति । गणशब्दः पादपूरणार्थ इति केनचिद् व्याख्यातम् । तदसत् । यतोऽर्थ-वहलं स्वल्पं शास्त्रकृतं प्रारम्भ इत्युक्तवताचार्येण न केवलं पादपूरणार्थमय शब्दः प्रयुक्त इति प्रतिभाति । तस्मादयमर्थोऽत्र गम्यते गण-शब्दः प्रत्येकं योजनीयः । शिखिगणस्तावद् बहिरूषचक्षुरिन्द्रियपाद-व्यानमनोमयकोशाः । भूगणस्तु पृथिवीगन्धघ्राणेन्द्रियोपस्यप्राणाश्रमय-कोशाः । खगणो व्याकाशशब्दश्रोत्रेन्द्रियवाक्समानानन्दमयकोशाः । पयोगणः खल्वन्नसेनेन्द्रियपादव्यानप्राणमयकोशाः । मरुद्गणा वायु-स्पर्शत्वगिन्द्रियपाण्युदानविज्ञानमयकोशाः । एवमुपदेशसिद्धोऽर्थः । मेपादिराशीनामपि स्वामिग्रहोक्तान्येव भूतानीत्यवगन्तव्यं, राशीनां भूतानुपदेशात् । नन्वादित्यचन्द्रयोः कस्मान्नोक्तम् । उच्यते । तयोः पूर्वमेवाक्तं बह्व्यञ्जिवति तावेव प्रसिद्धौ । प्रयोजनं “छायां महाभूत-कृतां च सर्वेऽभिव्यञ्जयन्ति स्वदशमवाप्य” इति वक्ष्यति । तत्र जल-प्रश्ने वर्षप्रश्ने चार्य विनियोगः ॥ ६ ॥

१. 'ति । तथाचोक्तं — चन्द्रशुक्रौ स्त्रियौ शेषाविन्दुजः स्त्रीनपुंसकः । पुमांसः कुजजीवार्का रविजः पुंनपुंसकः ॥ इति । भूमिसु' ख ग. 'ति । भूमिसु' घ. ड. च. २. 'ति । तत्फलसूचका भवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ वि' ख. ग. घ. ड. च.

अधुना ग्रहाणां माहात्म्यादिगोपित्वं चोपगच्छिष्याम—

विप्रादितः शुक्रगुरु कुजार्कौ

शशी बुधश्चैत्यमितोऽन्तराणाम् ।

चन्द्रार्कजीवा ज्ञमितौ कुजार्कौ

यथाक्रमं सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ७ ॥

इति । शुक्रगुरु कुजार्कौ शशी बुधश्च विप्रादितो वर्णानामधिपत्रय इति शेषः । शुक्रगुरु विप्रौ, कुजार्कौ क्षत्रियौ, शशी वैश्यः, बुधः शूद्र इति । असितः अन्तराणाम्, अधिपतिरिति शेषः । अन्तरा अनुलोम-प्रतिलोमोः । अन्तरशब्देन विप्रक्षत्रियवैश्यशूद्रयङ्कराणेषु समीपप्रेष्यत्वमुच्यते । उद्यादिभ्यो विप्रक्षत्रियसङ्करवर्णजाः देवपार्षदा(दीनूदयः) । मध्यक्षले क्षत्रियवैश्ययोः सङ्करजाः फल्लातप्रभृतयः । नीचारिस्यः शनैश्चरः शूद्रान्तर्भूतजनाक्षण्डालादयः । राहूशिलिनोरपि तथैव । शशी बुधश्च वैश्याधिपौ । शनिः शूद्राधिनितिरिति कचित् । तथाच कृष्णीये—

“विप्रौ भृगुजेन्द्रगुरु क्षत्रियभावौ दिवाकरोर्वीजौ ।

वैश्यौ बुधचन्द्रमसौ शनैश्चरः शूद्रमङ्काकृतौ ॥”

इति । शुक्रगुरु इत्यत्र शुक्रो मध्यमग्राहणः । गुरुहृत्तमग्राहणः । राशि-ग्रहसम्बन्धवशाच्छेषम् । कुजार्कावित्यत्रायं न्यायो द्रष्टव्यः । कुजो माण्ड-लिकः रविः सार्वभौमः । सामाद्युपायचतुष्टयजनयाधिपत्यमप्य)नेन सूचितम् । शुक्रगुर्वोर्विप्रत्वात् मामाधिपत्यमूहम् । कुजार्कयोः क्षत्रिया-धिपत्वाद् दण्डाधिपत्यमवगन्तव्यम् । शशिनो वैश्यत्वाद् दानाधिपत्यं ज्ञेयम् । बुधश्चन्योरन्यवर्णाधिपत्वाद् भेदाधिपत्यं वेद्यम् । तथा च मङ्गलान्विज्ञये—

“मासो भृगुक्षिरमौ दण्डाधीशौ दिवाकरोर्वीजौ ।

दानाधिपः शशाङ्को भेदस्य बुधार्कपुत्रौ च ॥”

इति । ग्रहाणां द्विपदचतुष्पदपक्षिसरीसृपत्वमप्यनेन सूचितम् । विप्र-

शब्देन द्विपात्प्रचरो हि ब्राह्मणजनः । शुक्रगुरु द्विपदौ, कुजाकौ चतुष्पदौ  
शशी सरीसृपः, बुधामितौ पक्षिणौ इति । तथाच कृष्णये—

“सूर्यात्मजेन्दुपुत्रौ पक्षिमितौ सरीसृपश्चन्द्रः ।

द्विपदौ भृगुदेवगुरु चतुष्पदौ भूमिपुत्राकौ ॥”

प्रयोजनं हृतनष्टादिषु ग्रहबलाचोरादीनां ग्रहोक्तवर्णप्रभवः । एवमुपघाते  
तद्वर्णोपघातः । चन्द्रार्कजीवाः ज्ञसितौ कुजाकौ यथाक्रमं सत्त्वरजस्तमांसि  
भवन्ति । चन्द्रार्कजीवाः सत्त्वगुणसूचकाः

“सात्त्विकं शौचमास्तिक्यं शुभं कर्म रतिर्मतिः ।”

ज्ञसितौ रजोगुणसूचकौ

“राजसं बहुभाषित्वं मानक्रुद्धम्भमत्सराः ।”

कुजाकौ तमोगुणसूचकौ

“तामसं भयमज्ञानं निद्रालसं विपादितौ”

इति । यस्मिन् ग्रहे बलवति जातस्तद्गुणस्वभावो भवति । पूर्वमभिहितं  
'सत्त्वं कुज' इति । तच्चन्द्रार्कजीवाः पुनः किमित्युक्तम् । उच्यते । इह  
गुणवचनः सत्त्वशब्दः, तत्र शौर्यपर्यायः, यत् सिंहादीनामप्यस्ति ।  
तथाच—

“एकाकिनि वनवासिन्यराजलक्ष्मण्यनीतिशास्त्रज्ञे ।

सत्त्वोच्छिन्ने मृगपतौ (राजशब्दः ? राजेति गिरः) परिणमन्ति ॥”

(इति ।)

अथ गुणस्वरूपं—

“यः सात्त्विकस्तस्य दया स्थिरत्वं

सत्यार्जवं ब्राह्मणदेवभक्तिः ।

रजोधिकः काव्यकलाक्रतुस्त्री-

संप्रक्तचित्तः पुरुषोऽतिशूः ॥

तमोधिको वञ्चयिता परेषां

मूर्खोऽलसः क्रोधपरोऽतिनिद्रः ।

मिश्रैर्गुणैर्मिश्रगुणस्वभावा

भवन्ति सर्वेऽपि शरीरमाजः ॥ ”

इति । अथवा यस्य त्रिंशंशे रविः तद्गुणप्रधानः पुरुषो भवति ।  
तथाच स्वल्पजातके —

“सत्त्वं रजस्तमो वा त्रिंशंशे यस्य भास्करस्तादृक् ।

इति ॥ ७ ॥

मधुना चन्द्रार्कयोः स्वरूपं तोरकेना(१)ह—

मधुपिङ्गलदृक् चतुरश्रतनुः

पित्तप्रकृतिः सविताल्पकचः ।

तनुवृत्ततनुर्ध्रुवातकफः

प्राज्ञश्च शशी मृदुवाक् शुभदृक् ॥ ८ ॥

इति । सविता एवंविधगुणो भवति । मधुपिङ्गलदृक् मधुवत्  
पिङ्गले दृश्यो यस्य स तथा । चतुरश्रतनुः तिर्यक्प्रसारितमुज्ज्वलगलप्रमाण-  
दैर्घ्ययुक्तशरीर इत्यर्थः । पित्तप्रकृतिः

“पित्तं दाहिव्राह्मिजं वा यदस्मात् पित्तोद्विक्तस्तीव्रतृष्णो बुधधुः”

इत्याद्युक्तगुणयुक्तशरीरः । अल्पकचर्थः । पुनर्मात्रफलाध्याये ‘शूरः  
स्तब्ध’ इति वक्ष्यति । तदनेन योज्यम् । व्याधिग्रस्तोपयोगार्थमन्योऽर्थो  
ध्वन्यते मधुपिङ्गलदृगिति नयनविकलः । अल्पकचः नष्टकचः । पित्त-  
प्रकृतिः पित्तप्रधानदाहोष्णज्वरादयः(१)इत्यादि । तनुवृत्ततनुरिति ।  
शशी तनुवृत्ततनुर्भवति । ह्रस्ववर्तुलदेहः ध्रुवातरफः वातश्लेष्मविश्व-  
प्रकृतिरित्यर्थः । प्राज्ञः विद्वान् । मृदुवाग् अतीक्ष्णवचनः । शुभदृक्  
शोभनेत्रः । मधुपिङ्गलदृक् शुभदृग् इत्याभ्यां विशेषणाम्यां चन्द्रार्कयो  
र्नेत्रगनाविशेषव्यञ्जकं वं धोत्यतः ॥ ८ ॥

१ सार्धेतिमि. श्लोकैर्ब्रह्मणां रूपमाह— १. ग २. ‘ध्विब पिङ्ग’ घ. छ. घ.

३. ‘घः मधुपिङ्गलदृक् । चतु’ घ. छ. च ४. ‘चःस्वरकेनाः शशी’ स्त. घ. घ. छ. घ.

५. ‘तिर्यक्प्रकृति’ घ



क्रूरदृक् तरुणमूर्तिरुदारः

पैत्तिकः सुचपलः कृशमध्यः ।

श्लिष्टवाक् सततहास्यरुचिर्ज्ञः

पित्तमारुतकफप्रकृतिश्च ॥ ९ ॥

इति । कुज एवंविधगुणो भवति — क्रूरदृक् तरुणमूर्तिः तरुणवयसि फलप्रदत्वं द्योत्यते । उदारः दाता कीर्तिप्रिय इत्यर्थः । पैत्तिकः आग्नेयत्वात् पित्तप्रधान इत्यर्थः । सुचपलः धैर्यरहितः । कृशमध्यः मध्ये कृशः दर्शनीयः । क्रूरं पश्यतीति क्रूरदृक् । अनेन नाम्ना निर्देशात् प्राणिवधरुचिरिति द्योत्यते । अथवा क्रूरा दृगस्येति कुजदृष्टेरशुभत्वं सूचितम् । तथाच सारावल्यां —

“हृष्यः पिङ्गलोचनो दृढवपुर्दांष्टाग्निकान्तिश्चलो

मज्जावानरुणाम्बरः पटुर्तैरः शूरश्च निष्पन्नवाक् ।

हिंस्रः कुञ्चितदीप्तकेशतरुणः पित्तात्मकस्तामस-

श्चण्डः साहसिको विघातकुशलः संलक्षणीरुः कुजः ॥”

इति । ज्ञ एवंगुणः श्लिष्टवाक् श्लिष्टा श्लेषवती चाग्नेयस्य स तथा । व्यङ्ग्यप्रधानवचन इति यावत् । सततहास्यरुचिः हास्यरसकुशलः । पित्तमारुतकफप्रकृतिश्च भूम्यात्मकत्वाद् भूमेश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-गुणात्मकत्वात् सन्निपातप्रकृतिरित्यर्थः । अत एव योगवाही च भवति ॥ ९ ॥

जीवशुक्रयोः स्वरूपं वंशस्थेनाह —

वृहत्तनुः पिङ्गलमूर्धजेक्षणो

वृहस्पतिः श्रेष्ठमतिः कफात्मकः ।

भृगुः सुखी कान्तवपुः सुलोचनः

कफानिलात्मासितवक्रमूर्धजः ॥ १० ॥

इति । बृहस्पतिर्वेङ्गुणो भवति । बृहत्तनुः स्थूलकायः । पिङ्गल-  
मूर्धजेक्षणः पिङ्गलकेशः पिङ्गलनेत्रश्च । काचनेत्र इत्यन्यत्र पठ्यते ।  
नेत्रविकारस्पृक्त इत्यर्थः । श्रेष्ठमतिः शास्त्रोपसृतशुद्धिः, विशिष्ट-  
बुद्धिरित्यर्थः । कफात्मकः श्लेष्मप्रधानः । तथाच सारावल्याम्—

“ईषत्पिङ्गललोचनः श्रुतिपरः सिंहाब्दनादः स्थिरः  
सत्त्वाढ्यः सुविशुद्धकाञ्चनवपुः पीनोन्नतोरःस्थलः ।  
हस्रो धर्मपरः सुनीतिनिपुणो बद्धोत्कटाक्षः क्षमी  
व्यापीताम्बाभृत् कफात्मकतनुर्मेदःप्रधानो गुरुः ॥”

इति । भृगुरेवंगुणः । सुखी भोगप्रधानः । कान्तवपुः कमनीयशरीरः ।  
सुलोचनः शोभननेत्रः । कफानिलात्मा श्लेष्मवातप्रकृतिः । असित-  
वक्रमूर्धजः कृष्णकटिलकेशः । तथाच सारावल्याम्—

“चारुर्दीर्घशृङ्गः पृथुरुवदनः शुक्राधिकः कान्तिमान्  
कृष्णाकृश्चितस्रक्षमलम्बिनिकुरो दूर्याङ्गुरश्यामलः ।  
कापी वातकफाधिकोऽसितशुभगाश्चिन्ताम्बरो राजसो  
लीलावान् मतिमान् विशालनयनः स्थूलात्मदेहः सितः ॥”

इति ॥ १० ॥

शमैश्वर्यरूपादिकं यसन्ततिलकेनाह—

मन्दोऽलसः कपिलदृक् कृशदीर्घगात्रः  
स्थूलद्विजः परुषरोमकचोऽनिलात्मा ।  
ह्लाद्यश्च्यसृक् त्वगथ शुक्लवसे च मज्जा  
मन्दार्कचन्द्रबुधशुक्रसुरेड्यमौमाः ॥ ११ ॥

इति । एवंगुणो मन्दः । अलसः मन्दोत्साहः । कपिलदृक् नेत्र-  
विकारी । कृशदीर्घगात्रः कृशं च दीर्घं च गात्रं यस्य स तथा । स्थूल-  
द्विजः विकृतदन्त इत्यर्थः । परुषरोमकचः केशरमश्चादिघातशील

इति यावत् । अनिलात्मा वातप्रकृतिः । किमर्थं रोमशब्दः कचशब्दश्च  
 सहप्रयुक्ताविति चेदुच्यते कर्णस्याधोभागेऽपि परुषाणि रोमाणि बहूनि  
 सन्ति इति ज्ञापनार्थम् । एतत्सर्वं बलहीनस्य मन्दस्येति मन्यामहे ।  
 बलयुतस्यान्यथा दृश्यते ज्ञानसामग्र्यं श्रेष्ठतादि । राहुर्मन्दममः ।  
 केतुर्भौमममः । इत्याद्यन्यशास्त्रोक्तमत्रापि द्रष्टव्यम् । उत्तरार्धेन  
 ग्रहाणां शरीरधातुसम्बन्धमाह— मन्दार्कचन्द्रबुधशुक्रसुरेव्यभौमाः स्नायुः  
 अस्थि असृक् त्वक् शुक्लवसे मज्जा च भवन्तीति शेषः । अथशब्दः  
 कात्स्न्ये । यथोक्तानां कात्स्न्येन अधिपतयः पृथक् पृथग् आत्मीय-  
 धातुसारदेहा इत्यर्थः । तत्र मन्दः स्नायुसारः । स्नायुशब्देन ग्रथित-  
 सिरासङ्घात उच्यते । सिरालदेह इत्युक्तं भवति । अर्कोऽस्थिसारः ।  
 चन्द्रो रुधिरसारः । रुधिरशब्देन मांसमप्याक्षिप्यते । रुधिरस्य जीव-  
 नावस्थायामेव सङ्ग्रावात् । अतो मृगादिषु मांसविषयविशेषकथनं  
 चन्द्रेणैवेत्यवगन्तव्यम् । बुधस्त्वक्सारः । त्वक्शब्देन रसधातुरेवो-  
 च्यते । धात्वग्निना पच्यमानाद्रसधातोरसृग्भावे त्वचः सम्भवात् ।  
 तथाच बाहटः— “तत्रै सप्त त्वचोऽसृजः । पच्यमानात् प्रजायन्ते  
 क्षीरात् सन्तानिका इव ॥” इति । शुक्रः शुक्लसारः । गुरुर्वसासारः  
 मेदस्मार इति यावत् । भौमो मज्जासारः । मज्जा नाम अश्रामन्त-  
 र्वर्तमानस्तदवष्टम्भकरो धातुः । जन्मनि यो ग्रहो बलवान् तदुक्तधातु-  
 सारश्च भवति । अन्यथा तेषु रोगादिना पीडा च । व्याधिप्रक्षेपे यद्युप-  
 यक्ष नवांशो लभे वर्तते तत्स्वामिनो बलवशादमिहितदोषेण वा  
 पीडा ॥ ११ ॥

अधुना ग्रहाणां स्थानादीन् शार्दूलवित्रीदितेनाह—

देवाम्भग्निविहारकोशशयनक्षित्युत्कराः स्युः क्रमाद्  
 वलं स्थूलममुक्तमग्निकहंतं मध्यं दृढं पाटितम् ।

ताम्रं स्यान्मणिहेमशुक्तिरजतान्यर्कात् मुक्तायसीः'

द्रेक्काणैः शिशिरादयः शशुरुचज्ञग्वादिपूद्यत्सु वा ॥ १२ ॥

इति । अर्कात् क्रमाद् देवाम्बुग्निविहारकोशशयनक्षित्युत्कराः  
स्फुरित्यनयः । अर्कात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । अर्कादारभ्येति यावत् ।  
अर्कस्य देवालयं स्थानम् । चन्द्रस्य जलाशयः । तेन समुद्रनदी-  
तटाकवापीकृत्पादिरुक्तः । तदपि चन्द्रबलवशाद् राशिबलाच्च कल्प-  
नीयम् । भौमस्याग्निः स्थानम् । तेन श्रौतमार्ताग्निर्वा पाकशालासु पचन-  
साधनभूतो वा श्मशानाग्निर्वा । तदपि भौमस्य बलानुसारेण द्रष्टव्यम् ।  
बुधस्य विहारः । तेन क्रीडामवनोद्यानादिरुक्तः । गुरोः कौश-  
गृहम् । शुक्रस्य शयनगृहम् । जनेः क्षित्युत्करः उच्छिष्टक्षेपणस्थानम् ।  
बलवति ग्रहे ग्रहोक्तस्थाने प्रसवज्ञानं हवनष्टादिषु चोरादेरव-  
स्थानं च प्रयोजनम् । अर्काद् वस्त्रं स्थूलादि । अर्कस्य स्थूलं स्थूलैः  
सूत्रैर्निर्मितम् । चन्द्रस्य अशुक्तं नववस्त्रम् । कुजबुधयोः अतिक्रम्यम् ।  
कुजस्याग्निहृतम् । दग्धैर्दशमिति यावत् । बुधस्य कृतं जलक्षिप्तं  
मलिनं लिङ्गं वा । तथाच कुप्णीये -

“मलिनच्छिद्यदृढादृढदग्धस्थूलाम्बुधौतजीर्णानि ।

सौम्येन्दुगुरुशुक्रजम्भजशिशिभृगुसूर्यजानां स्युः” ॥

इति । गुरोर्मध्यम् । नातिनवं नातिजीर्णं च । अतिबलिष्ठे पीतवर्ण-  
रूपितपट्टवस्त्रादि । शुक्रस्य दृढं कालान्तरस्थायि चिन्त्रित्रीकृतपट्ट-  
वस्त्रादिकं वा । जनेः पाटितं लिङ्गभिन्नजीर्णवस्त्रम् । अतिबलपुत्रस्य  
कृष्णवर्णरूपितपट्टवस्त्रमिति । प्रयोजनं सूक्तिकालप्रज्ञानं हवनष्टादि-  
चिन्तायां चोरादेर्वलवद्ग्रहवशाद् दस्यज्ञानम् । अर्काद् द्रव्याणि ।  
अर्कस्य ताम्रम् । चन्द्रस्य मणयः वैदूर्यादयः । कुजस्य हेम । बुधस्य  
शुक्तिः । यमलरूपाणीति यावत् । गुरोः रजतं रूप्यम् । ‘बलवत्ये  
हेम’ इति बादरायणप्रचनम् । शुक्रस्य मुक्ता मौक्तिकम् । जनेः अपः  
कृष्णलोहः, सीमन्तपुणी च । तथाच बादरायणः—

१. ‘य. । भौमस्याग्निशाला बुधस्य विहार. वीद्यावातः । ‘वीद्यानां तु  
विहारोऽग्नी’ इत्यमरः । गु’ ग. म. घ. छ. च २. ‘यल’ द.

“अर्कस्य ताग्रं मणयो हिमांशोभौमस्य हेमं शशिऋस्य शुक्तिः ।  
जीवस्य रूप्यं स्वगृहे स्थितस्य तस्यैव हेमं भृगुजस्य मुक्ता ॥  
तीक्ष्णांशुदेहप्रभवस्य सीसं कृष्णायसं च प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।”

इति प्रयोजनं छतिः। गृहे बलवद्ग्रहद्रव्यसत्ता हतनष्टादिचिन्तायां च तद्-  
द्रव्यनाशपरिज्ञानं तच्छुभदशयां तस्मिन्नुपचयस्य च तदाप्तिः उक्त-  
विपरीते हानिरिति । अथ ग्रहाणामृतव उच्यन्ते— शशुरुचञ्जवा-  
दिषूयत्सु शिशिरादयः । आद्यक्षरेण ग्रहाणां नामोच्यते । शंदिः  
शनिः तस्य ऋतुः शिशिरः । शु शुक्रः तस्य वसन्तः । रु रुधिरः  
तस्य ग्रीष्मः । च चन्द्रः तस्य प्रावृट् । जः बुधः तस्य शरत् । गु गुरुः  
तस्य हेमन्तः । वाशब्दो भिन्नक्रमः । द्रेकाणैर्वा, एषामुदयामावे द्रेकाणैः  
ऋतुः कल्पनीयः । शनिद्रेकाणेन शिशिरः शुक्रद्रेकाणेन वसन्तः  
इत्यादि द्रष्टव्यम् । आदित्यस्य ऋतुं नष्टजातके वक्ष्यति— ‘ग्रीष्मोऽर्क-  
लगे’ति । अतः कुजार्कयोरुदये तद्द्रेकाणोदये च ग्रीष्मो वक्तव्यः ।  
अत्र ग्रहाणामृतविशेषकथनेन अन्येऽपि फलपाकनिर्देशोपयोगिनश्चार-  
विशंपरारताः। राशिकालोरादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । अत्रोक्तानां ग्रहजात्या-  
कारवर्णगुणस्थानवस्त्रद्रव्यकालादीनां ग्रहोदयवद् ग्रहदृष्ट्यापि नष्ट-  
मुष्टिचिन्तादिषु फलाफलवशेन विशेषो ज्ञातव्य इति । प्रयोजनं  
नष्टजातके ऋतुनिर्देशः हतनष्टादिचिन्तायां च ‘अन्तःसाराञ्जनयति  
रविरिति’ वक्ष्यमाणग्रन्थोक्तग्रहवृक्षाणां तस्मिन् ऋतौ फलकृत्यमादि-  
धारणं च द्रष्टव्यम् । अत्राचार्येण ग्रहाणां शाखाधिपत्यं नोक्तम् ।  
उक्तं च स्वल्पज्ञातक — ‘ऋगधर्वसामयजुषामधिपा गुरुसौम्यभौमसिता’  
इति । प्रयोजनं चास्य वक्ष्यते शाखाधिपे ब्राह्मणो जातस्तच्छाखा-  
पाठको भवति । ब्राह्मणे चोरे जाते (त)च्छाखाभिज्ञानम्, अनिष्टस्था-  
नस्य ग्रहे तन्मन्त्रैः शान्तिरिति ॥ १२ ॥

ग्रहाणां दृष्टिस्थानानि मन्त्रुभाषिण्याह—

त्रिदशत्रिकोणचतुरश्रसप्तमा-

नवलोकयन्ति चरणाभिवृद्धितः ।

रविजामरेद्व्यरुधिगः परे च ये

क्रमशो भवन्ति किल वीक्षणेऽधिकाः ॥ १३ ॥

इति । रविजामरेद्व्यरुधिराः परे ये ते च त्रिदशत्रिकोणचतुरश्र-  
सप्तमान् चरणामिष्टद्वितोऽवभोक्यन्तोत्यन्वयः । त्रिदशस्थानयो-  
श्चतुर्थांशं पश्यन्ति त्रिकोणयोरर्धं पश्यन्ति चतुरश्रयोश्चरणत्रयं पश्यन्ति  
सप्तमे सर्वं पश्यन्ति । क्रमशः वीक्षणेऽधिका भवन्ति किल । रवितः  
त्रिदशस्थानयोरपि दर्शनेऽधिकः । सर्वं पश्यतीत्यर्थः । तथा अमरे-  
द्व्यस्त्रिकोणयोः सर्वं पश्यति । तथा कुत्रश्चतुरश्रयोः सर्वं पश्यति ।  
सर्वेऽपि सप्तमे सर्वं पश्यन्तीति पूर्वमेवोक्तम् । तथा च यवनेश्वरः—

“जामित्रभे दृष्टिफलं समग्रं स्वपादहीनं चतुरश्रयोश्च ।

त्रिकोणभे दृष्टिफलार्धमाहुर्दुधित्संज्ञे दशमे च पादम् ॥”

गार्ग्यश्च विशेषदृष्टिलक्षणमाह -

“दुधित्संज्ञे दशमानार्कस्त्रिकोणस्थान् बृहस्पतिः ।

चतुर्षाष्टमगान् भौमः शेषाः सप्तमसंस्थितान् ॥”

इति । अर्धादेव ग्रहोऽनुक्तस्थानानि न पश्यति । तथा च यवनः—

“द्वौ पश्चिमौ पृष्ठमथ द्वितीयं संस्थानराशेः पश्चिहृत्य राशिम् ।

शेषान् ग्रहः पश्यति सार्वकालमिष्टेषु चैषां विहिता दृगिष्टा ॥”

इति । क्लृप्तशब्देन ग्रहदृष्टेरनिश्चितत्वं सूचितम् । मर्यप्रश्नजातक-  
विषयेऽवश्यं विचार्यत्वं सूचितम् । अनेन श्लोकेन ग्रहाणां कक्ष्या-  
क्रमः कालहोराधिपत्यं च सूचितम् ॥ १३ ॥

मार्गुता ग्रहाणां कालनिर्देशं धैतालिङ्गेनाह—

अयनक्षणवासरर्तवो

मांसोऽर्धं च समा च भारकशात् ।

कटुकलवणातिक्तामिश्रिता

मधुराम्लौ च कषाय इत्यपि ॥ १४ ॥

१. 'सं दृष्टा य' २. 'सं दृष्टा य' छ. च. ३. 'मोर्दृष्टि' छ ४. 'रि  
दशमे मन्दधि' छ. 'रुद्रशानार्कः' च. ५. 'कटुपाकममयानार्धं ग्रहाणां काल-  
विशेषानाह—' छ. ग. घ. च. छ. ६. 'मोऽर्धं य' घ. छ.

इति । भास्करादयनक्षणावासरतर्वैः मासः अर्धं च समा च भवन्तीत्यन्यथः । आदित्यस्य अयनारूपः कालांशकः, चन्द्रस्य क्षणारूपः, कुजस्य वापरः, बुधस्य ऋतुः, गुरोर्मासः, शुकस्यार्धमासः, शनैश्चरस्य संवत्सरः । अनेन लग्ननवांशकवशाद् रिपुविजयादिकालनिर्देशः । तथाच मणिन्धः—

“वक्तव्यो रिपुविजये गर्भाधाने च कार्यसंयोगे ।  
लग्नांशरूपतितुल्यः कालो लग्नांशसममङ्गलः ।”

इति । लग्नाधिपेन लग्नांशकाधिपेन लग्नस्थितेन वा कालो वक्तव्यः । लग्ने यस्य ग्रहस्य नवांशकोदयः स ग्रहस्तस्मान्नवांशकाद् यावत्सङ्ख्ये नवांशे भवति तावत्सङ्ख्योऽयनादिको ग्रहोपलक्षितः कालः शुभाशुभफलस्य पक्षौ वाच्य इति केचित् । उत्तरार्धेन ग्रहाणां रसविशेषानाह—भास्करात् कटुकलवणतिक्तमिश्रिताः मधुराम्लौ च कषायश्च इत्यपि । भास्करस्य कटुको रसः चन्द्रस्य लवणः कुजस्य तिक्तः बुधस्य मिश्रः गुरोर्मधुरः शुकस्याम्लः शनैश्चरस्य कषायः । प्रयोजनम् आधानशाले यो ग्रहो बलवान् तदुक्तरमदोद्दो गर्भिण्या भवति । जन्मकाले केन्द्रगतग्रहरमामिहचिः । भोजनप्रश्नादाबुदयारूढवशाद् वा केन्द्रगतग्रहैर्वा पटुस्थानेन वा पटुमाश्विन्याः । उदयारूढयोर्विवर्तयति राशौ ओजे रूक्षमजं युग्मे सौम्यं ‘क्रूरः सौम्य’ इत्युक्तत्वात् । जलराशौ जलग्रहदृष्टियोगे चार्द्रम् । तथा चोक्तं—

“शुभोदये भवेन्मिश्रं भोजनं जीवनाश्रयम् ।

शुभराशुदये तद्वदार्द्रं युग्मजलर्क्षयोः ॥

पापोदये क्रूरज्ये तूष्णमत्युष्णकारकम् ॥”

इति । ‘भौमस्वारिचिमर्दे’त्यादिश्लोकेनाविकाजाधिपत्यमुक्तं भौमस्य । तस्माद् भौमसम्बन्धे माहिपदव्यादि, चन्द्रसम्बन्धे इक्षुधीरविकारादि चिन्त्यम् इत्याद्युक्तम् । ‘निगदितमिह चिन्त्यं क्षतिकालेऽपि युक्ता’

इत्युक्तत्वात् सर्वत्र देशजातिदशाकाला निरूपणीयाः । चतुष्पाद्राशौ  
द्रवा वाच्याः । 'अन्तःसागानि'त्यनेनोपदेशभेदाश्चिन्त्याः । 'ते चराग-  
द्विदेहा' इत्युक्तविधिना आसनम्य(मच)रादित्वं चिन्त्यम् । 'जीर्णं  
संस्कृतमि'त्यनेन गृहविशेषाश्चिन्त्याः । 'प्रागाद्या' इत्यादिना राशिपुत्र-  
वशेन भोजनः प्रागाद्यभिमुखत्वमूह्यम् । मधुराम्लाविति समासाद् द्वयो-  
र्गुरुशुक्रयोर्मधुराम्लसम्बन्धोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

इति ग्रहयोगेक्षणवशाच्चिरूप्य चक्षुष्यानि मष्टमुष्टिचिन्ताग्रयनौपयोगिकानि जात्या-  
कृतिवर्णगुणद्रव्यवस्त्रदेशकालरमादीनि निर्दिश्य ग्रहाणां बलाबलनिरूपणाय शत्रुमित्रो-  
दासीनोर्विधिं शार्दूलविधौहितेनाह—

जीवो जीवयुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभूजाः क्रमाद्  
वीन्द्रर्का विकुजेन्द्रिनाश्च सुहृदः केपाश्चिदेवं मतम् ।

सत्योक्ते सुहृदस्त्रिकोणभवनात् स्वात् स्वान्त्यधीधर्मपाः

स्वोच्चायुस्सुखपाश्च लक्षणविधेर्नान्ये विरोधादिति ॥ १५ ॥

इति । केपाश्चिन्मतमेवमिति सम्बन्धः । अर्कस्य जीवः सुहृद् ।  
चन्द्रस्य जीवयुधौ सुहृदौ । कुजस्य सितेन्दुतनयौ सुहृदौ । बुधस्य  
अर्कादन्ये पञ्च सुहृदः । गुरोर्भौमादन्ये पञ्च सुहृदः । शुक्रस्य  
चन्द्रार्कां विना चत्वारः सुहृदः । शनैश्चरस्य चन्द्रार्ककुजान् विना त्रयः  
सुहृदः । अन्ये शत्रवः इति । केचिद् यवनेश्वरादयः । तथा च—

“रवेर्गुरुर्मित्रमतोऽन्यथान्ये गुरोस्तु (मौम्यंभौमं)परिहृत्य सर्वे ।

चान्द्रेरनर्का भृगुनन्दनस्य त्वर्केन्दुवर्जाः सुहृदः प्रदिष्टाः ॥

भौमस्य शुक्रं शशिजं च मित्रमिन्द्रोर्बुधं देवगुरुं च विद्यात् ।

सौरस्य मित्राण्यकुजेन्दुसूर्याः शेषान् रिपून् विद्धि नृणां च तद्वत् ॥”

इति । केपाश्चिन्मतमुपदिश्य स्वामिप्रेतं सत्याचार्यमतमाह—सत्योक्ते  
स्वात् त्रिकोणभवनात् स्वान्त्यधीधर्मपाः स्वोच्चायुःसुखपाश्च सुहृदः ।  
लक्षणविधेर्विरोधादन्ये नेत्यन्वयः । 'सिंहो वृष' इत्याद्युक्तलक्षणात्

१. 'य तेषां स' घ. २. 'शत्रुवदिशति स्त्रीकद्रव्येन—' घ. ग. घ. च. ३. 'धी

मान्ये' छ.





सुहृद् भवतीति वदन्ति । ते च यवनेश्वादयः । तथा च तद्वाक्यम्—

“मूलत्रिकोणाद् धनधर्मवन्धुपुत्रव्ययस्थानगता ग्रहेष्ट्याः ।

तत्कालमेते सुहृदो भवन्ति स्वं च यो यस्य विरुष्टवीर्यात् ॥”

इति । अन्यथा अरयः । अन्यत्र म्रिताः शत्रवो भवन्ति । नैमर्गिकान्  
मेकानुक्तमथान् सुहृत्समरिपून् सञ्चिन्त्य पुनस्तत्कालेन \*अधिसुहृन्मित्रा-  
दिभिः कल्पयेत् । मेकानुक्तमथान् एकस्य ग्रहस्य द्वे क्षेत्रे विद्यन्ते, तत्र  
द्वयोरपि वन्धुत्वे वन्धुः । एकस्य वन्धुत्वे उदासीनः । द्वये रस्यनुक्तत्वे  
शत्रुः । एवं नैमर्गिकाः सुहृत्समरिपवः सञ्चिन्त्याः । पुनर्नैमर्गिकवन्धो-  
स्तत्कालसुहृत्स्ते अधिवन्धुन्व, नैमर्गिकसमस्य तत्कालवन्धुत्वे वन्धुत्वं,  
नैमर्गिकवन्धोस्तत्कालशत्रुत्वे समत्वं, नैमर्गिकसमस्य तत्कालशत्रुत्वे  
शत्रुत्वं, नैमर्गिकशत्रोस्तत्कालशत्रुत्वेऽधिशत्रुत्वम् इति द्रष्टव्यम् । एवं  
ग्रहाणां परस्परं पञ्चाविधो वन्धः तदीयपञ्चगार्थयबलानिरूपणे ग्राह्यः ।  
तथोक्तं श्रीपतिना—

“स्योषे रूपं चाणरहितं स्वत्रिकोणं स्वमेऽर्धे

नागांशानां त्रयमधिसुहृद्गते मित्रमेऽङ्घ्रिः ।

अंशोऽष्टानां समग्रहगते भूपभागोऽग्निगै

दन्तांशः स्यादधिरिपुगृहं नीचमे शून्यमेव ॥”

(इति ।) अस्मिन्मूलोके किञ्चिदर्धान्नरपि सूचितम् । लग्नेशाद् धनव्ययादि-  
स्थानेषु यद्वावाधिपतिः स्थितः तद्वागममृद्धिः । मित्रादिकारकाः  
सूर्यादयो बलवन्तः शुभदृष्टलग्नेशादुक्तस्थानेषु गताश्चेत् ते मित्रादयो-  
ऽतिसुहृदो भवन्ति । तद्वागममृद्धिः धनव्ययस्थानगताः मित्रादिकारका-  
श्चेत् मित्रादयोऽतिसुहृदो भवन्ति ॥ १६ ॥

१. ‘उक्तये व’ घ. २. ‘अतिव’ ट. घ. ३. ‘उक्तये व’ घ. ४. ‘कान्’

५. ‘पून् तं’ ६. ‘नल’ ग. घ. ७. ‘एव नैमर्गिकवन्धोस्तत्कालशत्रुत्वे समत्वं, नैम-  
र्गिकसमस्य तत्कालवन्धुत्वं, मित्राव नैमर्गिकशत्रोस्तत्कालशत्रुत्वम्’ ट.

\* अधिसुहृदित्वाद् अतिसुहृद् इत्यापि पाठान्तरं दृश्यते ।

अधुना ग्रहाणां स्थानबलं दिग्बलं च (तोटीदीप) ब्रूनाह

स्वोच्चसुहृत्स्वदृगाणनवांशैः

स्थानबलं स्वगृहोपगतैश्च ।

दिक्षु बुधाङ्गिरसौ रविभौमौ

सूर्यसुतः सितशीतकरौ च ॥ १७ ॥

इति । स्वोच्चसुहृत्स्वदृगाणनवांशैः स्थानबलं भवति । स्वगृहोप-  
गतैश्च स्थानबलम् । स्वगृहोपगतैश्चेत्यनेन स्त्रीराशौ युग्मराशौ स्त्रीग्रहौ  
चन्द्रशुक्रौ, अन्ये ग्रहाः पुरुषराशावोजराशौ बलवन्त इत्युक्तं भवति ।  
अत्र गतशब्देन राशिगतिवशाद् ग्रहाणां बलभेदोऽस्तीति ज्ञापितम् ।  
आदिद्रेक्षाणे स्त्रीग्रहस्य, मध्यद्रेक्षाणे नपुंसकग्रहस्य, अन्त्यद्रेक्षाणे पुरुष-  
ग्रहस्य बलम् । तथाच सारावल्यां—

“स्त्रीपुंनपुंसकार्याः क्षेत्रेष्वाद्यान्त्यमध्यसम्प्राप्ताः”

इति । अथ दिग्बलमाह— दिक्ष्विति । पूर्वस्यां दिशि उदयकाले  
बुधाङ्गिरसौ बलवन्तौ, दक्षमराशौ मध्यन्दिनकाले रविभौमौ बल-  
वन्तौ, पश्चिमस्यां दिश्यस्तमये सूर्यसुतो बलवान्, अर्धरात्रे चतुर्थभावे  
चन्द्रशुक्रौ बलवन्तौ स्तः । यां ग्रहो यत्र बली तस्मात् सप्तमस्थानस्थो  
विवली भवति । मध्ये तदनुपातत ऊह्यम् । तथाच यवनेश्वरः—

“गुर्वेन्दवौ पूर्वविलग्नसंस्थौ नमःस्थानस्थौ च दिवाकरारौ ।

सौरौऽस्तगः शुक्रनिशाकर्ग तु जले स्थितावप्यबलौ भवेताम्” ॥१७॥

(इति)

अधुना ग्रहाणां क्षेत्रागलम् (तोटीदीप?) ब्रूनाह—

उदगयनं रावेशीतमयूखं

वक्रसमागमगाः परिशेषाः ।

१. 'यलविशेषानाह—' घ. २. 'लम् । अर्थ' ख. ग. घ. ङ. च. ३. 'अतौ  
भवतः, द' ४. 'प्राहृष्टां रु. ५. 'सप्तमे पश्चिमस्थौ दिशि सूर्यामत्रो व' ङ.  
६. 'सप्तमे स' क. ७. 'स्तः ॥ १७ ॥' ख. ग. ८. 'वेष्टाबलमाह—' घ.

विपुलकरा युधि चोत्तरसंस्था-

चेष्टितवीर्ययुताः परिकल्प्याः ॥ १८ ॥

इति । उदगयने रविशीतमयूखौ चेष्टितवीर्ययुतौ । परिशेषाः  
यक्रसमागमगाः चोष्टितवीर्ययुताः परिकल्प्याः । परिशेषाः कुजादयः  
ताराग्रहाः यक्रं प्राप्ताः, आदित्याद् दूरं गेता इति यावत् । समागमं प्राप्ता-  
श्चन्द्रसमीपस्था इति यावत् । युधि उत्तरसंस्थाः विपुलकराश्च चेष्टितवीर्य-  
युता इति सम्बन्धः । ताराग्रहाणां परस्परं योगो युद्धमियुन्यते ।  
तत्रोत्तरस्थो जयति दक्षिणस्थः परिभूयते ।

“इदाचिदक्षिणस्थोऽपि क्षयीं शुक्रः प्रकीर्त्यते ।

वर्णराजेमप्रभायोगादूहं चैतत् स्वया धिया ॥”

इति द्योतयितुं विपुलकरा इत्युक्तम् । आदित्यस्य विप्रकर्षः चन्द्रस्य  
मन्त्रिक्यः परस्परयोगे उत्तरदिक्स्थितिश्च चेष्टितवीर्ययुत्पादयतीति  
द्रष्टव्यम् ।

“दिवमङ्गेरेणास्तमयः समागमः शीतरश्मिमहिषानाम् ।

मौमादीनां युद्धं निगद्येतऽन्योन्ययुक्तानाम् ॥”

इति संहितायामुक्तम् ॥ १८ ॥

“ग्रहाणां बालबलं निसर्गबलं च प्राहिन्याह—

निशि शशिकुजसौराः सर्वदा शोऽहि चान्ये

बहुलसितगताः स्युः क्रूरसौम्याः क्रमेण ।

स्वदिवससमहोरामासगैः कालवीर्यं

शरुगुशुचसाद्या वृद्धिता वीर्यवन्तः ॥ १९ ॥

इति । शशिकुजसौराः निशि बलवन्तः स्युः । अः सर्वदा बलवान्  
स्यात् । अन्ये अहि च बलवन्तः । स्युरिति शेषः । क्रूरसौम्याः

बहुलपितृगताः क्रमेण बलवन्तः स्युः । क्रमशब्देन प्रतिपदिर्वर्तन्ति  
बलस्य वृद्धिर्द्वासावुच्येते । क्रूग्रहाः बहुलपक्षे कृष्णपक्षे, सौम्यग्रहाः  
सितपक्षे, कृष्णपक्षेऽपि चन्द्रमाः क्रूरोऽपि बलवान् भवति । यस्माद्  
यवनेश्वरः—

“मासे तु शुक्लप्रतिपत्तवृत्ते पूर्वं शशी मध्यबलो दशाहे ।

श्रेष्ठो द्वितीयेऽल्पबलस्तृतीये सौम्यैस्तु दृष्टे बलवान् सर्वदा ॥”

इति । निशि शशिकृजसौरा इत्यत्र क्रमो विवक्षितः । शशी पूर्वभा-  
गस्य, तेन तदानीं मृष्टभाजनं सम्भवति । कुजो मध्यभागस्य, तेन  
तदानीं मारणविद्वेषणादिक्रूरकर्माणि कुर्वन्ति । अन्त्यभागस्य शनै-  
श्वरः । तस्मिन् बलवति सति तदानीमुपासनाशास्त्रार्थविचिन्तादिकं च  
सम्भवति । हीनबले तदानीमग्निनिद्रा । सर्वदा ज्ञः । ध्रुवे बलवति  
सर्वदा विद्याभ्यासश्चिन्तनीयः । अन्यथा सर्वदा परिहामशीलः द्यूता-  
दिभिर्वा । अन्ये दिवा । तत्र प्रातःकालस्य सूर्यः, तेन तदानीं देव-  
चन्दनादिकं सम्भवति, हीनबले अधागमनं च । मध्यन्दिनस्य जीवः,  
तेन तदानीं वैश्वदेवातिथिपूजा स्वभोजनं च सम्भवति । अन्त्यभागस्य  
शुक्रः, तेन तदानीं पुराणताव्यनाट्यादिकं च सम्भवति । अपरपक्षे  
क्रूरः बलिनः । तेनापरपक्षेऽशुभकर्माणि । भित्तपक्षे सौम्या बलिनः,  
तेन तत्र शुभकर्माणि कुर्वन्ति । इति । स्वादिवसमहोगमामगैः काल-  
दीर्यं भवति । स्वादिवसे स्वसमायां स्वकालहोरायां स्वमासे च ।  
स्वादिवसः स्ववारः । संवत्सरस्यादौ यस्य प्रथमवारो भवति स तस्य  
संवत्सरस्याधिपतिः । मासस्याप्येवमाधिपत्यम् । कालदोगा दिनद्वादशां-  
क्षात्मिका प्रमिद्वे । एभिः कालदीर्यं यक्तव्यम् । तथाच श्रीपतिः—

“पादं स्ववर्षेऽथ दलं स्वमासे

दिने स्वकीये चरणोनिरूपम् ।

रूपं स्वहोरास्त्विति कालदीर्य-

मुक्तं हि होरानिपुणैः पुराणैः ॥”

इति । शीर्षशब्देनोत्पादक्रियाशक्तिरुच्यते । अतः स्वदिवससमहोरा-  
मांसेषु ग्रहाणां क्रियाशक्तिः फलप्रदानमिति चात्र व्यज्यते । अत्र  
'उदगयने रविशीतमयूखावि'ति प्रथमोक्त्या रविशीतमयूखयोः मघिता  
दशाफलानां पाचयिता चन्द्रमाभूत् पेषयिता इत्युक्तन्यायेन कालविशेष-  
द्योतकत्वं प्रतिपादितम् । तस्माद् यस्मिन्नुक्ते फलं विवक्षितं लक्षणवशाद्  
भवति, तत्र अर्कस्थितिकाले फलपाक्तिः । तस्मिन् काले चन्द्रोऽपि  
तद्वत् तस्य त्रिकोणं वा यदा प्रविशति, तदा विशेषेण फलव्यक्तिः ।  
तत्र स्वर्वारथ सम्भवति चेत् तस्मिन् काले फलपाको दृढो भवति  
इत्यादि च द्रष्टव्यम् । स्वादिवससमहोरामामगैरित्यत्र स्वशब्देन  
स्वकीयाः सर्वेऽपि कालविशेषाः मंगृह्यन्ते । तथाहि—आदित्यस्य काल-  
विशेषास्तावद् उत्तरायणं सिंहगुरुः सिंहमासः सिंहचन्द्रः कृत्तिशेतर-  
फलगुण्युत्तराषाढाश्च नक्षत्राणि । तेषु गुरुस्थितिकालः सूर्योप्यतिकालश्च  
सूर्यवारः, सिंहराशिः सूर्यकालहोरेत्येवमादयः सूर्यस्य शुभाशुभपौक-  
समयविशेषाः । एवं चन्द्रादीनामपि द्रष्टव्यमिति । एवं फलकाल-  
ज्ञापनाय काशाचित्कानि स्थानबलदिग्बलचेष्टाबलकालबलानि प्रथम-  
मुपदिश्यानन्तरं ग्रहाणां निमर्गबलमाह—शरुबुगुशुचमाद्या वृद्धिनो  
वीर्यवन्त इति । शौर्धः शूर्नश्च इत्यादिनामाद्यक्षणेन ग्रहा निर्दिश्यन्ते ।  
शूर्नश्चाद् मौनो बलवान्, मौनाद् बुधः, बुधाद् गुरुः, गुरोः शुक्रः,  
शुक्राच्चन्द्रः, चन्द्रात् मघिता, इति क्रमेण व्याधिका भवेन्ति । एवं  
ग्रहाणां निमर्गबलं कालबलं चेष्टाबलं दिग्बलं स्थानबलं च सम्यक्  
प्रदर्शितम् । अनेनैव प्रकारेण योगानां च योगकारकग्रहाणां बलयोगो  
योगबलबलज्ञानायावन्तव्य इति ॥ १९ ॥

इति योगविवरेणे मध्योनिर्देशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

१. 'सावित्र' इ. २. 'यवद्वेज' म. ग. घ. ङ. ३. 'वायव' ग. घ. ४.  
'कृत्तिराश्रिणेनक्षत्राणि सूर्य' इ. ५. 'पां' च. ६. 'वेनुमा' इ. घ. ७. 'कवि'  
घ. ८. 'व्यम्.' ग. घ. ९. 'पाः', १०. 'राया इ' इ. ११. 'मि' । एतद्  
ग्रहाणां नैसर्गिकबलम् ॥ १९ ॥ इ. 'न्वि' ॥ १९ ॥ घ. १२. 'ये दि' घ.  
ग. घ.

## अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथ वियोनिजन्माध्यायो विमृश्यते । 'विविधा योनयः वियोनयः । अथ शास्त्रस्य प्रायेण मानुषजातकविषयत्वात् तद्व्यतिरिक्ताः तिर्यक्लोतस ऊर्ध्वलोतसश्च वियोनि-  
शब्देन गृह्यन्ते । 'चतुरशीतिसहस्रभवन्यजो मनुज' इति योगशास्त्रेपूज्यते । तस्माद्  
एकोनचतुरशीतिसहस्रप्रमाणा वियोनयः सन्ति । तत्र कतिचन तिर्यङ्गः कतिचन स्थाव-  
राश्च इति द्वैविध्यं, तिरश्चामपि पशुपक्षिभेदेन द्वैविध्यमिति त्रिविधा वियं नष्टः । अथा-  
न्तरविशेषाणामतिबहुत्वाद् उक्तलक्षणानां त्रिविधानांभेद वियोनीनां नष्टमुद्दिशन्ता-  
द्युपयोगाय स्वरूपकथनलक्षणमत्र संक्षेपेण प्रतिपाद्यते ।

क्रूरग्रहैः सुबलिभिर्विबलैश्च सौम्यैः

क्लीबे चतुष्टयगते तदवेक्षणाद्वा ।

चन्द्रोपगद्विरसभागममानरूपं

सत्त्वं वदेद् यदि भवेत् स वियोनिसंज्ञः ॥ १ ॥

इति । सुबलिभिः क्रूरग्रहैः विबलैः सौम्यैश्च क्लीबे चतुष्टयगते चन्द्रो-  
पगद्विरसभागममानरूपं सत्त्वं वदेदित्यन्वयः । पापफलसूचकानां बल-  
त्रत्ये शुभग्रहाणामेवबलत्वं च लग्नकेन्द्रस्य नपुंसकग्रहयोगे च सति  
चन्द्रस्थितद्वादशांशकममानरूपं जन्तुविशेषं वदेत् । स वियोनिमंजो  
भवेद् यदि स चन्द्रद्वादशांशकः वियोनिर्भवति चेत्, तदवेक्षणाद्  
वा क्लीबग्रहस्यावेक्षणे सति वा । अवेक्षणशब्देन सप्तमस्य चतुष्टयान्त-  
र्भावात् सप्तमव्यतिरिक्तेह दृष्टिगृह्यते । सुशब्देन विशब्देन चाक्षर-  
संख्यया सम्प्रदायसिद्धबलपिण्डानयने प्रसिद्ध पद्म्योऽधिकस्यातिबलत्वं  
तन्न्यूनस्य चाल्पबलत्वेमत्र धोत्यते । अत्र पुनः केन्द्रगतानां बला-  
धिकत्वं पणपरस्थानां मध्यबलत्वमापोक्लिमस्थानामल्पबलत्वं च "कण्ट-  
काद्युपगतेषु निधेया रूपकार्धचरणा निजवीर्ये" इत्याद्याचार्यवचनप्रदर्शितं

१. 'वियोनिः त्रिवि' क. ग. घ. ङ. च २. 'म्यैः क्ली' घ. ३. 'चन्द्रस्थितद्वाद-  
शांशक' ग. च. ४. 'मव' च. ५. 'चाप्यक्ष' क. ६. 'स्याह' च. ७. 'एते तत्र'  
ख. 'एते चात्र पण्डकाद्युपगतेषु अत्र' छ.

परिगृह्यत इति मन्त्रदायः । चन्द्रोपगद्विरसभागसमानरूपमित्यनेन सर्वत्र चन्द्रेणैव शरीरलक्षणकथनमिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

अस्मिन् विषये योगान्तरं<sup>३</sup> वैतालिकेनाह—

पापा बलिनः स्वभागगाः

पारक्ये विबलाश्च शोभनाः ।

लग्नं च वियोनिसम्भवं

दृष्ट्वात्रापि वियोनिमादिशेत् ॥ २ ॥

इति । पापाः स्वभागगाः बलिनः, शोभनाः पारक्ये विबलाश्च, लग्नं च वियोनिमम्भवम्, एवं दृष्ट्वा अत्रापि वियोनिमादिशेद् इत्यन्वयः । चन्द्रोपगद्विरसभागममानरूपं वियोनिमादिशेत् । क्लीबसम्बन्धाभावे बिलप्रस्य वियोनित्वे वियोनिजन्म भवतीति भावः ॥ २ ॥

वियोनिजन्तुषु चतुष्पदानामङ्केषु राशिर्विभागमुपजातिकवाह—

क्रियः शिरो वक्त्रगले द्वितीयः

पौदांसके पृष्ठमुगोऽथ पार्श्वे ।

कुक्षिस्त्वपानोऽङ्घ्रय मन्दूमुक्कौ

रिक् पुच्छमित्याह चतुष्पदाङ्गे ॥ ३ ॥

इति । चतुष्पदाङ्गे इत्याह । शास्त्रमिति शेषः । क्रियः शिरः मेपगाशिः चतुष्पदानां शिरो भवति । वक्त्रं गलं च वृषभराशिः । पादावंसी च मिथुनम् । पृष्ठं कर्कटकः । उरः सिंहः । पार्श्वद्वयं कन्या । कुक्षिस्त्वपाराशिः । अपानः मृश्चिकराशिः । अङ्घ्रिद्वयं चापराशिः । मन्दूमुक्कौ मकरः । रिक्चौ कुम्भः । पुच्छं मीनः । इति शास्त्रमाहति सम्बन्धः । इतिवाक्याच्चतुष्पदग्रहणमुपन्यस्यणार्थम् । पक्षिणामप्येवम् ।

१. 'गामि' क. २. 'ने प्र'। ग. घ. ३. 'रमाह', द. 'गमाह' ग. ग. घ. ट. ४. 'दोस' ख. ५. 'न्याराशिः'। कु' ग. घ. 'राराशिः'। रिक्चु कुम्भराशिः । पु ग. घ. 'राराशिः रिक्चौ' । ७. 'न्यः ॥ ३ ॥ ख. ग. घ. ट. घ.



तेषां पूर्वपादस्थाने पक्षपाली । शेषः समानः । प्रयोजनं राशुपल क्षि-  
ताङ्गे वर्णोपघातादिविज्ञानमिति ॥ ३ ॥

लघांशकाद् ग्रहयोगेक्षणाद्वा

वर्णान् वदेद् बलयुक्तैर्वियोनौ ।

दृष्ट्या समानां प्रवदेच्च संख्यां

रेखां वदेत् स्मरसंस्थैश्च पृष्ठे ॥ ४ ॥

इति । वियोनौ लघांशकाद् ग्रहयोगेक्षणाद्वा वर्णान् वदेदित्यन्वयः ।  
लघाधिपस्यांशकनाथस्य च बलाधिक्ये अशकराशः वर्णान् वदेत् ।  
तस्याल्पबलत्वे ग्रहयोगेन वा ग्राहवलोकनेन वा वर्णा वक्तव्याः ।  
संख्यां दृष्ट्या समानां (प्र)वदेत् वर्णसंख्यां ग्राहणां दृष्टिभिस्तुल्यां  
वदेत् । अत्र संख्याशब्देन वियोनिसंख्यां केचिदिच्छन्ति । एको ग्रहः  
पश्यति चेद् एको वर्णः । द्वौ ग्रहौ पश्यतश्चेद् द्वौ वर्णाः । बहवो ग्रहाः  
पश्यन्ति चेद् तत्र वियोनौ बहवो वर्णाः सन्तीति वदेत् । बलयुक्तै-  
रिति सर्वत्र योज्यम् । स्मरसंस्थैः पृष्ठे रेखां च वदेत् । स्मरसंस्थैः  
सप्तमस्यानर्गतग्रहैः बलवद्ग्रहवर्णान् वियोनौ पृष्ठे रेखां वदेदित्यर्थः ।  
अकारादुदयस्थैर्ललाटे च ॥ ४ ॥

अथ पक्षिणां लक्षणं<sup>१</sup> वंशस्थेनाह—

खगे दृगाणे बलसंयुतेन वा

ग्रहेण युक्तंचत्मांशकोदये ।

घुघांशके वा विहगाः स्थलाम्बुजाः

शनैश्चरन्द्दीक्षणयोगसम्भवः ॥ ५ ॥

इति । अत्र पक्षिविषयास्त्रयो योगा उच्यन्ते । बलसंयुतेन ग्रहेण  
युक्ते इति त्रिष्वपि योजनीयम् । खग्रेक्षणे<sup>२</sup> मिथुनतुलयोर्मेध्यमे

१. 'शना' क. ख. 'शाधिपस्य च ट' २. 'त' ए' ग. ख. ३. 'नी' भवतः ।  
घ' च ४. 'वः प' छ. ५. 'स्थैर्ग्रहैः पृ' ख. ६. 'त ॥ ४ ॥' ख. ग. घ. छ. च.  
७. 'गमाह—ख ग. छ. घ. 'णान्याह—घ. ८. 'दृगाणे छ.

सिंहकुम्भयोः प्रथमे । खगे दृग्गणे बलसंयुतेन ग्रहेण युक्ते शनैश्चरेन्द्रीक्षण-  
योगसम्भवाः स्थलाम्बुजाः विहगा भवन्तीत्यन्वयः । चरमांशको-  
दयेऽपि तथा । बुधांशकेऽपि तथा । शनैश्चरवीक्षणयोगसम्भवाः स्थल-  
पक्षिणः, चन्द्रयोगवीक्षणसम्भवा जलपक्षिण इति विशेषः । तथाच  
सारावल्यां—

“विशोदितदृक्काणे ग्रहेण बलिना युतेऽयं चरमांशे ।

बोधेऽंशे वा विहगाः स्थलाम्बुजाः शनिशशीक्षणात् क्रमशः ॥”

इति । मूरग्रहैरित्यादेर्वियोनिलक्षणमप्राप्यतुसन्धेयम् । शनैश्चरयोग-  
क्षणयोरपि पक्षित्वकरकत्वमस्ति । ‘सूर्यात्मजेन्दुपुत्रौ पक्षिसमानावि’ति  
प्रवचनात् । शनैश्चरवीक्षणयोगाभावे उक्त्याभावात् इति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

स्यावराणां लक्षणं यमन्तनिलकेनाह—

होरेन्दुसूरिरविभिर्विवलैस्तारूणां

तोयस्थले तरुभवोऽशकृतः प्रमेदः ।

लग्नाद् ग्रहः स्थलजलर्क्षपतिस्तु यावा-

स्तावन्त एव तरवः स्थलतोयजाताः । ६ ॥

इति । विषलैः होरेन्दुसूरिरविभिः तारूणां जन्म प्रवेद इत्य-  
न्वयः । लग्नार्धगुर्वीन्दूनां विचलत्वे तरुजन्म स्यावराणां जन्म । तोय-  
स्थले तरुभवः जले स्थले च तरूणामुद्भवो भवति । अंशकृतः प्रमेदः  
लग्ननवांशको जलनैवांशकश्चेज्जलाश्रयवृक्षाः, अन्यथा स्थलाश्रयवृक्षाः ।  
स्थलजलर्क्षपतिः ग्रहः लग्नाद् यावान् स्थलतोयजातास्तावन्त एव तरवो  
भवन्ति । स्थलराश्यधिपतिर्ग्रहो लग्नराशेर्यावति राशौ वर्तते तावन्तः  
स्थलवृक्षा भवन्ति । जलराश्यधिपतिश्चेत् तावन्तो जलवृक्षा भवन्ति ।  
अंशकाधिपातेनाप्येवं वक्तव्यम् । लग्नांशकयोर्बलाधिकेन हि सर्वत्र  
फलनिर्देश इति कृत्वा अंशकृतः प्रमेदः स्थलजलर्क्षपतिरिति च तन्त्रेण

१. लक्षणमाह— २. ग. घ. ङ. च. २. ‘तारूणां जन्म’ ग. ङ. च.

३. ‘राश्यन्त’ घ.

निर्दिष्टः । यत्र यत्र ग्रहेः संख्या विवक्ष्यते, तत्र तत्र आयुर्दायांक्ता  
हरणगुणनादयो यथासम्भवं योजनीयाः । तथा च सारावल्यां—  
“द्वित्रिगुणत्वं तेषामायुर्दायप्रकारोक्तम्” इति ॥ ६ ॥

वृक्षविशेषनिर्देशप्रकारं मन्दाक्रान्त्याह—

अन्तस्सागज्जनयति रविर्दुर्भगान् सूर्यसूनुः

क्षीरोपेतांस्तुहिनकिरणः कण्टकाढ्यांश्च भौमः ।

वागीशज्ञौ सफलविफलौ पुष्पवृक्षांस्तु शुक्रः

स्निग्धानिन्दुः कटुकविटपान् भूमिपुत्रश्च भूयः ॥ ७ ॥

इति । रविः अन्तस्सारान् जनयतीति सम्बन्धः । अन्तः-  
सारान् वृक्षादिकरणयोग्यान् । सूर्यसूनुः दुर्भगान् दृग्मन्मोरनिष्ठान्  
शाकौटकादीन् । तुहिनकिरणः क्षीरोपेतान् सप्तच्छदादीन् । भौमः  
कण्टकाढ्यान् कारस्करकिंशुकादीन् । वागीशज्ञौ सफलविफलौ वागीशः  
सफलान् कलप्रधानान् पनमादीन्, बुधो विफलान् फल्गुन्यान्,  
चन्दनादीन् । शुक्रः पुष्पवृक्षान् पुष्पप्रधानान् चम्पकादीन् ।  
ग्रहाणां बलावलवशेन वा योगेक्षणवशेन वा यथोक्तवृक्षाणां विकल्पो  
योजनीय इति द्योतयितुं चन्द्रभौमयोः पुनरपि वृक्षविशेषानाह  
भूय इन्दुः स्निग्धान् वृक्षान् जनयति । बलाधिक्येन स्नेहयुक्तान् नालि-  
केरादीन् जनयति । भूमिपुत्रः कटुकविटपान् भल्लातकादीन् जन-  
यति । तथा दृश्यते —

“अर्कस्य मूलं स्थलजं नालिकेरादिकं फलम् ।

सारभूरुहानिष्पन्नचन्दनाद्यं प्रचक्षते ॥

अन्तर्जलपुतान्य + + त्विशीरयुतानि च ।

मक्षानि + नवान्याहुः सूतकः शीतरोचिषः ॥ (१)

मरिचाद्यं सर्पपाद्यं निर्यासं स्थलभूरुहम् ।  
 तालवेण्यादिकं चूतं पनसाद्यं कुम्भस्य तु ॥  
 कन्दसूत्रपत्राढ्यं वृक्षतीतण्डुलीयकम् ।  
 बल्लीफलं बांधनस्य मूलं बहुमान्वितम् ॥  
 स्थलाम्बुजानि सस्यानि कुसुम्भं तण्डुलं तथा ।  
 दुकूलमुख्यपट्टानि तूळानि च गिरां पतेः ॥  
 कन्दाढ्यं पुष्पवस्तूनि नालिकेलादिकं भृगोः ।  
 तूलतन्तुपुतं गन्धद्रव्याणि च विनिर्दिशेत् ॥  
 प्रियङ्गुमुद्गनिष्पावश्यामाकाद्यं कषायकम् ।  
 हीनमूलं मालुपाद्यं मन्दस्य च विनिर्दिशेत् ॥  
 विषवृक्षाण्यभोज्यानि दुर्भगानि फलानि च ।  
 उपेतग्रहतुल्यानि राक्षोरीद्भिदमारितम् ॥”

इति ॥ ७ ॥

सर्पत्र राक्षित्रसेन ग्रहग्रसेन च फलविशेषनिर्देशप्रकारमपि अत्र वृक्षागताविशेषण-  
 द्वाराण उपदेष्टुं वंशस्थेनाह—

शुभोऽशुभर्क्षे रुचिरं कुभूतले  
 करोति वृक्षं विपरीतमन्यथा ।  
 परांशके यावति विच्युतः स्वकात्  
 भवन्ति तुल्यास्तरवस्तथाविधाः ॥ ८ ॥

इति । अशुभर्क्षे शुभः कुभूतले रुचिर वृक्षं करोतीत्यन्वयः ।  
 अशुभराशिरस्थितः शुभग्रहः कुत्सितभूतलस्थितं शोभनवृक्षं करोति ।  
 अन्यथा विपरीतं करोति । शुभराशिरस्थितोऽशुभग्रहः शोभनभूतले  
 कुत्सितवृक्षं करोतीत्यर्थः । यथोक्तेष्वन्यस्सारादिषु तरुषु स्थलजल-  
 जादिषु एकप्रकारतरुसंख्यां निर्दिशति— परांशक इत्यादिना । ग्रहः

स्वकाद् यावति परांशके विन्युतः तथाविधास्तरवः तावन्तः सन्तीति सम्बन्धः । 'अंशकृतः प्रमेद' इति पूर्वमुक्ते पुनरप्यंशकेन निर्देशोक्त्या अंशकरेण विशेषा वक्तव्या इति द्योत्यते ॥ ८ ॥

इति होराविवरणे वियोनिजन्माध्यायस्तृतीयः ॥



### अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ होरेन्दुस्थितिधीणां प्रायस्त्रयविधं मानुषजन्म विवक्षुः गर्भाधानकालमुपदिशति वंशस्थेन --

कुजेन्दुहेतु प्रतिमाममार्तवं  
गते तु पीडक्षमनुष्णदीधितौ ।  
अतोऽन्यथास्य शुभपुङ्ग्रहेक्षिते  
नरेण संयोगमुपैति कामिनी ॥ १ ॥

इति । प्रतिमामं कुजेन्दुहेतु आर्तवम् अनुष्णदीधितौ पीडक्षं गते तु गर्भक्षमं भवतीति सम्बन्धः । कुजेन्दुहेतु कुजश्च इन्दुश्च कुजेन्दुतौ हेतुर्यस्य तत् कुजेन्दुहेतु । जन्मकालभवयोः कुजेन्द्रोः, अथ वा प्रेक्षकालभवयोः योगेक्षणयद्वर्गादिपरस्परसम्बन्धे सति आर्तवस्य शुद्धिर्जायते । तच्च प्रतिमामम् ।

“मासि मासि रजः स्त्रीणां रमजं स्रवति व्यहम् ।

वत्पराद् द्वादशादूर्ध्वमेकपञ्चाशतः क्षयम् ॥”

इत्यार्तवलक्षणम् । तच्च अनुष्णदीधितौ स्त्रीणां जन्मेन्दोरपचयस्थान-  
गतं तत्कालचन्द्रे गर्भक्षमं भवति । ऋतुकालचन्द्रस्य जन्मचन्द्रा-  
नुपचयस्थानान्धितस्य कुतसम्बन्धे सति यदार्तवं तद् गर्भाधानक्षमं  
भवतीत्युक्तं भवति । अन्यत्र वागवृद्धातुरावन्ध्याभ्यः । तथाच  
वादरायणः--

“स्त्रीणां गतोऽनुपचयर्क्षमनुष्णरश्मिः  
सन्दृश्यते यदि धरातनयेन तासाम् ।  
गर्भग्रहातिवमुशन्ति तदा च बन्ध्या-  
वृद्धातुगालपत्रयसामपि तन्नहीष्टम् ॥”

(इति) कुजेन्दुहेतु प्रणिमाममित्यत्र कुजेन्द्रोरातर्वहेतुभनयोः प्रत्येकं मासः। नवांशकद्वादशांशकं परस्परसम्बन्धयुक्तं चेद् गर्भातिवं भवतीत्यर्थोऽप्यनुसन्धेयः । पुनरत्र हेतुशब्देन पुत्रकारको गुरुर्विवक्ष्यते । तस्यापि(?) कुजशशिगुरुणां नवांशद्वादशांशस्य च परस्परसम्बन्धे सति गर्भातिवं भवतीति केचिद् व्यवस्यन्ति । इदमपि निरूपणीयं— नवर्क्षचरणात्मकस्य राशेरैकस्यांशस्य पञ्चदशघटिद्वात्मकस्य नवभागस्य द्वादशधा विभागे मति पञ्चमप्रतिर्विनाल्यो नवांशद्वादशांशभूताः मामशब्देनाक्षरसङ्ख्यया धोत्यन्ते । एवं गर्भग्रहातिवमुक्त्या उच्यते न गर्भाधानकालमुपदिशति— अनुष्णदीधितौ अतोऽन्यथास्थे शुभपुङ्गवेक्षिते कामिनी नरेण संयोगम् उपैति इति सम्बन्धः । अतः पीडर्क्षाद् अन्यथास्थे उपचयस्थे इति यावत् । कामिनीत्युक्त्या

“क्षामप्रमत्तवदनां स्फुरच्छोणिपयोधराम् ।  
सस्ताक्षिकृक्षिं पुंस्क्रामां विद्यादतुमतीं स्त्रियम् ॥”

इत्युक्तलक्षणलक्षिता गर्भाधानयोग्या तात्कालिकग्रहगोचरवशाद् विद्यातव्येति धोत्यते । नयविधातोर्व्युत्पन्नेन नरशब्देनोक्त्या तस्योत्पादकत्वमपि तात्कालिकग्रहवशाद् विद्यातव्यमित्युक्तं भवति । अनुष्णदीधिनौ अतः अन्यथास्थे उक्तात् पीडर्क्षादन्यत्र स्थिते उपचयराशौ स्थिते । अर्थाक्षरजन्मर्क्षम्योपचयराशाविति निध्न्यति । तथाहि—‘रजो निर्गमनात् स्त्रीणां ऋतुः पीडश्च रात्रयः’ इत्युक्तस्य ऋतुगानस्य सकलस्यापि दृष्टादिष्टसीपुरुषात्मकगर्भाधानविषयत्वात् तत्र नोपचयपचयम्यचन्द्रनिरूपणं घटते । पुरुषस्य तूत्पादनयोग्यः कालो निरूप-

णीयश्चेति चन्द्रे नरस्योपचयस्थिते शुभपुङ्ग्वदेक्षिते शुभेन पुङ्ग्वहेण गुरुणा ईक्षिते, शुभशब्देन आद्यक्षरग्रहणाद् शुभं शुक्रनक्षत्रं तत्र स्थिते चन्द्रे पुङ्ग्वदेक्षिते संयोगमुपैति । संयोगं मम्यग् योगं गर्भाधानक्षमं योगमुपैतीति यावत् । नन्वत्रातऽन्यथास्थ इति स्त्रिया उपचयस्य इति कस्मान्न व्याख्यायते । अयुक्तमेतत्, पुरुषप्राधान्यात् । यस्माद् वादरायणः—

“पुरुषोपचयगृहस्थो गुरुणा यदि दृश्यते हिममयूतः ।

स्त्रीपुरुषसम्प्रयोगं तदा वदेत् स च वृथा नैव ॥”

गते तु पीडर्क्षमनुष्णदीधितायिति न केवलमर्तिवे द्रष्टव्यं जातकेऽपि । कथं, स्त्रिया लग्नादनुपचयस्यश्चन्द्रो ग्रहैर्दृश्यते यदि तर्हि तस्याः पुत्राः सम्भवन्ति । अत्र त्रिदशादिदृष्टिरपि शक्यैव । कदा पुत्रसम्भावनेत्यत्र ‘स्वां स्वां दशामुपगताः स्वफलप्रदाः स्यु’रिति वक्ष्यमाणग्रन्थेन द्रष्टव्यम् । गुरोराष्टकवर्गेण वा स्त्रिया उपचयस्यश्चन्द्रो बलवद्ग्रहेण दृश्यते चेद् यत्नात् सिध्यति । चन्द्रस्य शुभयोग(त्व)मपि द्रष्टव्यम् । पुरुषोपचयस्यश्चन्द्रो यदि ग्रहैर्दृश्यते च तदा पुनर्विवाहः कर्तव्य इति । नरेण संयोगमुपैतीत्यत्र षोडशसु रात्रिषु अष्टारोजरात्रयः स्त्रीजननयोग्याः अष्टौ युग्मरात्रयः पुंजननयोग्याश्चेति । प्रथमावृत्तीयैकादशीत्रयोदशीपु रात्रिपूत्पादिताः स्त्रियः पापशीलाः कुलविनाशिन्य भवन्ति । द्वितीय-चतुर्थरात्र्युत्पादिताः पुरुषाश्च दुराचारा अल्पायुषश्च भवन्ति । परिशेष-दिवसोत्पादिताः स्त्रीपुरुषाः मदाचारा वंशविवर्धनाश्च भवन्ति । ‘मर्तुः शुद्धा चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला’ इति वचनाल्लोकाचारतश्च प्रथमद्वितीयवृत्तीयरात्रिषु गर्भाधानं न कर्तव्यमिति सिद्धम् । चतुर्थ-रात्र्यादिपूत्पादितानां फलविशेषैवान्यत्रोक्तः—

“पुत्रोऽल्पायुर्दारिका वंशकर्ता वन्ध्या पुत्रः सुन्दरोऽतिदुष्टा ।

श्रीमान् पापा पुण्यशीलो गुणाढ्यः सर्वज्ञः स्यात् तुर्यरात्रात् क्रमेण ॥

इति । शुभशब्दोक्तशुक्रनक्षत्रग्रहणेन उत्पादनकालस्य शुक्रनक्षत्रत्रिको-  
णादिसम्बन्धोऽप्युपलक्ष्यते । अत्र श्लोके अपरोऽप्यतिरहस्यभूतो योजन-  
प्रकारः गर्भाविवनक्षत्रस्य गर्भाधाननक्षत्रस्य च प्रदर्शनार्थमुपदिश्यते-  
पूर्वं संज्ञाध्याये अहोरात्राविरूपशब्देनोपदिष्टस्वरूपकालविशेषसमुद्भवो  
जातकप्रश्नविषयजननमरणादिकालनिर्णयहेतुः गुलिकोऽत्र हेतुशब्देन  
विवक्ष्यते । तथा शुभपुङ्गवहेतु इति विशेषणम् अनुष्णदीधितिं योषिता-  
ऽनुपचयस्य आर्तवनक्षत्रं प्रति आधाननक्षत्रं प्रति पुरुषस्य उपचयस्य  
अनुष्णदीधितिं चेति उभयत्रापि योजनीयम् । आर्तवनक्षत्रं प्रति योजने  
शुभः पुङ्गवो गुरोश्च विवक्षितः । आधाननक्षत्रं प्रति योजने शुभमिति  
शुक्रनक्षत्रं पुङ्गव इति गुरुश्च विवक्ष्यते । 'मासि, मामि रजः स्त्रीणाम्'  
इत्युक्तस्य मामस्य नाक्षत्रत्वाद् आर्तवस्य नक्षत्रमन्मवन्त्येन अत्र नक्षत्रं  
ज्ञातव्यम् । नक्षत्रजनस्य 'मसाहतं त्रिचनमात्रितशेषमृक्षमि'त्युक्तन्याय-  
विषयत्वाद् अत्रापि तत् कर्तव्यमिति स्थिते योजनप्रकार उच्यते—  
कुजेन्दुहेतु प्रतिमामं कुजश्च इन्दुश्च हेतुश्च कुजेन्दुहेतवः भौमचन्द्रगुलिकाः ।  
प्रतिशब्दो वीप्सार्थः । कुजेन्दुहेतूनां स्फुटैर्म्यः प्रत्येकं मामः नवांश-  
द्वादशांशकः प्राग्बद्ध्यादित अत्र स्फुटीकर्तव्यः । कथमिति चेद्  
अतीतमामप्रमाणविनाडिकात्मकाः नवांशद्वादशांशकाः राशित्वेन स्था-  
प्याः । वर्तमानमामप्रमाणद्वादशांशके गतं विन्पस्य त्रिशता हत्वा  
मासेन हत्वा लब्धा भागाश्च स्याप्याः । शिष्टं यथा हत्वा मामेन हत्वा  
लब्धाः कलाश्च स्याप्याः । एवं राशिभागकलात्मकं नवांशद्वादशांशक-  
स्फुटं कुजस्य चन्द्रस्य च कर्तव्यम् । गुलिकस्य तु विलोमगत्वाद् गन-  
द्वादशांशकाश्च नवांशकगणेशारम्भ विलोमेन गणयित्वा वर्तमानद्वादशांशक-  
स्फुटमानेन विवक्ष्यमिति । कुजेन्दुहेतूनां नवांशद्वादशांशकस्फुटमानीय  
मासमित्येकचननिर्देशबलात् तानि त्रीण्यपि स्फुटानि संयोज्य जातात्  
त्रिस्फुटयोगात् न्यायसिद्धेन सप्ताहनेन जाताद् गाशिपिण्डात् प्रजाहृत-

१. 'प्रतिप्रकोण' २. 'ए' क. ३. 'मासि, मामि रजः स्त्रीणां रमज  
प्रशति इहम् । यत्पराद् द्वादशदूर्ध्वं पुरुषजनः क्षयम् ॥ इत्यनेन' स.  
४. 'प्राधिकं' क इ. ५. 'ना' घ. ६. 'चेत् पूर्वाभावा मा' इ, 'चेत् पूर्वाभावा मा'  
ग. घ. ७. 'प्याः । शिष्टं त्रिशता' ग. च.



शेषात् सारहृतीशष्टान्यश्विन्यादीनि नक्षत्राणि । तथा गुरोरपि नवांशक-  
द्वादशांशकस्फुटमुत्पाद्य मसमभिर्हत्वा पूर्ववत् प्रजासारैर्यन्त्रक्षत्रम् अश्वि-  
न्यादिकमानीयते तस्य नक्षत्रस्य पूर्वानीतनक्षत्रेण केन्द्रत्रिकोणमम्बन्धो  
सति पूर्वानीतनक्षत्रं गर्भार्तवनक्षत्रं भवति । शुभपुङ्गवहेक्षित इत्युक्त्या  
तयोर्नक्षत्रयोः समसप्तकदृष्टिरत्र गर्भार्तवनक्षत्रस्य मुख्यं लक्षणं, तद-  
भावे केन्द्रत्रिकोणसम्बन्धोऽपि निरूपणीयः । तस्मादार्तवदर्शननक्षत्राद्  
ऊर्ध्वकालभवेषु षोडशसु ऋतुदिवसेषु यत्र यत्र शुक्रयुक्तनक्षत्रत्रिकोण-  
सम्भवः तत्र तत्र गर्भाधानं भवति । तस्य नक्षत्रस्य गुरुदृष्ट्यांगे पुरुष-  
स्योपचयस्थानगतत्वे च गर्भाधानसम्भवः । तस्मान्नक्षत्राद् दशमं  
जन्मनक्षत्रं भवत्येव ॥ १ ॥

एवं निरूपितस्य गर्भाधानस्य दम्पतिविषयत्वाद् दम्पत्योरन्योन्यसम्बन्ध तत्प्रयोगं  
(वे?चोरे)न्ववन्नेणाह—

यथास्तराशिर्मिथुनं समेति

तथैव वाच्यो मिथुनप्रयोगः ।

असद्ग्रहालोकितसंयुतेऽस्ते

सरोप इष्टैः सविलासहासः ॥ २ ॥

इति । यथा अस्तराशिः तथा मिथुनं समेति सङ्गच्छते ।  
पुरुषजातके यः सप्तमराशिः तद्वशेन स्त्रिया जन्मर्क्षादि वक्तव्यम् । तथा  
स्त्रीजातके यः सप्तमराशिः तद्वशेन पुरुषस्य जन्मर्क्षादि वक्तव्यम् ।  
एवं दम्पत्योः परस्परमम्बन्धो विचिन्तनीयः । तद्यथा—

“लग्नाधिपो वा मदनाधिपो वा

यातो यदीये भवनेऽश्वके वा ।

तत्क्षेत्रजातं प्रवदेत् कलत्रं

पुंसोऽङ्गनायाश्च पतिं तथैव ॥”

“भार्याधिपस्ति तं क्षेत्रं भार्याया जन्मभं विदुः ।  
तस्योच्चं तस्य नीचं वा तदंशं वाय निर्दिशेत् ॥”

इत्यादिभिर्वचनैः पुरुषस्य कलत्रजन्म वक्तव्यम् । तथा—

“यद्यत् फले नरभवे क्षममङ्गनानां  
तत्तद् वदेत् पतिषु वा सकलं विधेयम् ॥”

इत्यतिदेशेन द्विषा भर्तृजन्मर्क्षमपि तद्वदेव निरूपणीयमिति स्थिते यथोक्तलक्षणवशाद् चक्षुषु जन्मर्क्षेषु वक्तव्यतया प्राप्तेषु नक्षत्रसम्बन्धवशाद् अनिष्टान्यपहाय शिष्टेषु नक्षत्रसम्बन्धवशाद् ग्राह्येषु द्विषेषु सत्सु इदं कलत्रजन्मर्क्षम् अथवा भर्तृजन्मर्क्षमिति विशेषनिर्देशो नष्टजातकवशात् शुक्राष्टकवर्गवशाच्च कर्तव्यः । तत्र नष्टजातकोक्तवशाच्च जन्मकालोदयलग्नं विन्यस्य राशिपदकं मयं ज्य राशिगुणकारं यथा-सम्भवं ग्रहगुणकारं च कृत्वा सप्तभिर्निहत्य सप्तविंशतिहृतशेषे नवकदानेन वा नवकविशोधनेन वा यथास्थितेन वा कलत्रजन्मर्क्षं भर्तृजन्मर्क्षं वा स्वोदयलग्नेन वक्तव्यमिति नष्टजातकवक्ष्यमाणमार्गः । तथाच वक्ष्यति—

“सप्ताहतं त्रिघनमात्रितशेषमृक्षं  
दत्त्वाथवा नव वशोध्य नवाथवास्मात् ।  
एवं कलत्रसहजात्मजशत्रुभेदः  
प्रदुर्वदेदुदयराशिवशेन तेषाम् ॥”

इति । शुक्रस्याष्टकवर्गं वक्ष्यमाणप्रकारेण राशिचक्रे निक्षिप्य प्रति-राशिफलसंख्यां विज्ञाय नक्षत्रमेकान्ते स्थापयेत् । अथ लग्नाधिपस्फुटे शुक्रस्फुटं च संयोजिते यो राशिर्मति तत्र राशौ तत्सप्तमराशौ वा शुक्रस्य स्वर्गीयः कृणो यत्नस्ति तत्स्थया काणमंरूपया कर्म कर्तव्यम् । उभयत्वाप्यस्ति चेद् यो राशिः तयोर्ग्रहस्योपचयस्थानं तत्स्थया काणमंरूपया कर्म । उभयप्यनुचयौ चेत् लग्नाधिपं सप्तमाधिपं च

संयोज्य तत्र जाते राशौ तत्सप्तमराशौ वा लग्नस्य उपचयस्थानभूते यत्र शुक्रस्य स्वधीयः काजोऽस्ति तत्स्यया काणमंख्यया कर्म कर्तव्यम् । एवं लग्नशुक्रयोगराशौ तत्सप्तमराशौ वा, तथा लग्नाधिपसप्तमाधिप-योगराशौ तत्सप्तमराशौ वा यत्र लग्नादुपचयत्वं शुक्राष्टकवर्गे शुक्र-काणयोगश्च सम्भवति तत्रस्था काणमंख्यया कर्मयोग्येति यावत् । कर्म-प्रकारस्तु यत्र यावत् काणसंख्या यस्य यस्य ग्रहस्य काणयोगेन जाता तस्य तस्य ग्रहस्य स्फुट विन्यस्य तथा काणसंख्यया पृथक् पृथक् सङ्गुणय्य संयोजने कृते यो राशिः लभ्यते तस्य गोर्हिहादिगुणकाः कर्तव्यः । तथा तत्र राशौ ग्रहाश्च सन्ति चेद् यथासम्भवं, ग्रहगुणगो-ऽग्नि कर्तव्यः । एव कर्मणि कृते यन्नश्वत्रं लभ्यते तन्नक्षत्रं भार्याया जन्मर्क्षं भर्तृजन्मर्क्षं वा वदेत् । पुरुषस्य पुनर्विवाहलक्षणं स्त्रियाः पुनर्भूतलक्षणे च सम्भवति कर्मयोग्यसंख्याया द्विगुणत्वेन त्रिगुणत्वेन वा यथोक्तकर्मणि कृत द्वितीयभार्याजन्मर्क्षं द्वितीयभर्तृजन्मर्क्षं वा तृतीयभार्याजन्मर्क्षं तृतीय भर्तृजन्मर्क्षं वा लभ्यते । एवमादिप्रकारानीतजन्मर्क्षसम्बन्धवशात् पूर्व-प्रदर्शितद्वित्रादिसम्भवसन्देहनिवृत्त्यास्य पुरुषस्य एतन्नक्षत्रजातया सङ्गतिः, अस्याः स्त्रिया एतन्नक्षत्रजातेन पुरुषेण मङ्गतिः, गर्भाधानक्षमा भवेद् इत्यर्थः । एवं दम्पत्यर्निजनिजास्तराशिवशाद् गर्भाधानक्षमा परस्पर-सङ्गनिष्ठदिश्य तत्र साम्प्रयोगिकमवस्थान्तरं दर्शयति ॥ तथैव मिथुन-प्रयोगः वाच्य इत्यन्वयः । आदेशप्रधानत्वादस्य शास्त्रस्य रहस्यम् अनन्यसाक्षिकं मैथुनगतमवस्थान्तरमपि निर्देष्टव्यमित्यर्थः । तत्स्वरूपं दिङ्मात्रेणाह । अस्ते असद्ग्रहालोकितमंयुते मिथुनप्रयोगः सरोप इति सम्बन्धः । मिथुनप्रयोग इति वात्स्यायनशास्त्रे साम्प्रयोगिका धिकरणे विस्तरेण प्रतिपादितम् आलिङ्गनचुम्बनादिविविधोपचारपर-पोषितं मिथुनकर्मोच्यते । स च अस्ते अस्तराशौ अमद्ग्रहालोकित-संयुते पापग्रहैरवशोक्ते युक्ते वा सति सरोपः कल्हवहुल इत्यर्थः । इष्टैरालोकितसंयुते सविलासदासः अन्यान्यानुगगयुक्त इत्यर्थः । अस्य विस्तरश्चान्यत्र—

“क्रूरेषु पतिं त्यजति प्रमदा नन्दयति पतिमपापेषु ।  
चन्द्रे पापममेते पुरुषो भुङ्क्ते बलाद् रवौ नारीम् ॥”

इत्यादिभिः प्रदर्शितः । तथात्रैव वक्ष्यमाणं—

“मन्दर्क्षाग्रे शशिनि द्विचुके मन्ददृष्टेऽब्जगे वा  
तद्युक्ते वा तमसि शयनं नीचमग्नैश्च भूमौ ।”

इत्यादिविशेषलक्षणं च निर्देशवत्सरेऽनुसन्धेयम् ॥ २ ॥

अथ “सन्तो ह्यादुरपत्यायै दुम्पत्योः सङ्गतिं रदः” इत्यादिभिः सङ्गति-  
फलत्वेन प्रदर्शितमपत्यमङ्गावं वंशस्थेन लक्षयति—

रवीन्दुशुक्रावनिजैः स्वभागै-

र्गुणैः त्रिकोणोदयधर्मगेष्वपिवा ।

भवत्यथत्यं हि विधीजिनामिमे

करा हिमांशोर्विद्वशाभिवाकलाः ॥ ३ ॥

इति । निपेक्षतात्कालिकैः प्रश्नतात्कालिकैर्वा रवीन्दुशुक्रा-  
वनिजैः स्वभागैः गुणैः त्रिकोणोदयधर्मगेष्वपि वा सति अपत्यं भवति  
हि इति सम्बन्धः । रश्चि इन्दुश्च शुक्रश्च अवनिजश्च रवीन्दुशुक्रावनि-  
जाः एतैः स्वभागैः रश्चिशुक्रभ्यां पुरुषशुक्ररूपाभ्यां पुंभागगाम्भ्याम्  
इन्दुवनिजाभ्यां स्त्रीशोणितरूपाभ्यां स्त्रीभागगाम्भ्यामित्यर्थः । अत्र  
सूर्याधिष्ठितराशिवशेन पुरुषस्य, शुक्राधिष्ठितराशिवशेन शुक्रस्य,  
चन्द्राधिष्ठितराशिवशेन स्त्रियाः, कुजाधिष्ठितराशिवशेन शोणितस्य च  
गमोत्पादनमामर्थ्यं तदमाप्त्यर्थजनकदेपराहित्यं च निश्चेतव्यमिति  
भावः । तथा गुरौ त्रिकोणोदयधर्मगेष्वपिवा इति । त्रिकोणगते उदय-  
गते धर्मगतेऽपिवा सति अस्त्य भवतीत्यर्थः । अत्र सन्तानकारकस्य  
गुरोः त्रिकोणादिगतत्वेन न च कुम्भीपादोन्मुखस्य यस्यकस्यचिज्जीवा-  
त्पनः सन्निधिर्घोष्यते । केवलं शुदाभ्यां शुक्रशोणितगाम्भ्यामेव न गमो-

त्पत्तिः, किन्तु तत्र जीवात्मसान्निध्ये सत्येव गर्भो भवति । तथा-  
चोक्तम्--

“शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः ।

गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ ॥”

इति । अत्र शुद्धं शुक्लं शुद्धमार्तवं च स्वकर्मक्लेशचोदितो जीवात्मा च  
एतत् त्रितयं गर्भः सम्पद्यते इत्युक्तं भवति । शुक्लशोणितयोः शुद्धिश्च

“शुक्लं शुद्धं गुरु स्निग्धं मधुरं बहुलं बहु ।

घृतमाक्षिकैस्त्रैलामं सद्गर्भायार्तवं पुनः ॥

लाक्षारसशशास्त्रामं धौतं यच्च विज्यते ।”

इत्येवंलक्षणलक्षिता शुक्रावनिजाभ्यां स्वभागगताभ्याम् अवगम्यते ।  
पुंस्त्रियोः शुद्धिश्च—

“पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ।

वीर्यवन्तं सुतं सृते तयोर्न्यूनान्दयोः पुनः ॥

रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ।”

इत्यादिलक्षणलक्षिता रवीन्दुभ्यां स्वभागगताभ्याम् अवगन्तव्या ।  
एषां स्वभागगतत्वेऽपि गर्भानुत्पत्तिस्थानं दर्शयति— इमे रवीन्दु-  
शुक्रावनिजाः स्वभागगा अपि विबीजिनाम् अफलाः । तद्योपमया द्रढ-  
यति — द्विमांशोः कराः विदृशामिवेति । यथा चन्द्ररश्मयः सुव्यक्ता  
अपि नेत्ररहितानां विफला भवन्ति, तथा स्वभागगता अपि रवीन्दु-  
शुक्रावनिजा विबीजिनाम् अफला भवन्तीत्यर्थः । विबीजिनामिति ।  
बीजासमर्थं रेतोऽस्त्रं विबीजं, विदृतं बीजं विबीजमिति तत्पुरुषः । विदृतं  
विघ्नितम् आत्मफलसम्पादनासमर्थमित्यर्थः । तद्वन्तो विबीजिनः । बीज-  
विहतिश्च द्विधा निजागन्तुर्कहेतुभेदेन । तत्र निजहेतवो वातपित्तादयः ।  
आगन्तुकहेतवश्च महदपघ्यानदेवतापीडादयः । तेऽपि द्विविधाः प्राय-  
श्चित्तमाध्या असाध्याश्चेति । एतद्व्यक्तिश्च यथोपदिष्टबीजबलावल-  
निरूपणे जायते । तद्यथा बीजबलावलनिरूपणप्रकारोऽन्यशास्त्रप्रसिद्धो-

ऽप्यत्र श्लोके सूचितः स्वभागगैतियत्र । स्वमशब्देन स्वाधिष्ठितनक्षत्र-  
मुच्यते, तदागच्छन्तीति स्वमाया इति निर्वचनेन स्वभागशब्देन—

“क्रमाच्चन्द्रक्रियाः पञ्च पञ्च मेपादिराशिषु ।

प्रकल्प्य तत्समं द्रूयात् सर्वकार्येषु तत्फलम् ॥”

इति प्रदर्शिताः पट्टिघटिकात्मकनक्षत्रद्वादशांकरूपा मेपादिराशिषु  
उच्यन्ते । तत्र गताः स्वभागगाः । अत्रेयं गणितप्रक्रिया—ग्रहाधिष्ठितन-  
क्षत्रगतनाडिकाः सावयवा विन्यस्य पञ्चभिर्विभज्य राशयो लभ्यन्ते ।  
शेषात् त्रिंशद्गुणिताद् भागाः, पञ्चा गुणिताष्टिप्ताश्च लभ्यन्ते ।  
तद्वाशिभागकलारमकं स्वभागगैग्रहस्फुटं भवति । एवमानीतेषु रवी-  
न्दुशुक्रावनिजेषु गुरुमपि स्वभेदशब्देवमानीय उभयत्र स्थापयित्वा  
दक्षिणस्थिते गुरौ रविशुक्रौ योजयेत्; वामस्थे चन्द्रावनिजौ योजयेत् ।  
तत्र दक्षिणस्थितं वीजस्फुटं तदोजराशावोजांशकस्य चेद् वीजफलं पूर्णं  
मिति द्रष्टव्यम् । तथा वामस्थं क्षेत्रस्फुटं तद्युग्मराशौ युग्मांशकस्य चेद्  
क्षेत्रफलमपि पूर्णं घेदितव्यम् । एवं वीजबले क्षेत्रबले च सम्पूर्णे सति  
कस्मिन् काले अपत्यलब्धिगति ज्ञातमुपायोऽप्यत्र सूत्रितः । रवीन्दु-  
शुक्रावनिजैः स्वभागगैः सहिते गुरौ लग्नस्य त्रिकोणोदयधर्मगे इति तत्र  
योजना । यद्योक्तवदानीतानां रवीन्दुशुक्रावनिजानां गुरोश्च पञ्चानां  
स्फुटयोगराशौ लग्नत्रिकोणगतं, अपिशब्दादभ्य केन्द्रगते वा मति प्रथम-  
वयस्यपत्यलामः; वाशब्देनास्य णपरस्थिते मध्यवयसि, आपोऽह्निम-  
स्थिते अन्त्यवयसि पुत्रलाम इति द्रष्टव्यम् । एष प्रकारः क्षेत्ररवी-  
न्दुशुक्रावनिजगुरुस्फुटरपि संवादार्थं विचिन्तनीयः । अन्ये सम्प्रदाय-  
विदोऽत्र स्वभागगैतियत्र अक्षरमन्त्र्यया क्रमेण रवीन्द्रोश्चतुर्भिर्गुणनं,  
शुक्रावनिजयोस्त्रिभिर्गुणनं च कृत्वा तथा गुरौ श्रीति वचन्वशात्  
त्रिगुणत्वं गुरोश्च कृत्वा यथादर्शितं वीजबलं क्षेत्रबलं कालविशेषं च  
निर्देष्टव्यं भवते । स प्रकारोऽपि संवादार्थं निरूपणीयः । तथा पुन-  
रस्मिन्निमे करा इत्युक्त्या इमे अक्षरमन्त्र्यया पञ्चाशद्विनाडिकाचार

वशोपलभ्यसूक्ष्मग्रहस्थितिगतै रवीन्द्रादिभिः कर्तृत्वेन करशब्दवाच्यै-  
रप्यत्र कर्म कर्तव्यम् । अत्र विशेषोऽप्यस्ति —

“मार्गण्डोदयतौऽशुमाननुगृहं मेपान्ततो वामतः

पञ्चाशद्विष्टीभिर्गत्र विचरन् चापार्धतोऽनुक्रमात् ।

चन्द्रस्तच्चविनाडिकात्मकमुखो भागादिक चानयेद्

भूयः पञ्चभिरभ्यमेत् पुनरिमां पष्ट्यादिनारोपयेत् ॥

एवं सन्ततिमानुशीतकिरणावानीय हित्वा रविं

शीतांशोः पुनरत्र शुक्लतिथिजाः पुत्रान्विताः वीर्तिताः ।

पुत्रो नास्ति तथा मितेतरभूयां दत्तादिपुत्रोद्भवं

तत्रादौ तु ममादिशेज्जननतः प्रश्नेन वा पृच्छताम् ॥”

इत्युक्तमार्गेण च सूक्ष्मग्रहाणामष्टधर्मेण च सन्ततिसद्भावासद्भावौ  
निर्देष्टव्यौ । अत्र सन्तत्यभावलक्षणे सति तस्य लक्षणस्य दीर्घल्ये  
प्रायश्चित्तकर्मणा सन्ततिः स्यात् । दीर्घल्यं च लक्षणस्यासम्पूर्णतया  
शुभदृष्टिये गेन वा सम्भवति । तत्र निजानां वातपित्तादिजनितानां  
दोषाणां प्रायश्चित्तकर्म —

“जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते ।

तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥”

इत्यादिवचनवशात् कर्तव्यम् । आगन्तुकानां तु महदपघ्यानजनितानां  
तत्तदुचितशुभकर्माणि प्रायश्चित्तत्वेन विधेयानि । देवतापीडनानां तु  
“राक्षसभुजङ्गमैरवभूतानां भूमिनन्दनः स्वामी”त्यादिभिर्वचनैः बाधक-  
मवधार्य तदुचितानि बलिकर्माणि नृत्तादीनि च यथाबलं विधेयानि ।  
एवं दोषाणां प्रायश्चित्ते कृते सन्ततिलब्धिर्भवति । सन्तत्यभावलक्षण-  
स्य सम्पूर्णत्वे शुभग्रहदृष्टियोगात् वे च विरीजित्व सम्यग् भवति ।  
तेषां विरीजिनम् इमे पुत्रकारकत्वेनोक्ता रवीन्दुशुक्रावनिजगुरवः स्व-  
भागना अपि दृष्टेहीनानां चन्द्ररश्मय इव निष्फला भवन्तीत्यर्थः । यथोक्त-

लक्षणं प्रीतिरित्यामये बीजबलसङ्गो च अपत्यं भवति । अन्य-  
थापि बीजरूपनिरूपणं पुटग्रहाणाम् अर्द्धद्वयगुरुणां स्फुटानि पृथग्  
विन्यस्य लिप्तीकृत्य दिनगतनाडिकाभिः मापयामिर्गुणयेत् । अवयवांश्च  
सार्धाधिमानं पठ्यारोप्य त्यजेत् । ततः पञ्चदशेन हत्वा लब्धा  
विनाडिकाः स्युः । पुनः षड्भिर्हत्वा लब्धाः आस्यं च भवन्ति । एतद्  
बीजबलसाधनं भवति । एवं त्रयाणामपि बीजबलमाधनमानीय  
स्थापयेत् । तथा स्रग्ग्रहयोश्चन्द्रशुक्रयोश्च स्फुटार्धां पृथग् क्षेत्रबलमाधने च  
यथोक्तपदानेतव्ये । पुनः स्वं स्वं बीजबलमाधनं विन्यस्य विनाडीकृतं  
दिनगतेन गुणयित्वा पष्ट्वा हत्वा लिप्तिका लभ्यन्ते, शिष्टा त्रिलिप्ताश्च  
भवन्ति । एवं कृतानि बीजबलमाधनानि स्वे स्वे स्फुटं यथाव्याप्तं योज-  
येत् । तथा कृतानि तानि पुटग्रहस्फुटानि एकत्र योजयेत्, तद् बीजस्फुटं  
भवति । तथैवानीतक्षेत्रबलमाधनसंस्कृते स्त्रीग्रहं चन्द्रशुक्रयोः स्फुटं  
च योजयेत्, तत् क्षेत्रस्फुटं च भवति । एवमानोक्तयोः बीजक्षेत्रस्फुटयोः  
ओजग्रहयोगागतेन शुभग्रहद्वियोगाभ्यां च तथैवैवापत्यं निरूपणी-  
यम् । उभयोरपि बलस्य सुखेन मन्ततिलाभः । अन्ये पुनरेवं बीजबलं  
क्षेत्रबलं च निरूपयन्ति- पुरयस्य रश्मितगुहस्फुटानिर्द्धृत्य मण्डलं  
परिशोध्यवाशिष्टमोज ओजंश्चक्षेत्रं बीजबलमस्ति । अंशं कनाप्यम् ।  
तथा स्त्रियाः चन्द्रशुक्रगुरुस्फुटानिर्द्धृत्याश्विष्टं युग्मे युग्मनवांश्चक्षेत्रं  
क्षेत्रगुणमानीय स्ति ॥१॥ बीजबले मन्त्रेण मति क्षेत्रस्य बलमात्रे पुन-  
र्विवाह कृत्या मन्ततिलाभः । बीजबले त्रयम्पूर्णे अष्टापार्वणतिल  
होमादिभिः कृत्वा मन्ततिलाभः । उभयोरपि बलशून्यत्वे तयोः बीज-  
क्षेत्रस्फुटयोः योगराशेः पञ्चमे मस्ये वा पष्टग्रहयोगे मन्तत्यमायः ।  
पाशग्रहद्वियोगाभ्यां च तथैव यत्कथ्यम् । अथैव बीजक्षेत्रयोर्वैयर्थ्ये  
मति तयोर्स्फुटस्य पञ्चममस्यः पष्टग्रहापत्यं गामात्रे च मति  
मन्तनिर्भवतीति वक्तव्यम् तत्परं वा च,

“गुरुद्वितमुनस्याने यावता विद्यते (फ० व०)म् ।

अशुनीचमृदं त्यक्त्वा तान्तस्तनयाः स्मृताः ॥”



इति, त्रीवाष्टकवर्गवशात् —

“तत्र स्पेन्दोर्गुणैश्च द्वादशांशस्य पुत्रमे ।

बलाधिपस्य शुक्रार्क्षः पुत्रसद्व्यावर्गगम्यते ॥

पुत्राधिपमुक्तांगा यावन्तः पुत्रक्रास्तु तावन्तः ।

अंशवशेन विदध्यात् पुंस्त्रीष्टद्विधयादींश्च ॥”

इत्यादिवचनाच्च निर्देष्टव्या । इति दिङ्मात्रेण सन्तानाचिन्ताप्यत्र विधीजिनामित्युक्त्या सूचितेति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

गर्भाधानसम्भवलक्षणमुक्त्येदानीं आधाराधेयकयोः स्त्रीपुरुषयोराहितस्य गर्भस्य च आधानलक्षणवशात् प्रभलप्रयगाद् शतव्यमरिष्टं पशुभिः स्त्रोक्तैः संक्षेपेणोपदिशति—

दिवाकरेन्द्रोः स्मरगौ कुजार्कजौ

गदप्रदौ पुङ्गलये पितोस्तदा ।

व्ययस्वगौ मृत्युकौ तथा युतौ

तदेकदृष्ट्या मरणाय कल्पितौ ॥ ४ ॥

इति । दिवाकरेण पुंमः शुभाशुभनिरूपणम्, इन्दुना स्त्रियः शुभाशुभनिरूपणं च पूर्वप्रदर्शितमिह प्रकाशीक्रियते । दिवाकरस्य यत्र तत्र स्थितस्य स्मरगौ सप्तमगतौ कुजार्कजौ पुङ्गलस्य गर्भाधातुः पुरुषस्य गदप्रदौ रोगसूचकौ । तथा यत्र कुत्र व्ययस्थितस्य चन्द्रस्य स्मरगौ कुजार्कजौ सप्तमगतः कुजः अर्कजो वा योपितः रोगसूचकौ । तदा निषेककाल इत्यर्थः । तथा व्ययस्वगौ मृत्युकौ दिवाकरेन्द्रोः द्वादशघनस्थानगतौ कुजार्कजौ तदा मृत्युकौ भवत इत्यर्थः । दिवाकरस्य उभयतः स्थितौ कुजार्कजौ पुरुषस्य मृत्युकौ भवत इत्यर्थः । तथा चन्द्रस्य उभयतः स्थितौ कुजार्कजौ योपितौ मृत्युकौ भवत इत्यर्थः । कुजार्कजा युतौ तदेकदृष्ट्या मरणाय कल्पितौ कुजार्कजयोरेकः दिवाकरेण

युतः, इतरः तं पश्यति चेत् पुरुषस्य मरणाय भवति । तथा कुजार्कजयोरेकदन्द्रेण युक्त इतरः चन्द्रं पश्यति चेद् योपितो मरणाय भवतीत्यर्थः । तदा दिवाकरेन्द्रोः स्मरगौ कुजार्कजौ पुङ्गलयोपितोः मदप्रदौ भवत इत्यन्वयः । दिवाकरेन्द्रोः व्ययस्वर्गौ कुजार्कजौ पुङ्गलयोपितोः मृत्युकर्तौ भवतः । तथा दिवाकरेन्दुभ्यां युतौ कुजार्कजौ तदेकदृष्ट्या पुङ्गलयोपितोः मरणाय कल्पितावित्यन्वयः । अयं कुजार्कजन्यायः सर्वत्र भावभावाधिपशुमाशुमकथनेऽपि योजनीयः । कुजसमानः केतुः । अर्कजसमानो राहुः । इति राहु-केतुभ्याम् एवं निरूपणीयं प्रायेण ॥ ४ ॥

क्षीपुरपयोऽन्यमस्तिमाह—

दिवाकेशुक्रौ पितृमातृसंज्ञितौ

शनैश्चरेन्दू निशि तद्विपर्ययात् ।

पितृव्यमातृष्वसृसंज्ञितौ तु ता-

वयौजयुग्मर्क्षगतौ तयोः शुभौ ॥ ५ ॥

इति । दिवा अर्कशुक्रौ पितृमातृसंज्ञितौ भवतः, निशि शनैश्चरेन्दू पितृमातृसंज्ञितौ भवतः, तद्विपर्ययात् पितृव्यमातृष्वसृसंज्ञितौ च भवतः इति सम्बन्धः । दिवा निपेक्षेद् अर्कः पिता, शुक्रो माता, शनैश्चरः पितृव्यः पितृमोदरः, चन्द्रो मातृप्राभा । रात्रौ निपेक्षेद् शनैश्चरः पिता, अर्कः पितृव्यः, चन्द्रो माता, शुक्रो मातृप्राभा, इत्युक्तं भवति । तौ ओजयुग्मर्क्षगतौ तयोः शुभौ । पितृमातृग्रहौ पितृव्यमातृष्वसृग्रहौ च ओजयुग्मर्क्षगतौ तयोः पितृमात्रोः पितृव्यमातृष्वसृग्रहौ शुभा यथोक्तं शुभकर्ता भवतः । अथ अपात् प्रतीयमानं पितृपितृव्यग्रहयोः युग्मराशिगतत्वे सति अशुमत्वम्, मातृमातृष्वसृग्रहयोः ओजराशिगतत्वे च मत्तशुमत्वं विवक्षितमिति प्रकरणात् सिध्यति । अथ दिवाग्रहदेन दिवाग्रहयः निशाग्रहदेन निशा-

१. 'इत्येव' ति च २. 'हृ' क्ताम्पेनाह च ३. 'ति' को' क. ख. ४. 'मौ' ति' क.

५. 'यो' क्तं शुभाशुभं ग च ६. 'यो' मी' ग ७. 'जय' ति' ग. ख. ८. च.

राशयः ओजयुग्मयोर्लघादित्वं च संवादाय गृह्यन्ते । “स्फुटमिह भवति द्वित्रिसंवादभावाद्” इति प्रश्नजातकयोः संवादोऽवश्यमपेक्षणीय एव । अनेनापि पुङ्गलयोपितोरैवारिष्टमुक्तम् । प्रासङ्गिकयोः पितृव्यमातृव्यसौरैरिष्टमपि मनोरोगहेतुत्वेन पुङ्गलयोपितोरिष्टमेव भवति ।

“मनःक्षीरयोत्तापः परस्परमनुव्रजेत् ।

आधाराधेयभावत्वात् तस्माज्यघटयोरिव ॥”

इति प्रसिद्धेः । पुङ्गलयोपितोरेव गर्भाधानकाले पितृत्वं मातृत्वमपि सिद्धमित्यभेदोक्तिः । एतज्जातस्यापि चिन्त्यम् । तद् यथा— दिवा-जातस्यार्कशनैश्चरौ विपरीतराशौ विपरीतनवांशकस्थौ चेत् पितृपितृव्याभ्यां विरुद्धो भवति । एवं स्त्रियाश्चेत् तथैव । तत्र भेदः— यदि लग्ने पापसहिते कलत्राधिपे बलिष्ठे च तर्हि ताम्यां मैथुनादिकं च सम्भवति । एवं दिवाजातायाः स्त्रियाः चन्द्रशुक्रावोजराशावोजराशिनवांशकस्थौ भवतः, तदा सा मातृमातृव्यसुभ्यां विरोधिनी । तत्र पुंसश्चेत् तथैव । तत्रापि विशेषः— यदि लग्ने पापसहिते कलत्राधिपे बलिष्ठे च तर्हि ताम्यां मैथुनादिकं च सम्भवति । एवं रात्रौ चेत् तत्रोक्तन्यायेन द्रष्टव्यम् । तत्र आतृस्थानाधिपश्चन्द्रशुक्राभ्यां युतश्चेत् पुमान् भगिन्या सह मैथुनं गच्छति । अर्कशनैश्चराम्यां युतश्चेत् स्त्री आत्रा सह मैथुनं गच्छति, पुत्रस्थानाधिपश्चेत् पुत्र्या सह पुत्रेण वा, नवमस्थानाधिपश्चेद् मातुलान्या मातुलेन वा, सर्वत्र युक्त्या विचिन्त्य वक्तव्यम् ॥ ५ ॥

अतःपरमाहितस्य गर्भस्याचारभूताया मातुररिष्टं दर्शयति—

अभिलपद्भिर्हृदयर्क्षमसद्भि-

र्भरणमेति शुभर्दाष्टमयाते ।

उदयराशिसहिते च यमे स्त्री

विगलितोडुपतिभूसुतदृष्टे ॥ ६ ॥

इति । उदयर्क्षे इति सप्तम्यन्तमप्यध्याहार्यम् । उदयर्क्षे शुभदृष्टि-  
मयान्ते उदयर्क्षमाभिलषाद्भिः असदृभिः स्त्री मरणमेति । लग्ने शुभदृष्टि-  
मप्राप्ते लग्नमाभिलषद्भिः प्रवेष्टुर्गमैः द्वादशर्क्षान्त्यद्रेकाणस्थितैः पाप-  
ग्रहैः आहितगर्भा स्त्री मरणमेति<sup>१</sup> । तथाच गार्गिः—

“अशुभद्वयदृष्ट्यैः शुभदृष्टिविवर्जिते ।

आधानलग्ने मरणं योषितः प्रवेदेद् शुभः ॥”

इति । अत्र लक्षणान्तरमाह— यमे उदयराशिसहिते विगलितोडुपति-  
भूसुतदृष्टे च स्त्री मरणमेतीति सम्बन्धः । उदयलग्नस्थितं शनैश्च<sup>२</sup>  
क्षीणचन्द्रः क्षितिजश्च पश्यतश्चेद् आहितगर्भा स्त्री त्रियत इत्यर्थः ।  
अत्र दृष्टिः सप्तम्यतिरिक्तैश्च गृह्यते । सप्तमस्ययोः कुम्भचन्द्रयो-  
र्लम्बस्थशनैश्चरदृष्टौ सत्यां ‘युतौ तदेकदृष्ट्या मरणाय कल्पितौ’ इत्यु-  
क्तेन योगेनैव स्त्रीमरणस्य सिद्धत्वात् ॥ ६ ॥

<sup>३</sup>अथ गर्भस्य गर्भिण्याश्च निषेकप्रवशात् प्रभलप्रवशाद् वा वक्तव्यमस्ति  
साधेन श्लोकद्वयेन दर्शयति—

अशुभद्वयमध्यसंस्थितौ

लग्नेन्दु न च सौम्यवीक्षितौ ।

युगपत् पृथगेव वा वदे-

ज्ञात्री गर्भयुता विपद्यते । ७ ॥

इति । अत्र यदीत्यध्याहार्यम् । लग्नेन्दु अशुभद्वयमध्यसंस्थितौ  
सौम्यवीक्षितौ न यदि गर्भयुता नास्ती युगपत् पृथगेव वा विपद्यते  
इति वदेदिति सम्बन्धः । लग्ने च इन्दुश्च लग्नेन्दु पापयोर्द्वयो-

१ ‘वि। उ’ क ग ग. २. ‘ति। अत्रै रा ग घ ङ च ३ ‘अथ योगान्तरं  
पैतार्यापिनत्’ क ४ ‘पापद्वय’ क. ग घ. च ५ ‘विदुः’ क ग ह

र्मध्यस्थितौ शुभग्रहैरदृष्टौ चेद् अत्रोक्तयोगसम्भवः । लग्नेन्द्रोः पाप-  
द्वयमध्यसंस्थितिस्त्रिधा सम्भवति । तत्र लग्नेन्दू एकराशिमध्यगतौ  
तस्य राशेराद्यन्तयोः पापग्रहौ तिष्ठतश्चेद् एकः प्रकारः । व्यय-  
धनयोः पापग्रहौ तिष्ठतश्चेद् द्वितीयः । लग्नात् तृतीये लाभे वा चन्द्रः,  
द्वादशधनचतुर्थेषु वा दशमव्ययधनेषु वा यथासम्भवम् अर्कमौम-  
शनैश्चरास्तिष्ठन्ति चेत् तृतीयः । एषु त्रिष्वेकेन प्रकारेण पापद्वय-  
मध्यस्थयोः लग्नस्येन्द्रोश्च शुभदृष्ट्यभावे गर्भयुता नारी विपद्यत इति  
वदेत् । लग्नेन्द्रोः पृथक् स्थितयोः पापद्वयमध्यस्थितौ चन्द्रस्य शुभ-  
ग्रहदृष्ट्ये लग्नस्य च शुभग्रहदृष्ट्यभावे पृथग् गर्भ एव विपद्यत इति  
वदेत् । लग्नस्य शुभदृष्ट्ये सति चन्द्रस्य च शुभदृष्ट्यभावे पृथङ्  
नारी विपद्यत इति वदेत् । लग्नेन्द्रोरुभयोः पापद्वयमध्यसंस्थयोरपि  
शुभग्रहदृष्टौ सत्यां गर्भो गर्भिणी च क्लिश्यते न विपद्यत इति वदेत् ।  
निषेकाध्यायनिर्दिष्टानाम् अरिष्टानां प्रसवात् पूर्वमेव पाककालो नि-  
र्देश्य इति “निगदितमिह चिन्त्यं स्रुतिकालेऽपि युक्त्या” इति वक्ष्य-  
माणवशात् सिध्यति । अतो निषेकलग्नवशाद् निर्दिष्टा गर्भिण्या  
विपत्तिर्गर्भस्य शिशोरविपत्तिश्च कथं घटत इति चेत् प्रस्रुतिकाल  
मातुर्विपत्तिसम्भवात् । तथाचोक्तं ब्राह्मेन—

“वस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि ।

जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्वरेच्छिशुम् ॥”

इति । अत्र च दूतलक्षणं दर्शयति— ‘दूतस्याशुचित्वे प्रजानाशः ।  
दैवज्ञस्य चेन्मातुः’ इति । एतज्जातकेऽपि योज्यम् ॥ ७ ॥

अस्मिन् विषये योगान्तरं वैतालीयेनाह—

क्रूरे शशिनश्चतुर्थगे

लग्नाद् वा निघनाश्रिते कुजे ।

घन्ध्वन्त्यगयोः कुजार्कयोः

क्षीणेन्दौ निधनाय पूर्ववत् ॥ ८ ॥

इति । अश्विनश्चतुर्थगे क्रूरे कुजे निधनाश्रिते पूर्ववन्निधनाय भवति । लग्नाद् वा, लग्नात् क्रूरे चतुर्थगते कुजे निधनस्थानगते च पूर्ववन्निधनाय भवति । पूर्ववदित्यनेन शुभग्रहदृष्ट्यभावे गर्भिण्या गर्भस्य च निधनं भवतीत्युक्तं भवति । अर्थाह्णनेन्दोरेकत्वेऽपि सूर्ये सूर्यपुत्रे वा चतुर्थगे कुजे चाष्टमस्य शुभग्रहदृष्ट्यभावे गर्भगर्भिण्योर्विनाश इत्युक्तं भवति । अन्यल्लक्षणमाह—कुजार्कयोर्घन्ध्वन्त्यगयोः लग्नस्य चतुर्थद्वादशस्थयोः क्षीणेन्दौ सति यत्र कुग्रस्थिते चन्द्रे शुभग्रहदृष्ट्यभावे पूर्ववन्निधनाय भवति ॥ ८ ॥

अधुना मानुः शस्त्रनिमित्त मरणयोगं गर्भश्रुतिज्ञानं च वैतालीवेनाह—

उदयास्तगयोः कुजार्कयो-

निधनं शस्त्रकृतं वदेत् तदा ।

मासाधिपतौ निपीडिते

तत्काले स्त्रवणं समादिशेत् ॥ ९ ॥

इति । तदा कुजार्कयोः उदयास्तगयोः शस्त्रकृतं निधनं वदेत् । तदा निषेककाले प्रश्नकाले वा कुजे उदयगते सूर्ये अस्तगते च शस्त्रकृतं निधनं वदेत् । देहजरोगजं विना आगन्तुकशस्त्रकृतं निधनं वदेत् । शस्त्रमिति घातकवस्तूपलक्षणम् । इति गर्भगर्भिण्योररिष्टान्पुक्त्वा गर्भस्यारिष्टमाहोत्तरार्धेन—मासाधिपतौ निपीडिते तत्काले स्त्रवणं समादिशेत् । मासाधिपतीन् वक्ष्यति । यस्य मासस्याधिपतिर्निपीडितः युद्धे पराजितः अथवा रणिलसक्तः नीचगतो वा शत्रुक्षेत्रगतो वा तस्यैव मासे गर्भस्य स्त्रवणं निर्दिशेत् ॥ ९ ॥

१. 'शुभ' घ. २. 'अन्वदारीष्टमाह' ख. ग. घ. ङ. च. ३. 'य' ध. 'सं' झ.  
५. 'तस्मिन् मा' ख.

तममौल्यमप्यपराधम्—

शशाङ्कलग्नोपगतैः शुभग्रहै-

स्त्रिकोणजायार्थसुरास्पदस्थितैः ।

तृतीयलामर्शगतैरशोभनैः

सुखी च गर्भो रविणाभिवीक्षितः ॥ १० ॥

इति । गर्भिणीगर्भयोराधाराधेयत्वाद् अत्र अमेदेन सुखलक्षणं  
मुच्यते । शशाङ्कलग्नोपगतैः त्रिकोणजायार्थसुरास्पदस्थितैः शुभ-  
ग्रहैः तृतीयलामर्शगतैः अशोभनैश्च गर्भः सुखी भवतीत्यन्वयः ।  
शशाङ्कलग्नोपगतैः शशाङ्कोपगतैर्लग्नोपगतैर्वा शशाङ्कलग्नोपगतैर्वा ।  
अथवा चन्द्रालम्ब्याद् वा त्रिकोणयोः कञ्चनस्थाने वा धनस्थाने  
वा सुखस्थाने वा दशमस्थाने वा यथामन्त्रस्थितैः शुभ-  
ग्रहैः पुत्रगुरुशुक्रैः । तथा तृतीयस्थाने वा लग्नस्थाने वा स्थितै-  
रशोभनैः । बह्वचननिर्देशाद् भौमशनिराहुर्नेतुभिश्च गर्भः सुखी  
भवति सम्यक् पुष्टिमश्नुते । रविणा अभिवीक्षितः सूर्येण निरो-  
क्षितः । शशाङ्कस्य वा लग्नस्य वा योगकर्तुर्विशेषणमेतत् । शशाङ्क-  
स्योक्तस्थानेषु स्थितेष्वशुभेषु शुभेषु च रविदृष्टिरस्ति चेद् अथवा  
लग्नस्योक्तस्थानेषु स्थितेषु शुभेष्वशुभेषु च रविदृष्टिरस्ति चेत् सुख-  
युक्तया गर्भिण्या सुखयुक्तो गर्भो धार्यत इत्युक्तं भवति । शशा-  
ङ्कस्य वा लग्नस्य वा शशाङ्कलग्नयोर्वा यथोक्तस्थाने स्थितेषु शुभ-  
ेष्वशुभेषु च रविदृष्टिरस्ति चेत् सुखयुक्तया गर्भिण्या सुखयुक्तो गर्भो  
धार्यत इत्युक्तं भवति ॥ १० ॥

अथ निषिद्धस्य निषेकज्ञातस्य जन्मकालादुभयोरपि प्रथमकालाद् वा  
पुत्रीविभागज्ञानं शार्दूलप्रकाशेनाह—

ओजर्क्षे पुरुषांशकेषु बलिभिर्लग्नार्वगुर्विन्दुभिः

पुंजन्म प्रवदेत् समाशंसदितैर्युग्मेषु तैर्योपिताम् ।

१ इति गभगभिण्यारविष्टा-युक्त्या गर्भं ॥ २ 'अमेदशुभल' क  
३ 'शत्रुप' क ४ 'शुभयु' छ ५ द्वाभ्यां श्लोकाभ्यामाहिनस्य गर्भस्य स्त्रीस्य  
पुंसविविधनिरूपणप्रकारमाह—च न घ ङ च ६ शक्यतेयुं द

गुर्वकौ विषमे नरं शशिसितौ वक्रश्च युग्मे स्त्रियं

द्वयंशस्या बुधवीक्षणाच्च यमलं कुर्वन्ति पक्षे स्वके ॥११॥

इति । निषेकममये प्रभ्रममये वा ओजस्ये पुरुषांशकेषु  
बलिभिः लग्नार्कगुर्विन्दुभिः पुञ्जम् प्रदेद् इत्यन्वयः । ओजगाशौ  
ओजांशकेषु बलपुस्तैः लग्नार्कगुर्विन्दुभिः । लग्नं च अर्कश्च गुरुश्च  
इन्दुश्चेति द्वन्द्वः । एभिः पुञ्जम् पुरुषस्य जन्म । गर्मस्थः पुरुष  
इति वदेत् । युग्मेषु समांशमर्हितः तैः योपितां जन्म प्रदेद् ।  
समराशिषु वृषकर्कटादिषु पञ्चु समांशगतैः बलिभिः लग्नार्कगुर्वि-  
न्दुभिः योपितां जन्म प्रदेद् । गर्मगता स्त्री इति वक्तव्यमित्यर्थः ।  
लग्नार्कगुर्विन्दूनां ओजयुग्मराश्यंशसङ्करे विशेषकथनार्थमाह गुर्वकौ  
विषमे नरं वुरुतः । लग्नादिगणने विषमराशिस्थितौ गुर्वकौ गर्मस्थं  
पुरुषं वुरुतः । मेषादिगणने ममराशिस्थित्या प्राप्तस्य स्त्रीत्वस्याप-  
मपवादः । तथा युग्मे स्थितौ शशिसितौ वक्रश्च स्त्रियं कुर्वन्ति ।  
अत्र स्वतः स्वग्रहस्य शुक्रस्य समराशिस्थित्या स्त्रीकर्तृत्व युक्तम् ।  
अतश्चन्द्रेण तुल्य इति शशिसितामिति द्वन्द्वममामः । वक्रश्चेति  
पृथङ्निर्देशेन बुधस्य लग्नादिममराशिस्थित्यां योपिताधिक्यघोतक  
त्वात् स्त्रीकर्तृत्व, लग्नादिममराशिस्थित्येव स्वतः पुरुषग्रहत्वाद्  
पुरुषकर्तापि भवतीति द्योत्यते चतुर्थपदेन यमलक्षणायाह— उक्ताः  
ग्रहाः द्वयंश्याः बुधवीक्षणात् स्वके पक्षे यमलं कुर्वन्ति च इत्य-  
न्वयः । द्वयंश्याः उभयराश्यंशसङ्ख्याः बुधस्य दृष्ट्या स्वके पक्षे  
यमलं पुरुषपक्षे पुरुषद्वयं स्त्रीपक्षे स्त्रीद्वयं कुर्वन्ति । कथम् । मिथुन-  
घन्यंशसङ्गतायादित्यर्थावौ याद् बुधेन सन्दृश्येते तदा यमलौ  
द्वौ पुरुषां वक्तव्यौ । ययामम्ममं नन्यामीननयाश्रमगताश्चन्द्रशुक्रा-  
क्षारसा यदा बुधेन दृश्यन्ते तदा यमले द्वे कन्ये कुर्वन्ति । अय  
द्वौ च वर्गा यथादर्शितस्थां बुधः पश्यति तदस्य पुत्रार्थसा कन्या  
वक्तव्य इति ॥ ११ ॥



अथ पुञ्जन्मयोगान्तरमुपेन्द्रवज्रयाह—

विहाय लग्नं विषमर्क्षसंस्थः

सौरोऽपि पुञ्जन्मकरो विलग्नात् ।

प्रोक्तग्रहाणामवलोक्य वीर्यं

वाच्यः प्रसूतौ पुरुषोऽङ्गना वा । १२ ॥

इति । लग्नं विहाय विलग्नाद् विषमर्क्षसंस्थः सौरोऽपि पुञ्जन्म-  
करो भवति । लग्नादिगणने लग्नादन्यत्र विषमराशिस्थितः तृतीय-  
पञ्चमसप्तमनवमैकादशस्थितः सौरो गर्भस्थितं पुरुषं करोति । अपि-  
शब्देन समराशिस्थितो बुधः स्त्रियं करोतीति द्योत्यते । उक्तानां  
योगानां स्फुटत्वाभावे विशेषमाह— प्रोक्तग्रहाणामिति । प्रोक्त-  
ग्रहाणां वीर्यमवलोक्य प्रसूतौ पुरुषोऽङ्गना वा वाच्यः । प्रोक्तानां  
ग्रहाणामुक्तेषु योगेषु पुरुषकारकत्वेनोक्तानां ग्रहाणां वीर्यमवलोक्य  
प्रसूतौ पुरुषो वाच्यः, स्त्रीकारकाणां ग्रहाणां वीर्यमवलोक्य प्रसूतौ  
स्त्री जायते इति वक्तव्यमित्यर्थः । पुरुषपक्षग्रहाणां यथोक्तम् उच्च-  
त्रिकोणक्षेत्रातिमित्रमित्रोदासीनशत्र्वतिशत्रुनीचर्क्षादिपङ्क्तवर्गसम्भवानि  
स्थानयलानि वक्रयुद्धसमागमभवानि चेष्टावलानि दिग्बलकालबल-  
निसर्गवलानि च सम्यगानीय केन्द्रपणपरापोष्णिमस्थितिनिमित्तं च  
उत्तममध्यमाधमवर्लत्वं चावलोक्य लग्नस्य लग्नांशकस्य च यथोक्त-  
बलमवलोक्य पुरुषपक्षग्रहाण्यंशकानां बलपिण्डाधिक्ये पुरुषः प्रसूयते,  
स्त्रीपक्षग्रहाण्यंशकानां बलपिण्डाधिक्ये स्त्री प्रसूयते इति च वक्तव्य-  
मित्युक्तं भवति । यथोक्तयोगानां स्पष्टत्वे योगेनैव फलं वक्तव्यमिति  
सर्वत्र द्रष्टव्यम् । प्रोक्तग्रहाणामित्यत्र प्रशब्देन आदिग्रहणवशात्  
'प्रागाद्या रविशुक्र' इत्यादिनोक्तानां स्थिरचक्रचराणां सूक्ष्मग्रहाणां  
स्थितिवलेनापि निरूपणीयम् इति चात्र द्योत्यते । पुरुषपक्षस्त्रीपक्ष-  
निरूपणमप्यत्र श्लोकद्वये दर्शितम् । तद्यथा— ओजर्क्षे पुरुषांशकेषु

इत्यत्र लग्नार्कगुर्विन्दनाम् ओजयुग्मराश्यंशकमङ्कुरे सति ओजगतराश्यंशक-  
प्रमाणा वराटिका दक्षिणतः स्थाप्याः । युग्मराश्यंशकमंस्या वराटिका  
उत्तरतः स्थाप्याः । ततो गुर्वर्कौ लग्नादिविषमराशिस्थौ चेद्-  
दक्षिणतः संयोज्यौ । अशिमितवक्रा लग्नादिसमराशिम्यिताश्चेद् वामतः  
संयोज्याः । एतेषु ग्रहेषु उभयराशिम्यितेषु यस्य बुधदृष्टिः तस्य  
स्वपक्षे द्विगुणं येजानीयम् । ततः पुनरपि शनैश्चरं लग्नादन्यत्र  
विलग्नादिविषमराशिस्थितश्चेद् दक्षिणभागे एकं योजनीयम् । मौरो  
ऽपीत्यत्रापिशब्देन बुधो विलग्नादिममराशिस्थश्चेद् वामभागेऽपि एकं  
योजनीयम् । वक्रश्चेति पृथङ्निर्देशेन कुजस्य वक्रफलपक्षे लग्नाद्  
ओजराशिम्यित्यां दक्षिणभागेऽपि एकं योजनीयम् । एवं संयोजितेषु  
दक्षिणस्थानामाधिक्यं चेत् पुरुषः, वामस्थानामाधिक्यं चेत् स्त्री  
प्रसूयत इति वक्तव्यम् । लग्नशब्देन 'लग्ने सङ्गे' इत्यस्माद् धातो-  
निष्पन्नेन पूर्वक्षितिजे उदीयमाना क्षितिजसङ्घिनी राशिकला च  
तथा प्रश्नकाले पृच्छकप्राभृताधिष्ठितस्फिरचक्रकला च तन्त्रेणोच्यते ।  
अतो लग्नारूढयोर्बलाधिकेन वक्तव्यमिति सिद्धं भवति ।

इमौ श्लोकौ 'निगदितमिह चिन्त्यं द्युतिकालेऽपि धुक्त्ये'ति वक्ष्य-  
माणत्वात् प्रसूतस्य पुंसः स्त्रियो वा सन्तानचिन्तायामपि योजनीयौ । अत्र  
पुञ्जमेति पुत्रजनकत्वमुच्यते, योपितामित्यत्र योपिज्जनकत्वं विप्रक्ष्यते(?) ।  
श्रीपतिश्रीधरगोविन्दादिप्रणीतपद्धतिप्रदर्शिते ग्रहलग्नानां यलानयने  
पृथग् ग्रहबलपिण्डानां पदम्पोऽधिकत्वे अतिबलत्वं पदप्रमाणत्वे  
बलवचनं पदम्पो हीनत्वे हीनबलत्वं चात्र अक्षरसंख्यया पद-  
संख्येयस्य पु इत्येतस्योपरि बलिभिरित्युक्त्या सूचितम् । इदं च परांश  
बलावलोकनौ द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

येषु ह्यौषधोक्तान् सार्वभौमिहोक्तानाह—

अन्योन्यं यदि पश्यतः शशिरर्वा यद्वाकिंसांम्यौ तथा

वक्रो वा समगं दिनंशमममे चन्द्रोदर्यौ चत म्यिता ।

१. 'किं सां' ग. च २. 'ग्रहा' च ३. 'गोप' च ४. 'गोप' ग. द.

५. 'सुर्वक्षि', ६. 'ग्रहा' च ७. 'मममे' च ८. 'मममे' ग. च

९. 'तस्य मयुं' च १०. 'तस्य' च

युग्मौजर्क्षगतावपीन्दुशशिशौ भूम्यात्मजेनेक्षितौ

पुम्भागे सितलग्नशीतकिरणाः स्युः क्लीबयोगाः स्मृताः ॥१३॥

इति । अत्रोत्तरार्धगतं युग्मौजर्क्षगतावपीति पदं द्विवचनोक्ति-  
बलात् पूर्वत्र योगद्वयेऽप्यनुकृष्यते । असम इति पदं तृतीय-  
चतुर्थयोगयोर्मध्यस्थितं भित्तिप्रदीपन्यायेन तयोर्द्वयोरपि योजनीयम् ।  
युग्मौजर्क्षगतौ शशिरवी अन्योन्यं पश्यतः यदि एकः क्लीबयोगः  
इति सम्बन्धः । युग्मराशिगतचन्द्र ओजराशिगतः सूर्यश्च अन्योन्यं  
पश्यतो यदि तदा एकः क्लीबयोगः । तथा युग्मौजर्क्षगतौ आर्कि-  
सौम्यौ परस्परं पश्यतो यदि तदा द्वितीयः क्लीबयोगः । असमे  
वक्रः समं दिनेशं पश्यति यदि तदा तृतीयः क्लीबयोगः । इति  
योगत्रितयम् । असमे स्थितौ चन्द्रोदयौ भूम्यात्मजेनेक्षितौ चेद्  
एकः क्लीबयोगः । ओजराशिस्थितं चन्द्रम् ओजराशिस्थितं लग्नं च  
यत्रकुत्रस्थितौ भौमः पश्यति चेदित्यर्थः । युग्मौजर्क्षगतौ इन्दु-  
शशिशौ भूम्यात्मजेनेक्षितौ चेद् द्वितीयः क्लीबयोगः । युग्मगतं  
चन्द्रम् ओजगतं बुधं च यत्रकुत्रस्थितौ भौमः पश्यति चेदिति  
भावः । पुम्भागे सितलग्नशीतकिरणाः ओजभागे शुक्ललग्नचन्द्राः यदि  
निष्ठान्ति तदा तृतीयः क्लीबयोगः । इति च योगत्रितयम् । एतं  
पद् योगाः क्लीबयोगाः स्मृताः । मुनिभिरिति शेषः । अत्र  
बादरायणः—

“अन्योन्यं रविचन्द्रौ विपमर्क्षसमर्क्षगौ निरीक्ष्येते ।

इन्दुजरविपुत्रौ वा तथैव गर्भे नपुंसकं कुरुतः ॥

समराशिगतं सूर्यं वक्रो विपमर्क्षगोऽवलोकयति ।

विपमर्क्षे लग्नेन्दू कुजेक्षितौ पण्डसम्भवं कुरुतः ॥

बुधचन्द्रौ कुजदृष्टौ विपमर्क्षगतौ तथैवोक्तौ ।

ओजनवांशकसंस्था लग्नेन्दुसितास्तथैवोक्ताः ॥”

इति । द्विविधाः क्लीबाः स्त्रीपुरुषव्यञ्जनहीनाः स्त्रीपुरुषधर्महीनाश्च ।  
तेऽपि स्त्रीरूपिणः पुरुषरूपिणश्चेति (त्रि?द्वि)विधाः । तत्र व्यञ्जनहीनाः  
प्रथमयोगत्रयेण लक्ष्यन्ते । धर्महीना द्वितीययोगत्रयेणेति द्रष्टव्यम् ।  
शुक्लशोणितयोगसम्भवः खलु गर्भः । तत्र शुक्लाधिक्ये पुरुषो जायते ।  
शोणिताधिक्ये स्त्री । शुक्लशोणितयोः साम्ये नपुंसकमिति व्यव-  
स्थितं पुंजीकारकस्य सूर्यस्य स्त्रीशोणितकारकस्य चन्द्रस्य च पर-  
स्परदृष्टिसाम्ये शुक्लशोणितयोः साम्यं लक्ष्यते । तच्च दृष्टिसाम्यं  
सप्तमदृष्टौ न सम्भवति । तदा तथोर्ध्वमौर्ध्वगतत्वासम्भवात् । तर्त-  
त्त्रिदशत्रिकोणचतुरश्रगतास्वपि दृष्टिषु परस्परसाम्यं पद्वीर्तप्रदर्शित-  
दृष्टिपट्यंशानयने पष्ठाष्टमैस्थयोरेव भवति । तत्र परस्परदृष्टिसाम्य-  
सम्भवं<sup>१</sup> योगत्रये शुक्लशोणितसाम्यसम्भवाद् व्यञ्जनहीनं नपुंसकं  
विवक्ष्यते । उत्तरत्र योगश्रितये प्रथमाद्वितीययोः सत्त्वकारकमौ-  
दृष्टिजन्यत्वात् तृतीये पुरुषस्वभावराश्यंशकैः स्त्रीस्वभावशुक्लचन्द्राभ्यां च  
लक्षितत्वात् स्त्रीपुरुषधर्मसङ्करसम्भवेन केवलं स्त्रीपुरुषधर्महीनं नपुंसकं  
विवक्ष्यते । अत्र योगेषु स्त्रीपुरुषलक्षकांशकबलावलवशात् स्त्रीरूपत्वं  
पुरुषरूपत्वं वा वक्तव्यम् । एते पूर्वोक्तयोगाभावे वक्तव्याः । तेषां  
योगानामेतेषां च सम्भवे तेषामेव बलवत्त्वम् । एतज्जातकेऽपि विचि-  
न्तनीयम् । तत्र कथम् । क्लीबयोगसंयुक्त्ये सति स्पष्टतरं न दृश्यते ।  
द्वित्वे सति पूर्णमेव । योगकर्ता बलहीनश्चेत् तस्य दशायामन्त-  
र्दशायां वा अर्जुनादिवत् क्लीबत्वम् । अथवा जायासन्निधौ तां  
गन्तुमशक्तया प्र(लस)वादिकं वा विचिन्त्य वक्तव्यम् ॥ १३ ॥

इति स्त्रीपुरुषपुंसकलक्षणमुक्त्वा धर्मस्य समलावविशेषं शार्दूलविक्रीडितेनाह —

युग्मे चन्द्रसितावथौजभवने स्युर्ज्जरजीवोदया

लग्नेन्दु नृनिरीक्षितौ च समगौ युग्मेषु वा प्राणिनः ।

१. 'पुष्टेऽपि' घ. २. 'स्त्रियश्चेति' शु. क. ३. 'रवेः शोणि' छ. ४. 'प्र प्रिदि'  
ग. द. घ. ५. 'इ प' ग. ६. 'तिद' च. ७. 'मयो' च. ८. 'म्ययो' क. 'म्यमयो' द.  
९. 'ययोगशु' ग. च.

कुर्युस्ते मिथुनं ग्रहोदयगतान् व्यङ्गांशकान् पश्यति

स्वांशे ज्ञे त्रितयं ज्ञांशकवशाद् युग्मं त्वमिश्रैः समम् ॥१३॥

इति । अथ युग्मे चन्द्रमितौ ओजमवने क्षारजीवोदयाः स्युः  
ते मिथुनं कुर्युः । युग्मराशिस्थितौ चन्द्रशुक्रौ ओजराशिस्थिता बुध-  
कुजगुरुवः उदयलग्नं च गर्भगतं मिथुनं कुर्युः । यमलत्वे एकं  
पुरुषम् एकां स्त्रियं कुर्युः । तथा लग्नेन्दू समगौ नृनिरोक्षितौ च  
मिथुनं कुर्याताम् । समराशिगतौ उदयलग्नचन्द्रौ नृनिरोक्षितौ सूर्य-  
कुजगुरुभिः पुरुषग्रहैस्त्रिमिरपि निरीक्षितौ मिथुनं कुर्याताम् । युग्मेपु  
प्राणिनः ते वा । युग्मराशिषु प्राणिनः प्राणवन्तः बलाधिका इति  
यावत्, ते क्षारजीवोदयाः मिथुनं कुर्युः । ग्रहोदयगतान् व्यङ्गांशकान्  
स्वांशे ज्ञे पश्यति त्रितयं भवति । ग्रहोदयगतान् ग्रहैरुदयलग्नेन च  
प्राप्तान् अधिष्ठितान् व्यङ्गांशकान् स्वांशगते बुधे पश्यति त्रितयं  
भवति गर्भस्थं प्रजात्रयं भवति । तत्र ज्ञांशकवशाद् युग्मं बुधा-  
धिष्ठितांशकवशाद् युग्मं, बुधो मिथुनांशगतश्चेद् द्वौ पुरुषौ एका स्त्री,  
बुधः कन्यांशगतश्चेद् द्वे स्त्रियौ एकः पुरुष इति । अमिश्रैः समम् ।  
अमिश्रैः अन्येऽपि पुरुषराशिर्व्यङ्गांशकस्थाः बुधश्च मिथुनांशगतः पश्यति  
चेत् त्रयः पुरुषाः अन्ये कन्यामीनांशगताः बुधः कन्यांशगर्भः  
पश्यति चेत् तिस्रः स्त्रियो भवन्ति । तथा च सारावल्यां—

“समराशौ शशिसितयोर्विषमे गुरुवक्रान्नसौम्येषु ।

योगेऽस्मिन् गर्भगतं मिथुनं गर्भस्थितं(?) वाच्यम् ॥

लग्ने(न्दू) वा समगौ पुंग्रहद्वयौ च मिथुनचन्मकरौ ।

उदयज्ञवक्रगुरुवो बलिनः समराशिगास्तथैवोक्ताः ॥

द्विशरीगंशकयुक्तान् ग्रहान् विलग्नं च पश्यतीन्दुसुते ।

कन्यांशे द्वे कन्ये पुरुषश्चैको निषिच्यते गर्भे ॥

मिथुनांशे कन्यैका द्वौ पुरुषौ त्रितयमेवं स्यात् ।

मिथुने घनुरंशकगतान् ग्रहान् विलग्नं च पश्यतीन्दुसुतः ॥

१. 'व्यङ्गांशका' इ. २. 'म'। युग्मेपु स' घ. ३. 'बलव' ख. ४. 'अशांश' इ.

५. 'त' ग. ६. 'दं' इ.

मिथुनांशस्थश्च यदा पुरुषात्रितयं तदा गर्भे ।

कन्यामीनांशस्थान् विहगानुदयं च युवतिमागगतः ॥

पश्यति शिशिरशुतनयः कन्यात्रितयं तदा गर्भे ।”

एतज्जातके चेद् दृश्यते (चेद्?) मिथुनांशकस्थस्य बुधस्य बहुकलत्रता ताः पुरुषाकृतयश्च, कन्यांशकस्थश्चेदपि बहुकलत्रता ताः कन्या-  
प्रसूतयोऽपि भवन्ति इति ॥ १४ ॥

गर्भस्य बहुमानिस्वरूपलक्षणमुपजातिकयाह—

धनुर्धरस्यान्त्यगते विलम्बे

ग्रहैस्तदंशोपगतैर्घलिष्ठैः ।

बुधार्किणा वीर्ययुतेन दृष्टे

सन्ति प्रभूता अपि कोशसंस्थाः ॥ १५ ॥

इति । विलम्बे धनुर्धरस्य अन्त्यगते वीर्ययुतेन बुधार्किणा दृष्टे  
तदंशोपगतैः घलिष्ठैर्ग्रहैः कोशसंस्थाः प्रभूता अपि सन्ति । लम्बे  
धनुषि धनुर्शके सति वीर्ययुतेन बुधेनार्किणा च दृष्टे तदंशो-  
पगतैः धनुर्शोपगतैः धनुर्शस्थितैः ग्रहैः सर्वैर्ग्रहैर्नापि स्थितैश्चा-  
पांशगतैः सर्वैर्ग्रहैरित्यर्थः । क शसंस्थाः लरायुस्थिताः प्रभूता अपि  
बहवोऽपि भवन्ति । एतज्जातके चेद् बहुजनपरिवारो भवति ॥ १५ ॥

गर्भगतप्रजालक्षणमुक्त्वा शुभाशुभनिरूपणाय क्रमेण माताधिपतीन् नाकुटेकमाह—

कैलत्घनाङ्कुरस्थिचर्मङ्गजचेतनदाः

सितकुजजीवसूर्यचन्द्रार्किबुधाः परतः ।

उदयचन्द्रसूर्यनाथाः क्रमशो गदिता

भवति शुभाशुभं च माताधिपतेः सदृशम् ॥ १६ ॥

इति । मामाश्रयविधा । तथाचोक्तम्—

“सौरं विदुर्भास्कराशियोमोद् दर्शार्थं माममुशन्ति चान्द्रम् ।  
विंशदिनं सावनमंत्रनाहुर्नाथमिन्दोर्मगणभ्रमेण ॥”

इति । उक्तेषु चतुर्विधेषु मासेषु अत्र सौरं नाक्षत्रं चाङ्गीकृत्य  
योजनीयम् । तत्र मौरमासयोजने नावत् सितकुजजीवसूर्यचन्द्रार्कि-  
बुधाः कैललयनाङ्कुरास्थिचर्मद्वज्जचेतनदा भवन्ति इत्यन्वयः । तत्र  
प्रथममासाधिपः शुक्रः निपिक्तं वोजं कनलं शोणितेन मेलयित्वा  
सान्द्रं करोति । द्वितीयमासाधिपः कुजः सान्द्रीभूतं गर्भं घनं  
करोति । तृतीयमासाधिपो जीवो घनीभूतस्य गर्भस्य अङ्कुरं कर-  
चरणाद्यवयवानाम् अङ्कुरं करोति । ततो जीवस्तृतीयमासि पुंस्त्री  
क्लोबव्यक्तिं करोतीत्युक्तं भवति । चतुर्थमासाधिपः सूर्यो गर्भस्य  
अस्थानि जनयति । पञ्चममासाधिपश्चन्द्रः चर्म त्वचं जनयति ।  
षष्ठमासाधिपो मन्दः अङ्गजानि नखरोमाणि करोति । ततः सप्तम  
मासाधिपो बुधः चेतनं चैतन्यं करोति । इति सप्तभिर्मासैर्गर्भस्य  
सम्पूर्णतां सुखदुःखज्ञानं च उक्तक्रमेण ग्रहाः कुर्वन्तीत्यर्थः । परत  
उदयपचन्द्रसूर्यनाथाः अष्टमनवमदशमा मासाः क्रमेण लग्नाधिप-  
चन्द्रसूर्यनाथा भवन्ति । अष्टमस्य मासस्य निपेककाललग्नाधिपः प्रश्न-  
काललग्नाधिपो वा नाथो भवति, नामस्य चन्द्रः दशमस्य सूर्य  
इति क्रमेण दशमासात्मकस्य गर्भधारणसौरकालग्न्याधिपतयः । अस्मिन्  
काले द्वादश नाक्षत्रमासाः प्रायेण सम्भवन्ति । नाक्षत्रमामस्य सम  
विंशतिदिनात्मकत्वात् । एषु नाक्षत्रमासेषु परतः अवसाने त्रयः  
दशमैकादशद्वादशाः उदयपचन्द्रसूर्यनाथाः, आदितः सप्त सितकुज  
जीवसूर्यचन्द्रार्किबुधनाथाश्च कथिताः । मध्ये द्वौ अष्टमनवममामौ  
शिष्टौ । तयोः परतःशब्देन संज्ञाध्याये ‘राहुस्तमोऽगुरसुरश्च शिखीति  
केतुरिति ग्रहेभ्यः परत ऋतौ राहुकेतू नाथाविति वेदितव्यौ ।  
अत्र पक्षे गर्भाधानदिवसात् प्रभृति सप्तविंशतिदिनानि प्रथमो मासः,  
तस्य शुक्रोऽधिपतिः । ततः सप्तविंशतिद्वितीयो मासः, तस्य कुजो-

ऽधिपतिः इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवमष्टभिः सौरमार्सर्नव नाक्षत्र-  
मासा भवन्ति । अत्र मौरपक्षे अष्टमस्य मामस्य लक्षाधिपो नाथः ।  
नाक्षत्रपक्षे केतुः । अष्टममामस्य ओजःसङ्क्रमणात्मकत्वाद् ओजः-  
कारकेण सत्त्वात्मकेन कुजेन तुल्यफलस्य केतोराधिपत्यं युक्तम् ।  
तथाचोक्तम्—

“ओजोऽष्टमे मञ्चरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ।  
तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति ॥  
शिशुरोजोऽनवस्थानाक्षरी संश्रयिता भवेत् ।  
रसिन्नेकाहगते तु कालः सूतेरतः परम् ॥”

इति । मासाधिपतीनुक्त्वा तत्फलमाह— शुभाशुभं च मामाधिपतेः  
सदृशं भवति । मामाधिपतिरुच्यक्षेत्रमित्रादिगतश्चेत् तस्य मामे तदु-  
क्तानि शुभफलानि वक्तव्यानि । शत्रुनीचादिगतश्चेत् तदुक्तान्य-  
शुभानि वक्तव्यानि । कुप्रोक्तानीति चेद् दशाफलादिपूक्तानीत्यनु-  
सन्धेयम् ।

“संज्ञाध्याये यस्य यद् द्रव्यमुक्तं कर्माजीवे यस्य यच्चोपदिष्टम् ।  
मावस्थानालोकयोगोद्भवं च तत्तत्सर्वं तस्य योज्यं दशायाम् ॥”

इत्युक्तन्यायेन स्वस्वमासे स्वकीयानि शुभाशुभानि प्रयच्छन्ति ग्रहा  
इति यावत् । मासाधिपतिग्रहस्वभावेन कटुकलवणादिरमेषु देवाभ्य-  
न्निविहारकोशशयनादिस्थानेषु शब्दस्पर्शादिगुणेषु वा गर्भिण्या रुचि-  
र्जायते । राश्यंशकटाष्टयांगादिवशेन तद्विशेषो विनिर्देश्यः । तथा  
शत्रुनीचादिगतत्वे मामाधिपतेरशुभानि शोकज्वरादीनि च वाच्यानि ।  
ग्रहाणां भौत्यपगजयादिभिरतिकष्टफलप्रदत्वे स्वकीयमामं गर्भस्रवण-  
मपि भवतीति पूर्वमेवोक्तं— ‘मामाधिपतौ निपीडिते तत्काले स्रवणं  
समादिशेद्’ इति । अत्र न गर्भिणीगर्भयो रोगमात्रमशुभशब्देनोक्तम् ।  
रोगस्य चिकित्सया शान्तिर्भवति । यथोक्तं—

“गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽपि वा ।  
पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले प्रत्यास्याप्य प्रमाद्येत् ॥”



इति । गर्भस्यापि रोग उक्तः । तथाहि—

“सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात् ।  
वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति मस्फुरः ॥

उपविष्टकमाहुस्तं वर्धते तेन नोदग्म् ।  
शोकोपवासरूक्षाद्यैरथवा योन्यतिस्रवात् ॥

घाते क्रुद्धे कृशः शुष्येद् गर्भो नागोदरं तु तत् ।  
उदरं वृद्धमप्यत्र हीयते स्फुरणं चिरात् ”

इत्यादिवैद्यशास्त्रोक्तानाम् उपविष्टकनागोदरादीनां चिकित्सासाध्यानां गर्भरोगाणां लक्षणं मासाधिपतेरशुभप्रदत्वे सति राश्यंशकदृष्टियोग-  
वशाद् बोद्धव्यमिति अत्राशुभशब्देन द्योत्यते । पूर्वत्र ‘मासाधिपतौ  
निपीडिते’ इत्यत्र असाध्यस्य गर्भस्रावस्य लक्षणमुक्तमिति अत्र न  
पौनरुक्त्यवकाशः । तत्र पूर्वत्र ‘तत्काले स्रवणं समादिशे’दित्युक्त्या  
अस्मिन् मासे अस्मिन् नक्षत्रेऽस्मिन् घारेऽस्मिन् राशौ अस्यां काल-  
होरायां स्रवणस्य सम्भव इति कालविशेषस्यापि समादेश्यत्वं विहितम् ।  
तद्यासाध्यस्य गर्भस्रावस्यैव कालविशेषलक्षणं घटत इति च सर्व-  
मनवद्यम् । अत्र च दूतलक्षणं दर्शयति— स्थिरचक्रे यस्मिन् राशौ  
गर्भिणी दृश्यते तद्राश्यधिपोक्तसामिला(वी?पिणी) च भवति । बल-  
हीने तद्रसहेतुको रोगो वाच्यः ॥ १६ ॥

अथ च गर्भस्यस्य जन्तोः पूर्वकर्मविपाकप्रभाराण्डानामुनातिरिक्ततां वंशस्थेनाह—

त्रिकोणगे ज्ञे विबलैस्ततोऽपरै-

मुखाङ्घ्रिहस्तैर्द्विगुणैस्तदा भवेत् ।

अवाग् गवीन्दावशुभैर्भरान्धिगैः

शुभेक्षितं चेत् कुरुते गिरं चिरात् ॥ १७ ॥

इति । तदा ज्ञे त्रिकोणगे ततः अपरैः विबलैः द्विगुणैः मुखा-

हृदिहस्तैः उपलक्षितः भवेदित्यन्वयः । अपरैः अन्यैः ततः बुधादन्यैः गुरुशुक्रमन्दैः । परे न भवन्तीति नन्ममासेन बुधात् पूर्वं व्युत्क्रमात् कुजचन्द्रसूर्या उच्यन्ते । तथा अपरशब्देन अन्यार्थेन क्रमाद् गुरुशुक्रशनैश्चराश्वोच्यन्ते । ततस्तयोरपरशब्दयोर्भिन्नार्थयोरपि समानरूपत्वात् 'सरूपाणामेकशेष एकविमक्तौ' (१.२.६४) इत्येकशेषत्वात् ततोऽपरैरिति पूर्वं त्रयः परे त्रयश्च ग्रहा गृह्यन्ते । ततः बुधात् पूर्वपराभ्यां कुजगुरुभ्यां विबलाभ्यां हीनबलाभ्यां सुखद्वैगुण्यं भवति । ततः पूर्वपराभ्यां चन्द्रशुक्राभ्याम् अहृदिद्वैगुण्यं भवति । ततः पूर्वपराभ्यां सूर्यशनैश्चराभ्यां हस्तद्वैगुण्यं भवति । द्वैगुण्यं चात्र विबलग्रहजन्यत्वेन विकृतत्वे परिणमति । 'वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतर्मलैरिति' वैद्यशास्त्रोक्तं गर्भस्यजन्तोर्विकृताकारत्वम् अत्रोक्तेन लक्षणेन वक्तव्यमित्युक्तं भवति । अत्र केचिद्— ज्ञे त्रिकोणमे उदयपञ्चमनवमेध्वन्यतमस्थे ततोऽपरैर्विबलैर्मुखाहृदिहस्तैर्द्विगुणैर्धृतस्तदा भवेत् । बुधोदये द्विशिराः, पञ्चमस्थे सति चतुर्भुजत्वं नवमस्थे चतुष्पात्त्वम् । एवं विषलैरशुभैश्च । बलयुतैरपरैरन्यथा । त्रिकोणं इत्यत्रानुवर्तते । बुधे बलयुते सति वाग्बाहुल्यं, बलहीने मुखरोगः । पञ्चमस्थो बलिष्ठश्चेद् बाह्योर्बलाधिक्यं, बलहीनश्चेद् हस्तच्छेदः । नवमस्थो बलिष्ठश्चेद् वे(गीग)यायित्वं, तत्रापि विहगद्रेक्षणे चेद् रज्जुगमनादि-फ्रीडनं, बलहीनश्चेद् अहृदिच्छेद इति । उत्तरार्धेन वागिद्रिय-विकृतिमाह - गवि इन्द्रौ मसन्धिगैरशुभैः अवाग् भवतीत्यन्वयः । अत्रापि गोशब्दस्योभयार्थत्वं विवक्ष्यते । गवि वृषभराशौ इत्येकोऽर्थः । गोशब्दस्य वागर्थत्वाद् गवि वाचि द्वितीयभावे इत्यन्योऽर्थः । वृषभोऽपि कालपुरुषस्य वाग्वरूप इति वागिन्शेषेणार्थो गृह्यते । मसन्धिशब्देन कर्कटवृश्चिकर्मानान्त्यद्रेकाणां गृह्यन्ते । अवागिति वक्तुमशक्त इत्यर्थः । शुभेक्षिते चेत् चिराद् गिरं कुरुते । चन्द्रः शुभेन दृष्टश्चेत् चिरात् स्थलित्वा गिरं कुरुते । अर्थादेव ममन्धिगैः शुभैः

१. 'न्त इति तयो' च. २. 'ति । विकृति. छिन्नमित्यत्रा ग्रन्थ्यादिसंभवः अहृगुल्याधिक्यं वा । ग्रहराश्वशक्यत्वेन तद्विशेषो वाच्यः । उत्तरार्धेन' एव ग. ह. घ. च. ३. 'यायौ वि' ह, ४. 'गिति' ग. च. ५. 'येन ल' ह ६ 'गे' क. ए घ द

प्रियवाग् भवति, शास्त्रव्याख्यानपरत्वं च । अत्र गार्गिः—

“कुलीरालिङ्गपान्त्यस्यैः पापैश्चन्द्रे घृपोपगे ।

भूकः पापेक्षिते सौम्यश्चिरेण लभते गिरम् ॥

मिश्रदृष्टे ग्रहबलान्मूको वा लग्नवाक् चिरम् ।”

इति ॥ १७ ॥

कुब्जादियोगान् मन्दाक्रान्तयाह—

सौम्यक्षांशे रविजरुधिरौ चेत् सदन्तोऽत्र जातः

कुब्जः स्वर्क्षे शशिनि तनुगे मन्दमाहेयदृष्टे ।

पङ्गुर्मीने यमशशिकुजैर्वीक्षिते लग्नसंस्थे

सन्धौ पापे शशिनि च जडः स्यान्न चेत् सौम्यदृष्टिः ॥१८॥

इति । अत्र सौम्यक्षांशे रविजरुधिरौ चेत् सदन्तः जात इत्यन्वयः । अत्रेति प्रश्नकाले निषेककाले वा । रविजरुधिरौ बुधस्य राशावशके वा तिष्ठतश्चेद् गर्भस्यजन्तुः सदन्तो भवतीत्यर्थः । पुनरपि गजदन्तादिना शिल्पव्यापारकुशलश्च भवति । शशिनि स्वर्क्षे तनुगे मन्दमाहेयदृष्टे कुब्जो भवति । चन्द्रे कर्कटकस्थिते लग्नगते रविजरुधिराभ्यां दृष्टे कुब्जो भवति, आवासनिर्माणतत्परश्च । पुनरपि लिख्यते । यत्रतत्र राशावस्थिते शशिनि लग्ने बलयुते मन्दमाहेयदृष्टे सति अभिनवगृहनिर्माणतत्परो भवति । उभौ बलहीनौ चेद् वातेन कुब्जत्वमिति । लग्नसंस्थे मीने यमशशिकुजैर्दृष्टे पङ्गुर्भवतीत्यन्वयः । सन्धौ पापे शशिनि च सौम्यदृष्टिर्न चेद् जडः स्यात् । सन्धौ कर्कटवृश्चिकमीनेऽप्यन्यतमे पापग्रहे चन्द्रे च स्थिते सति शुभदृष्टिर्नास्ति चेद् जडो भवति श्रोतुं वक्तुमशक्तो भवति । न चेत् सौम्यदृष्टिरिति योगचतुष्टयेऽपि संवध्यते । बलवच्छुभदृष्टौ सत्याशुक्तयोगाभाव इति ॥ १८ ॥

वामनकहीनाङ्गयोगौ दोषकेनाह—

सौरशशाङ्कदिवाकरदृष्टे

वामनको मकरान्त्यविलम्बे ।

धीनवमोदयगैश्च दृग्गाणैः

पापयुतैरभुजाङ्घ्रिशिराः स्यात् ॥ १९ ॥

इति । मकरान्त्यविलम्बे सौरशशाङ्कदिवाकरदृष्टे वामनको भवति । मकरान्त्यं मकरान्त्यं तत्र विलम्बे सौरशशाङ्कदिवाकरास्त्रिभिरपि दृष्टे गर्भस्थजन्तुर्गमनरुः । 'खर्गो हस्त्वथ वामन' इत्यमरः । अर्धपार्श्वे कप्रत्ययः । हस्वतरशरीरो भवतीत्यर्थः । अन्त्यविलम्ब इत्युक्तियामध्याद् अन्त्यस्य मीनराशेरपि विन्मत्ते सौरशशाङ्कदिवाकरदृष्टौ मत्याम् एतत् फलं योज्यम् । एते मार्गदयो बलवन्तश्चेद् वामनकर्तुं निष्णातमकृत्वं, मध्यबलाश्चेद् हस्वत्व, हीनबलाश्चेद् वाममार्गान्वेषी आत्मज्ञानरहितः । पापयुतैः धीनवमोदयगैः दृग्गाणैः अभुजाङ्घ्रिशिराः स्यात् । चशब्देन सौरशशाङ्कदिवाकरदृष्टत्वमप्यनुकुर्यते । पापयुतैः भौमराहुकेतुपुतैः सौरशशाङ्कदिवाकरदृष्टैः दृग्गाणैः पञ्चम-नवमलग्नभावस्थितैः क्रमेण अभुजाङ्घ्रिशिरा भवति । पापयुते पञ्चम-ऋद्रेक्षाणे सौरादिभिर्दृष्टे अभुजो भवति । नवमभाजद्रेक्षाणस्य तथात्वे अनङ्घ्रिः । उदीयमानद्रेक्षाणस्य तथात्वे अशिराः । तथाचोक्तं गार्गिणा—

“लप्रद्रेक्षाणभो भौमः भौमस्येन्दुमीक्षितः ।

कुर्याद् विशिरस तद्वत् पञ्चमे भुजवर्जितम् ॥

विषादं नवमस्थाने यदि सौम्यैर्न धीक्षितः ।”

इति । गर्भस्थस्य यल्लक्षणमुच्यते तत् प्रसूतिममय माक्षात्करणीयम् । अतो निशिरस्त्वादिलक्षणे सम्पूर्णयन्त्रं चेद् असत्प्रजावियय द्रष्टव्यम् ।

असम्पूर्णबलं चेद् 'भवति हि फलपक्तिः स्वप्नचिन्तास्ववीर्यैः' इति  
वक्ष्यमाणन्यायेन विकृतशिरस्कृत्वादि वक्तव्यम् । भुजाङ्गूथोः साक्षा-  
दभावः कार्याभावो वा बलाबलवशेन वक्तव्यः, यतो भुजकार्यहीनोऽपि  
भुजहीन इत्युच्यते ॥ १९ ॥

अथ नयनविनाशयोगज्ञानार्थं हरिणीमाह—

रविशशियुते सिंहे लग्ने कुजार्किनिरीक्षिते

नयनरहितः सौम्यासौम्यैः सबुद्बुदलोचनः ।

व्ययगृहगतश्चन्द्रो वामं दिनस्त्यपरं रवि-

स्त्वशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः ॥२०॥

इति । सिंहे लग्ने रविशशियुते कुजार्किनिरीक्षिते गर्भो नयन-  
रहितः भवति । सिंहराशौ लग्ने रविशशिभ्यां युक्ते कुजार्किभ्यां निरी-  
क्षिते सति गर्भस्थो जात्यन्धो भवति । अस्मिन् योगे सप्तमस्थयोः  
कुजाक्योंनिरीक्षणे सति पूर्वोक्तः पितृमातृरोगोऽपि सम्भवेदिति द्रष्ट-  
व्यम् । सौम्यासौम्यैः सबुद्बुदलोचनः । सिंहलग्ने रविशशियुते  
सौम्येन गुरुणा अमौम्याभ्यां कुजशनिभ्यां च दृष्टे मति सबुद्बुद-  
लोचनः शुक्लाजक्रादिरोगयुक्तलोचनः । अर्थाद् रवियुते दक्षिण-  
लोचनहानिः शशियुते वामलोचनहानिरिति च मिथ्यति । व्ययगृह-  
गतश्चन्द्रो वामं दिनस्ति लग्नाद् व्ययस्थानगतश्चन्द्रो वामे लोचनं  
नाशयति । व्ययगृहगतो रविः अपरं दिनस्ति दक्षिणलोचनं नाश-  
यति । 'त्रिकोणगे ज्ञे' इत्यादिभिरुक्तानामरिष्टयोगानामपवादमाह—  
अशुभगदिता योगाः शुभेक्षिता याप्या भवन्ति । अशुभैर्ग्रहैरुक्ता  
योगाः शुभग्रहनिरीक्षिताश्चेद् याप्या भवन्ति अत्यन्तदोषरहिता  
भवन्ति । 'शेषत्वादायुषो याप्याः पथ्याभ्यामादि'ति बाहटेन चिकित्सा-  
विषये व्याधौ याप्यत्वमुक्तम् ॥ २० ॥

अथ प्रभलश्रेण नियेकलश्रेण वा गर्भस्य प्रभवकालं वसन्ततिलकेनाह—

तत्काल इन्दुमहितो द्विरसांशको य-

स्तत्तुल्यराशिसहिते पुनः शशाङ्के ।

यावानुदेति दिनरात्रिसमानभाग-

स्तावद्गते दिननिशोः प्रवदन्ति जन्मं । २१ ॥

इति । तत्काले इन्दुमहितः द्विरसांशकः यः शशाङ्के पुरतः  
तत्तुल्यराशिमहिते मति दिनरात्रिसमानभागः यावानुदेति दिननिशोः  
तावद्गते जन्म प्रवदन्तीत्यन्वयः । इन्दुमहितः तत्कालचन्द्रेण युक्तः  
द्विरसांशकः द्वादशांशकः यः पुनः तत्तुल्यराशिमहिते मेपात् प्रभृति  
तत्तुल्येन राशेना युक्ते सतीत्यर्थः । तत्कालचन्द्रः स्वाधिष्ठितराशौ  
यावति मेपादिद्वादशांशके तिष्ठति मेपादितत्तुल्यराशौ चन्द्रे स्थिते ।  
पुरतः भविष्यति समये । यावान् दिनरात्रिसमानभाग उदेतीति ।  
तत्काललग्नस्य दिनराशेः रात्रिराशेर्वा यावान् यतिमः भागस्त्रिंशांश  
उदेति पूर्वक्षितिजे लगति दिननिशोस्तावद्गते त्रिंशद्भाटिकात्मकस्य  
दिवसस्य रात्रेर्वा तावत्प्रमाणे गते जन्म प्रभृति प्रवदन्तीत्यर्थः ।  
अथ प्रश्ने तत्कालचन्द्राधिष्ठितद्वादशांशकमंख्यया मेपादितो भविष्यति  
काले जन्मचन्द्र उक्तः । उदयलग्नगतभागवशाद् दिनरात्र्योः प्रसव-  
कालगतगतनाटिकाप्रमाणं च वेदितव्यम् । तथाचोक्तं - -

“यावत्संख्ये द्वादशांशे शीतरश्मिर्व्यवस्थितः ।

तत्संख्येयस्ततो राशीर्जन्मेन्दो तद्गते वदेत् ॥

तत्कालादिवसानिशामंशं ममुद्गते राशिगतोऽयम् (?) ।

यावानुदयस्तावद् वाच्यो दिवसस्य रात्रेर्वा ।”

इति । तथा तत्कालेन्दुद्वादशांशकस्य नवधा खुण्डितस्य गतागत-  
वशेन प्रसवनक्षत्रमपि वक्तव्यमित्युक्तं भवति ।

तत्काले इन्दुमहितो द्विरसांशको य इत्यत्र साम्प्रदायिका योजन-

१. “जन्म ॥ प्रभलश्रेण नियेकलश्रेण वा गर्भस्य प्रभवकालं दर्शयति—तत्काल  
इति । त’ य. ग. च. २. ‘इमिन्दु’ च.

विशेषाः सन्ति । ते च यथाश्रुतमत्र लिख्यन्ते । तत्तुल्यराशिमहित इत्यत्र गणनारम्भराशिविशेषानुक्त्या 'मेपाश्चिप्रथम'त्वन्यायेनागतं मेपादितो गणनं विना तत्कालचन्द्राधिष्ठितद्वादशांशकराशिमारभ्यापि गणनं कर्तव्यमिति द्योत्यते । मेपादिगणनेन द्वादशांशकादिगणनेन च प्राप्तयोः प्रसवचन्द्रयोरैक्ये त्रिकोणसम्बन्धे वा सति निरसंशयेन वक्तव्यत्वं भवति । अयं न्यायोऽत्र सर्वेष्वपि योजनप्रकारेषु द्रष्टव्यः । 'स्फुटमिह भवति द्वित्रिसंवादभावाद्' इत्याप्तवचनमत्र प्रमाणम् । 'बलयोगात् फलमंशकर्षयोः' इत्युक्तमार्गेण राशिद्वादशांशकौक्तः प्रसवचन्द्रानयनप्रकारः चन्द्राधिष्ठितनवांशद्वादशांशकेनापि विचिन्तनीय इत्यत्र प्रदर्शितेन 'शकोय' इति शब्देन द्योत्यते । कथमिति चेत्, पञ्चदश घटिका द्वि नवांशकप्रमाणं, तत्र नवांशे द्वादशघटा खण्डिते एको भागः, एका नाडिका पञ्चदश विनाडिकाश्च भवन्ति । तस्य केन्द्ररूपेणाक्षरसंख्यया निर्देशे शकोय इति निर्देश्यत्वं स्यात् । ततः शकोयशब्देनात्रान्यार्थमपि प्रसक्तेन नवांशकद्वादशांशोऽत्र ग्राह्य इत्युक्तं भवति । तत्रापि मेपादिगणनेन चन्द्राधिष्ठितनवांशकद्वादशांशकादिगणनेन च पूर्ववत्तुल्यराशिसहितप्रसवचन्द्रद्वयं सम्भवति ।

अत्र द्विरसांशको य इत्युक्त्या च अन्योऽर्थो द्योत्यते । तद्यथा— द्विरसशब्देन द्विरसनो राहुः, तस्य नवांशकद्वादशांशक इति शृङ्खलादिकया द्विरमांशकोयशब्देन राहुस्थितनवांशद्वादशांश उच्यते । स यद्राशिमंजः स राशिरत्र तत्तुल्यराशिः । चन्द्रे तत्र भविष्यति च प्रपवधिन्तनीयः । द्विरमांशको य इत्यत्र द्विरसैसांशकः द्विरसांशक इति राहुणाधिष्ठितं नवांशराशिं गमिष्यति चन्द्रे प्रसूतिरिति द्विरसांशकशब्दश्च द्विरस प्रसवचन्द्रानयनम् । अथ तत्काले द्विरसांशको य इति योजने तत्कालराहुः क्षणिकराहुरपि गृह्यते । दिनगतनाडिकाः पष्टया गुणिता विनाडिकाः ताश्च पष्टिगुणिता गुर्वक्षराणि भवन्ति । तानि दिनगतगुर्वक्षराणि सहस्रेण हत्वा राशयो लभ्यन्ते । शिष्टात् त्रिंशद्गुणिताद् भागाः, तत्र शिष्टात् पष्टिगुणितात् कुलाश्च लभ्यन्ते । एवमानीतं राशिभागकलात्मकं मण्डलाच्छोध्यत

क्षणिकराहुस्फुटं भवति । तस्य राहोरपि नवांशं वा नवांशद्वादशांशं वा गच्छति चन्द्रे प्रसवतिरिति च प्रकारद्वयम् ।

तत्काल इन्दुसहितो द्विरसांशको य इत्यत्र तत्कालइन्दुशब्देन क्षणिकेन्दुरुच्यते । तत्सहितो द्विरसांशकः द्वादशांशकः क्षणिकचन्द्रसंस्थितद्वादशांशक इत्यर्थः । स यद्वाशिसंज्ञः तत्तुल्यं तमेव राशिं गते चन्द्रे प्रसवतिरित्यर्थः । इत्येकः प्रकारः । अन्योऽपि प्रकारः । तत्कालइन्दुसहितो द्विरसांशको य इत्यत्र तत्कालशब्देन काललप्रमुच्यते । पङ्गुणितो दिनगतकालः भागस्वरूपः सूर्यस्फुटेन संयुक्तः काललग्नं भवति । मीनमेपसन्वेरारम्य पूर्वक्षितिजावधिर्घटिकामण्डलैकदेशः काललग्नमित्युच्यते । तत्रैकाया घटिकायाः षट् भागाः सम्भवन्ति, इति तत्कालशब्देन काललग्नमुक्तं भवति । तत्र काललग्ने इन्दुसहिते तात्कालिकचन्द्रेण युक्ते यो द्विरसांशकः द्वादशांशकः तत्तुल्यराशिं गते चन्द्रे प्रसवः स्यात् । तात्कालिकलग्नचन्द्रस्फुटयोगे यो द्विरसांशकः द्वादशांशकः नवांशद्वादशांशो वा ताम्यामपि प्रसवचन्द्रनिर्देश इति प्रकारद्वयं सम्भवति । तत्कालइन्दुसहित इत्यत्र तत्कालेन्दुरन्यथाप्यानीयते । तद्यथा— दिनगतनाडिकां विन्यस्य विनाडीकृत्य त्रिंशता हत्वा राश्यादिफलं लभ्यते तत् कुळीरादि तत्कालेन्दुः । तद्वाशिं गते चन्द्रे वा प्रसवः । अन्योऽपि प्रकारः दिनगतविनाडिकासु पञ्चचत्वारिंशद्भिर्हतासु राश्यादिफलं लभ्यते । तस्मिन् सिंहादिषो गणिते यो राशिर्भवति तं राशिं गते चन्द्रे प्रसवः स्यात् । अन्योऽपि प्रकारः विनाडीकृतं दिनगतं पञ्चदशभिर्हत्वा पूर्ववल्लभं राशिभागकलात्मकं फलं भवति । तत्र च लग्नराशिमारम्य गण्यमाने यो राशिर्भवति तद्वाशिं गते चन्द्रे वा प्रसवः स्यात् । विनाडीकृतं दिनगतं षष्टिभिर्हत्वा लब्धे राश्यादिफले गुलिकस्थितराशेरारम्य विलोमेन गण्यमाने यो राशिर्भवति तं राशिं गते चन्द्रे वा प्रसवः स्यात् । अत्र तत्कालेन्दुद्वादशांशेन तत्कालेन्दुनवांशद्वादशांशेन च द्विधा प्रसवचन्द्रो दर्शितः । द्वयोरपि मेपादिगणनेन द्वादशांशकादि-

१. 'शको वा' च. २. 'व' स्यात् । अ' ग च. ३. 'आप्तद्विर्देश' च.

४. 'व' ना' क, 'व' तत्र तत्का' ट. ५. 'त ग च



गणनेन च स च पुनश्चतुर्धा भवति । पुनः राहुस्थितनवांशेन तन्त्रवां-  
शद्वादशांशेन च तथा क्षणिकराहुस्थितनवांशेन तन्त्रवांशद्वादशांशकेन  
च इति राहुवशादपि चतुर्धा प्रसवचन्द्रानयनमुक्तम् इत्यष्टधा भवति ।  
क्षणिकेन्दुस्थितद्वादशांशकराशिना च एकः प्रकार इति नवधा । तत्काल-  
लग्नस्य तत्कालचन्द्रस्य च संयोजने जातेन द्वादशशानं(वा?)तन्त्रवांश-  
द्वादशांशेन चेति द्वौ प्रकारौ इत्येकादशधा । पुनर्दिनगतवशात् पञ्च  
प्रकाराः । तत्र काललग्नतत्कालचन्द्रयोगद्वादशांशेन एकः । कर्कटकाद्यर्थ-  
नाडिकाचारेण द्वितीयः । सिंहादिपादोन्ननाडिकाचारेण तृतीयः ।  
लग्नादिपादनाडिकाचारेण चतुर्थः । गुलिकार्धैकैकनाडिकाबिलोमचारेण  
पञ्चमः । इति दिनगतवशात् पञ्च प्रकाराः । इति प्रसवचन्द्रानयनविषये  
महामुनिभिरुदाहृताः षोडश प्रकारा दर्शिताः ।

अत्र साम्प्रदायिकः सप्तदशोऽप्यतिरहस्यभूतो योजनप्रकारोऽस्ति ।  
तत्काल इन्दुसहितो द्विसांशक इत्यत्र तत्कालेन्दुः प्रश्नकालचन्द्रः ।  
द्विसंशब्देन गुलिको गृह्यते । तत्कालद्विरसनः तत्कालगुलिक इत्यर्थः ।  
तत्कालेन्दोस्तत्कालगुलिकस्य च अंशको य इत्युक्त्या नवांशद्वादशांश  
इत्युक्तं भवति । गुलिकस्य शकोयांशकाः गुलिकनवांशराशेर्विलोमेन  
गण्याः । चन्द्रस्य शकोयांशकाः अनुलोमेन गण्याः । तत्र गणनप्रकारे  
तयोर्योगो वा त्रिकोणबन्धो वा यत्र राशौ भवति तद्राशिसहिते शशाङ्के  
प्रसवं घदन्ति इति सम्बन्धः । अस्मिन् प्रकारे पूर्वप्रदर्शितैः कैश्चित् संवादे  
सति निस्संशयेन वक्तव्य इति । 'यावानुदेति दिनरात्रिसमानभाग' इति  
लग्नराशिना दिनरात्रिज्ञाननिर्देशेन दिनकराविष्टितराशिज्ञानमपि लग्नेन  
भवतीति द्योत्यते । तद्यथा— उदयलग्नं विन्यस्य राशीनपास्य भागान्  
पृथ्वा हत्वा लिप्ताभिः संयोज्य त्रिभिर्हत्वा पञ्चाशता हत्वा राश्यादिकलं  
लभ्यते । राशिभागकलात्मकं तत्फलं लग्नराश्यादि तत्प्रसवकालार्कस्फुटं  
भवति । अथवा लग्नराशौ गतनवांशरुनाडिकाः संकलय्य वर्तमाननवांशरे  
गता नाडीर्विनाडीश्च संयोज्य नाडिकाः पृथ्वा हत्वा विनाडीकृत्य पञ्च-  
सप्ततिभिः नवांशद्वादशांशराशयो लभ्यन्ते । शिष्टाद् भागाः कलश्च

लभ्यन्ते । तत् पूर्वानीतमेव प्रसवार्कस्फुटं भवति । अत्र केचित् प्रभकालचन्द्रस्फुटे उदयलग्नस्य भागाः कलाश्च संयोज्य तत्र यो नवांशद्वादशांशकः पञ्चसप्ततिविनाहिकाप्रमाणः प्राप्यते तद्वाशिगत-  
मर्कं प्रसवार्कं ज्ञेयम् । अन्ये तु उदयलग्नं लिप्तीकृत्य तत्कालचन्द्रस्य सार्धोदिता नवांशद्वादशांशका यावन्तः तावत्या सङ्ख्यया हत्वा लब्धं राशिभागकलात्मकं फलं यत् तत् प्रसवार्कमाचक्षते । परं तु उदयलग्नस्य नवांशद्वादशांशकराशौ प्रसवार्कसिद्धिं निर्दिशन्ति । प्रसव-  
लग्नस्य निर्देशः 'यावानुदेति दिनरात्रिसमानभागस्तावद्गते दिननिशो'-  
रित्युक्तेन दिनगतप्रमाणेन रात्रिगतप्रमाणेन वा यथोद्दिष्टेन प्रसवार्केण वा रात्रौ चेद् पहराशियुक्तप्रसवार्केण वा 'स्वदेशोदयसंक्षुण्णमि'त्या-  
द्युक्तप्रकारेणोदयलग्नमानीय कर्तव्यः । अत्र उदयलग्नस्थितौ द्वादशांशको वा द्वादशांशकस्यास्य नवांशकराशिर्वा प्रसवलग्नं भवेत् । फलवशेन वक्तव्यम् । अत्रापि तत्कालगुलिकत्रिकोणवर्गसम्बन्धवैश्वान्निर्णयः ।  
वर्गेषु च—

“नवांशकं तु प्रथमं पश्चाद्वनवांशकम् ।

नवांशद्वादशांशश्च द्वादशांशमतः परम् ॥

चतवार्येतानि कर्माणि कृत्वा लैब्धं विचिन्तयेत् ।

नवांशको नवांशस्य नवांशद्वादशांशकौ ॥

द्वादशांशश्च लग्नेन्दुमान्दीनां बन्धसूचकाः ।

इति वचनादेते यथोक्ताश्चत्वार एव ग्राह्याः । अत्र तत्कालेन्दु-  
शब्देन आरूढं पृच्छकारूढं गृह्यते । तस्मात् पूर्वानीतेषु प्रभवचन्द्र-  
राशिषु यो राशिरारूढराशित्रिकोणपंदादी भवति तत्र राशौ प्रसव-  
चन्द्र इति द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

निर्देककालविशेषेण प्रसवार्कालं मालिन्याह—

उदयति मृदुभांशे सप्तमस्थे च मन्दे

यदि भवति निषेकः सूतिगब्दत्रयेण ।

शशिनि तु विधिरेवं द्वादशाब्दे प्रकुर्या-

निगदितमिह चिन्त्यं सृतिकालेऽपि युक्त्या ॥ २२ ॥

इति । मृदुभांशे उदयति मन्दे सप्तमस्ये निपेको भवति यदि  
अब्दत्रयेण सृतिरित्यन्वयः । मृदुभं मन्दक्षेत्रं तस्यांशो मृदुभांशः ।  
मकरनवांशः कुम्भनवांशो वा । शशिनि तु एवं विधिः द्वादशाब्दे  
प्रसूतिं कुर्यात् । चन्द्रांशे उदयति चन्द्रे सप्तमस्ये सति निपेको  
यदि द्वादशाब्दे प्रसूतिरित्यर्थः । द्वादशाब्द इति द्वादशभिर्नाक्षत्रमासैः  
स्त्रीणामृतकालाधिरूपैः यः संवत्सरो भवति स द्वादशाब्दः । तस्मि-  
न्नाब्दे चतुर्विंशत्यधिकत्रिंशत्तदिनप्रमाणे पूर्णे सति प्रसूतिः स्यादित्यर्थः ।  
अत्र केचित् द्वादशाब्द इति द्वादशभिर्वर्षैः प्रमथो वक्तव्य इति ।  
अध्यागमुपसंहरन् चिन्तास्वरूपं दर्शयति चतुर्थपादेन— निगदित-  
मिह चिन्त्यं सृतिकालेऽपि युक्त्या इति । इह अस्मिन् चतुर्थे निगदितं  
'दिवाकरेन्द्रोः स्मरगौ' इत्यादिभिः प्रदर्शितं गदादिलक्षणं सृतिकाले  
सृतिकाललक्षणवशाद् अपिशब्देन प्रश्नलक्षणवशाच्च युक्त्या चिन्त्यम् इति  
सम्बन्धः । युक्त्या साध्ययाप्यासाध्यत्वप्रदर्शिन्या सरण्यां चिन्तनीय-  
मित्यर्थः । सा च मरणिः,

‘चरं चरस्त्रिद्वन्द्वाः स्थिरे द्वन्द्वचरस्त्रिः ।

द्वन्द्वे स्थिरोभयचरा जीवो रोगो मृतिः क्रमात् ॥”

इत्यादिवचनविशेषैः प्रदर्शिता । तत्र साध्यलक्षणं पूर्वस्मिन्नेव श्लोके  
प्रदर्शितम् । तद्यथा— पूर्वश्लोके जन्मशब्देन आदिग्रहणन्यायेन जन्  
इति जननं म इति मरणं च गृह्यते । तत्र जननकालः प्रदर्शितः ।  
मरणविषये योजना प्रदर्श्यते । ‘तत्काल इन्दुसहितो द्विरसांशको’ य  
इत्यत्र लग्नचन्द्रगुलिकानां योगः तत्कालशब्देन्दुशब्दद्विरसशब्देवाच्यानां  
योगः त्रिस्फुटयोगाख्यः । तत्र यौशकः नवांशकः तत्तुल्यरार्शिना

१. ‘स्थिते भवति सति’ च. २. ‘ण्या विधि’ ख. ग. च. ३. ‘ज इ’ ग. द. च.

४. ‘क इ’ ग. ५. ‘न्दानां यो’ ग. च. ६. ‘त्रि स’ ख, ‘शिना च स’ ग.

सहिते पुरतः शशाङ्के जन्मचन्द्रे सति चिन्ताविषयस्य मरणं प्रव-  
दन्तीति सम्बन्धः । शेषं माधारणम् । अत्र त्रिस्फुटयोगशशिना वा  
तदंशकेन वा बलाधिकेन जन्मचन्द्रयोगचिन्तायां निर्याणसूचक इ-  
त्यर्थः । तथा 'तत्काल इन्दुमदितो द्विरसांशको य' इत्यत्र अंशकशब्देन  
'शशिभवनालिङ्गपान्तमृक्षसन्धिः' इति प्रदर्शितं खण्डत्रयं च विवक्ष्यते ।  
तत्र प्रथमं मेपादिचतुष्टयं सृष्टिखण्डः । सिंहादिचतुष्टयं स्थितिखण्डः ।  
चापादिचतुष्टयं संहारखण्डः । एवं नवांशकराशीनामपि खण्डत्रय-  
कल्पनायां खण्डेष्वपि पृथक् पृथक् सृष्टिस्थितिसंहाराः सम्भवन्ति ।  
तत्क्रमेण कर्कटवृश्चिकमीनान्तेषु आश्लेषाज्येष्ठारेवतीनक्षत्रेषु चरमस्य-  
मानांशकस्य संवत्सरान्मासाद् दिवसाश्च निर्याणसूचकत्वं भवति ।  
अतः कर्कटवृश्चिकमीनांशकानाम् ऋक्षसन्ध्याश्रयत्वात् संहारसूचकत्वं,  
मेयसिंहधनुरंशकानां खण्डादिगतत्वाद् आयुर्दैर्घ्यसूचकत्वं, मध्य-  
गतानां चरंशकानां उत्क्रमवशेन मध्यफलसूचकत्वं भवतीति त्रिस्फुट-  
योगनक्षत्रांशकवशेन फलविशेषमवगम्य तस्य फलस्य याकश्च पुरतो  
भविष्यति काले तत्तुल्यराशिग्रहिते त्रिस्फुटयोगधर्मास्तुल्यराशिगते  
सति भविष्यतीत्युक्तं भवति । अत्र चिन्ताकाले गदग्रदत्वयोगे सति  
असाध्यत्वाभाव च निर्णीते प्रतिक्रियानिर्देशार्थं गदविशेषाश्च विचि-  
न्तनीयाः । गदाश्च द्विविधाः निजागन्तुकभेदेन । तत्र निजाश्च द्विविधाः  
शारीरा मानसाश्च । आगन्तवोऽपि द्विविधाः दृष्टनिमित्तजा अदृष्ट-  
निमित्तजाश्चेति । इति चतुर्विधा गदाः । तत्र शारीरा वातपित्त-  
श्लेष्मसर्गसन्निपातजनिता रोगाः अष्टमराशिना तत्स्थेन तन्निरी-  
क्षकेण तदधिपन वा बलाबलवशाच्चिर्देश्याः । मानसास्तु पुनः भय  
शोकक्रोधादिवेगजनिताः पञ्चमाधिपाष्टमाधिपयोर्योगेक्षणादिसम्बन्ध-  
वशाच्चिर्देश्याः । आगन्तुकेषु दृष्टनिमित्तजा अभिघाताभिचारशापादि-  
जनिताः पष्ठाधिपेन तत्स्थेन तद्वीक्षकेण तद्वाशिना वा निर्देश्याः ।

१. 'वा य' ग. च २. 'योगि', ३ 'ण्डेऽपि' ग. च ४. 'क स' च.  
५. 'मांशस्य' ग. छ. च. ६. 'ण्डसयादि' ग. च. ७. 'कदादशो' ग. च ८. 'तत्तत्' ग.  
८. च. ९. 'स्थितेन' छ १०. 'पयोगे' च. ११. 'श्याः तत्रा' घ.

तत्राप्यष्टमाधिपस्य योगनिरीक्षणादौ सति ते प्रवला भवन्ति । अदृष्ट-  
निमित्तज्ज्ञास्त्वागन्तवः । ते च—

“चरस्थिरोभयेष्वायधर्मद्युनगतैः क्रमात् ।

बाधकार्यैर्ग्रहैर्वाच्या देवादिग्रहजा गदाः ॥”

एषां विशेषाश्च यथाशास्त्रं निर्देष्टव्याः । अत्र द्विविधानामपि निज-  
रोगाणां प्रतिक्रिया वैद्यशास्त्रोक्तैश्चिकित्साविशेषैर्धर्मस्थानग्रहयोगेक्षण-  
वशाद् वक्तव्याः । आगन्तुकेष्वप्यभिघातादिजनितसद्योव्रणादिगदेषु  
चिकित्सैव वक्तव्या । द्वापाभिचारादिजनितेषु देवत्राक्षणपूजादिसत्कर्माणि  
तथा शूलबलिप्रभृतिखड्गरावणान्तादीनि बलिकर्माणि दशमराशिग्रह-  
योगेक्षणवशेन यथादोषबलं निर्देशयानि । एवं गदप्रदत्वयोगे सति  
गदानां हेतवः स्वरूपाणि तत्प्रतीकारविशेषश्च साध्येषु गदेषु वक्तव्यः ।  
तथा पुनरसाध्येष्वपि आयुःशेषसम्भलक्षणे सति याप्यत्वाय नित्यौ-  
पयिकी प्रतिक्रिया वक्तव्या । असाध्यत्वलक्षणे सति पूर्वप्रदर्शित-  
त्रिस्फुटयोगविषयोपदेशवशेन निर्याणिकालो<sup>१</sup> विचिन्तनीयः । इति  
संक्षेपेण अध्यापान्ते युक्त्या चिन्त्यम् इत्युक्त्या द्योतिवस्य चिन्ता-  
प्रकारस्य स्वरूपं दिङ्मात्रेण प्रदर्शितम् ।

“यः शास्त्रं विपुलं चकार विततैः स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्योतिषां

तस्योच्छिष्टमिमात् स्वयं कलिपुगे संभित्य यो भूतलम् ।

भूयः स्पष्टतरं वराहमिहिरव्याजेन संक्षिप्तवान्

लोकानुग्रहमूर्तये भगवते तस्मै नमो भास्वते” ॥ २२ ॥

इति होराविवरणे चतुर्थोऽध्यायः ॥

## अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रसङ्गालोदयलक्षणमहस्थितिविज्ञानमातापितृदशाविशेषसूक्तिकागृहशयनदीपादि-  
छक्षणानि धोतुविस्मापनानि शास्त्रप्रामाण्यव्यञ्जकानि शिष्यप्ररोचनाधर्मसिन् पञ्चमा-  
ध्याये निर्दिशति । तत्र प्रथमं प्रसूतिसमये पितुरवस्थां लोकोद्घेनाह—

पितुर्जातः परोक्षस्य लग्नमिन्दावपश्यति ।

विदेशस्थस्य चरमे मध्याद् अष्टे दिवाकरे ॥ १ ॥

इति । इन्दौ लग्नमपश्यति दिवाकरे मध्याद् अष्टे चरमे  
विदेशस्थस्य परोक्षस्य पितुः पुत्रो जात इत्यन्वयः । मध्याद् अष्टे  
मध्यशब्देन गगनमध्यास्थितो दशमराशिर्गृह्यते । तस्माद् अष्टे मध्याह्न-  
मतीत्य नवमादिराशिस्थिते । तत्रापि चरमे चरराशौ दिवाकरे स्थिते  
विदेशस्थितिवशात् परोक्षस्य पितुः पुत्रो जात इति वक्तव्यम् ।  
चरम इति विशेषनिर्देशात् स्थिरमे स्वदेशस्थितौ परोक्षस्य, उभयराशौ  
विदेशस्वदेशान्तराले परोक्षस्य पितुरिति सिद्धं भवति । लग्नस्य  
चन्द्रार्नीक्षितत्वम् अर्कस्य मध्याद् अष्टता च पितृपरोक्षत्वज्ञापकम् ।  
चरस्थिरोभयवशात् पितुर्विदेशस्वदेशतदन्तरालस्थितिज्ञानम् इत्युक्तं  
भवति । तथाच सारावल्याम्—

“होरामनीक्षमाणे अशिनि परोक्षस्थिते पितरि जातः ।

मेपूरणाञ्च्युते वा चरमे भानौ विदेशगते ॥”

अत्र जातो विदेशनिरतो भवति ॥ १ ॥

उदयस्थेऽपि वा मन्दे कुजे वास्तं समागते ।

स्थिते वान्तः क्षपानाथे अशाङ्कसुतशुक्रयोः ॥ २ ॥

इति । मन्दे उदयस्थेऽपि वा मध्याद् अष्टे दिवाकरे परो-  
क्षस्य पितुः पुत्रो जात इति सम्बन्धः । तथा कुजे अस्तं समागते च  
वा, तथैव क्षपानाथे अशाङ्कसुतशुक्रयोरन्तः मध्ये स्थिते वा परो-  
क्षस्य पितुर्जात इति । अत्र पितृपरोक्षविषये चत्वारो योगा उक्ताः ।

१. ‘निरीक्षि’ घ २. ‘क्षजा ए ग. घ. ३. ‘क्षपाम् इत्युक्तं भवति ॥ १ ॥’

ख. ग. घ. ङ. ४. ‘तुः पुत्रो जात इति ।’ घ, ‘तुः पुत्रो जात इति सम्बन्धः । ग’ घ.

५. ‘परोक्षवि’ छ. च.

अष्टशब्देन गगनमध्यादवरोहणं विवक्षितम् । तच्च दिनार्धात् प्रभृति  
निशार्धपर्यन्तम् । मध्यलग्नाद् व्युत्क्रमेण पाताललग्नपर्यन्तमिति यावत् ।  
पाताललग्नं भवनस्थानं चतुर्थम्, तस्मात् व्युत्क्रमेण पदसु राशिषु  
आरोहणस्थानेषु अष्टता न सम्भवतीत्यवसेयम् । अत्र परोक्षस्य पितु-  
र्जात इत्युक्तिसामर्थ्याद् उक्तेष्वेषु योगेषु जातानां दत्तकपुत्रोत्पात्ति-  
विषयभूतः कश्चिदन्यः परोक्षः पिताप्यस्तीति द्योत्यते । तस्मादेतां  
प्रत्यक्षः परोक्षश्चेति द्वौ पितरौ भवत इत्युक्तं भवति ॥ २ ॥

परोक्षस्य पितुर्जात इत्यत्र प्रस्तुतायां जननक्रियायां सम्भाव्यान् विज्ञापनयोग-  
विशेषानाह शशाङ्क इत्यादिश्लोकत्रयेण—

शशाङ्क पापलग्ने वा वृश्चिकेशत्रिभागगे ।

शुभैः स्वायस्थितैर्जातः सर्पस्तद्वेष्टितोऽपि वा ॥ ३ ॥

इति । पापलग्ने वृश्चिकेशत्रिभागगे शशाङ्के शुभैः स्वायस्थितैः  
सर्पे वा तद्वेष्टितो वा जात इति सम्बन्धः । वृश्चिकेशत्रिभागगे वृश्चिकेशो  
मौमः, तस्य द्रेक्काणं गते । मेषं प्रथमं, क्षीणचन्द्रे कर्कटके द्वितीयं,  
सिंहे तृतीयं, वृश्चिके प्रथमं, मीने तृतीयं, च पे द्वितीयं च द्रेक्काणं  
गते इति यावत् । शुभैः धनलाभस्थितैः । अत्र योगे जातः सर्पो वा  
सर्पवेष्टितो वा भवतात्यर्थः । अत्र च भगवान् गार्गिः—

मौमद्रेक्काणगे चन्द्रे शुभैरायधनस्थितः ।

सर्पस्तद्वेष्टितस्तद्वत् पापलग्ने विनिर्दिशेत् ॥”

इति । अत्र यथा जननलग्ने मौमद्रेक्काणगेचन्द्रोदयः, धनलाभ-  
स्थितमौम्यत्वं च सुलभतया सम्भाव्यते, तथा मानुषीषु सर्पजननं  
सर्पवेष्टितापत्यजननं च न दृश्यते इतीदं लक्षणमसम्भाव्यमिति न  
प्रह्वनीयम् । असम्भाव्यं चेदाचार्यः स्वयमेव तथा वदेत् । आचार्ये-  
णोत्तरत्र वज्रादियोगानुक्त्वा,

१. 'पुत्र' , २. 'वा तद्वेष्टि' क. ३. 'तः पुरुषो वा' ग. द. घ. ४. 'गतघ' द,  
'गते चन्द्रे उदयाद्वनलाभस्थिते सौ' च.

“पूर्वशास्त्रानुसारेण मया वज्रादयः कृताः ।

चतुर्थमवने सूर्याज्ज्ञसितौ भवतः कथम् ॥”

इति तेषामसम्भवं च स्वयमेवं वक्ष्यति युक्तिवशात्, तद्वादिहापीदं लक्षणमसम्भाध्यं चेत् स्वयमेवाभिदधीत । न च तथाभिहितम् । तस्मादिदं लक्षणं सम्भाव्यमेव । तथाचाप्तवचनं—

“विस्तोर्णा पृथिवी जनाश्च बहवः किं किं न सम्भाव्यते ।”

इति । यदा भौमद्रेकाणस्यस्य चन्द्रस्य जननकालोदयलग्नेन समकैलत्वं तत्कालानीतस्य धनभावस्य लाभभावस्य च शुभग्रहैः समकैलत्वं च युगपत् सम्भवति तदैवायं योगः परिपूर्णः स्यात् । ततो दुर्लभ एवायं योगः । तत् किमर्थमय योगोभिहित इति चेद् अस्य योगस्य सम-कलत्वामोचन सम्भवे जातः सर्पः सर्पवत् क्रूरस्वभावो भवति । सर्प-वेष्टितः विपविद्यानैपुणेन सर्पवेष्टितशरीरत्वादिप्रदर्शनकुशलो भवति । इदं प्रदर्शयितुमिदं लक्षणमुक्तम्; इति सर्वमनवद्यम् ॥ ३ ॥

चतुष्पदगते भानौ शेषैर्वीर्यसमन्वितैः ।

द्वितनुस्यैश्च यमलौ भवतः कोशवेष्टितौ ॥ ४ ॥

इति । भानौ चतुष्पदगते शेषैः द्वितनुस्यैः वीर्यसमन्वितैः च कोशवेष्टितौ यमलौ भवत इत्यन्वयः । यत्रतत्र जन्मलग्ने भानौ चतुष्पदगते चतुष्पाद्राशिगते सति भेषवृषसिंहधनुरपरार्धमृगपूर्वाधान्य-तमस्थिते सति शेषैर्ग्रहैरुभयराशिस्थितैर्वीर्यसमन्वितैरर्थात् केन्द्रस्थितै-रिति यावत् । यमलौ कोशेन जराधुणा वेष्टितौ प्रसूयेते । अत्रा-प्यस्य योगस्य प्रायिकत्वं जातो जीवति चेत् तादृशलभजज्ञातेनान्येन कोशवेष्टितः सम्भूयोत्साहजनितेन कोशशब्दवाच्येन धनं परस्पर-सम्बन्धवान् सदा सहचारी भवतीत्यर्थोऽपि द्योत्यते ॥ ४ ॥



५ छागसिंहवृषे लग्ने तत्स्थे सौरेऽथवा कुजे ।  
राश्यंशसदृशे गात्रे जायते नालवेष्टितः ॥ ५ ॥

इति । लग्ने छागसिंहवृषे सौरे अथवा कुजे तत्स्थे राश्यंश-  
सदृशे गात्रे नालवेष्टितः जायते इत्यन्वयः । छागे सिंहे वृषे वा  
लग्ने सौरे अथवा कुजे तत्स्थे लग्नस्थिते सति लग्ननवांशराशिसदृशे  
गात्रे शरीरप्रदेशे नालेन नाभिनालेन अथवा तत्सदृशेनान्येन वस्तुना  
वेष्टितो जायते । अत्र जातः सौरेण बलयुतेन यदि तन्त्रानुष्ठानादि  
व्यापारसहितः, बलहीनश्चेत् परिकर्मादिकं वाच्यम् । एतच्छूद्रादिषु  
चेत् तन्तुना मत्स्यग्रहणार्थं जालादिकं करोति । कुजेन यदि स्वर्ण-  
मेखलाबन्धनादिकं वाच्यम् ॥ ५ ॥

निपेक्षतुर्जनकस्य स्वरूपमपि जन्मलग्नेन चिन्तनीये, तत्र परिणेतुरन्यस्य जारस्य  
निपेक्षतुल्ये सति तन्निर्देशाय लक्षणं वंशस्थेनाह—

न लग्नमिन्दुं च गुरुर्निरीक्षते  
न वा शशाङ्को रविणा समागतः ।  
सपापकोऽर्केण युतोऽथवा शशः  
परेण जातं प्रवदन्ति निश्चयात् ॥ ६ ॥

इति । गुरुः लग्नं इन्दुं च न निरीक्षते निश्चयात् परेण जातं  
प्रवदन्ति इत्यन्वयः । लग्नं जननलग्नं इन्दुं च लग्नस्थितं पृथक्स्थितं  
वा चन्द्रं गुरुर्न पश्यति चेत् निश्चयात् निश्चयमाश्रित्य । निष्कर्षेण  
चयः चयनं विचयनमन्वेषणमिति यावत्, निश्चयः । तमाश्रित्येति  
व्यञ्जोपे पञ्चमी । नितरामन्वेषणं विमर्शनं कृत्वा वक्तव्यमित्यर्थः ।  
ततो गुरोर्निरीक्षणस्य गुरुक्षेत्रस्य द्रेकाणस्य नवांशस्य द्वादशांशस्य  
त्रिंशांशस्य योगस्य वा लग्नेन्दुसम्बन्धामाव एव परेण जातत्वं  
वक्तव्यम् । तथाच भगवान् गार्गीः,

“गुरुक्षेत्रगते चन्द्रे तद्युक्ते वान्यराशिमे ।  
तद्द्रेक्षाणे तदंशे वा न परैर्जाति इष्यते ॥”

इति । योगान्तरमुक्तयोगस्यापवादार्थमाह— शशाङ्को रविणा न समा-  
गतः वा तदापि परेण जातं प्रवदन्ति । रविचन्द्रावेकस्यौ चेत् परेण  
जातत्वं न वक्तव्यमिति सात्पर्यम् । तत्र रविचन्द्रयोगेऽपि विशेष-  
माह— अथवा सपापकश्चन्द्रः अर्केण युतः तदापि परेण जातं प्रवदेत् ।  
सपापकः शशी पापग्रहेण सहैकांशमश्नन् अर्केण सहैकराशिस्थित-  
श्चेत् परजातत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । अत्र गुरुणा दृश्यते चेद् भर्तु-  
रनुज्ञया परपुरुषगमनम् । पुनरपि भेदं दर्शयति— लग्नेऽर्कसहिते  
चन्द्रे पापयुते गुरुणा न दृष्टे सति तन्मातुरेव दोषः । तत्र  
पापोऽतिबलपुतश्चेदपवाद एव । अत्रोक्तं पु योगेषु प्रसृतिलग्नग्रहवशाद्  
जनन्याः परिणेतुरन्यो गर्भोत्पादक इति लक्ष्यते । तस्य जाति-  
राकृतिः स्वभावभेदाश्च निर्देश्याः । नवमस्थितग्रहेण वा नवमाधिपेन  
वा बीजकारकेण रविणा वा बलाधिकेन ग्रहाणां संज्ञाध्यायोक्तान्  
विशेषानालोच्य जारस्य जात्यादि सर्वं वक्तव्यम् । अत्र जातः परस्य  
व्यापारेणोपजीवति ॥ ६ ॥

अन्वयः पितृवियं लक्षणविशेषं वैतालीयेनाह—

क्रूरक्षगतावशोभनौ

सूर्याद् धूननवात्मजस्थितौ ।

वद्धस्तु पिता विदेशगः

स्वे वा गाशिवशात्त(था)दापथि ॥ ७ ॥

इति । अशोभनौ क्रूरक्षगतौ सूर्याद् धूननवात्मजस्थितौ  
नदा तु पिता वद्ध इत्यन्वयः । अशोभनौ कुजमन्दौ क्रूरराशिस्थौ  
सूर्यस्य नवमे पञ्चमे सप्तमे वा स्थितौ चेत् पिता वद्ध इति वक्तव्यम् ।

१. 'प्रव' क. २. 'स्याह' ग. घ. ३. 'सू॥ ६ ॥' ख. ग. घ. ङ. च.

४. 'णमाह' ख.

राशिवशाद् विदेशगः स्वे स्थितो वा पथि स्थितो वा भवति ।  
चरराशौ विदेशगः स्थिरराशौ स्वदेशगः उभयराशौ पथि स्थित  
इति वक्तव्यम् । सूर्यस्य भुजगनिगलपाशभृदृग्गाणसम्बन्धे साक्षाद्  
बद्धः तदभावं कार्यवशाद् बद्ध इति विशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । अस्मिन्  
योगे जातस्य पित्रा कृतेन दोषेण दण्डानुभवः ॥ ७ ॥

अथ पट्टभिः श्लोकैः प्रसूतिदेशविशेषमाह । तत्र देशो द्विविधः, । जलमयः स्थल  
मयश्चेति । तत्र प्रथमं जलमयदेशप्रसवलक्षणं वैतालीयेनाह—

पूर्णे शशिनि स्वराशिगे  
सौम्ये लग्नगते शुभे सुखे ।  
लग्ने जलजेऽस्तगेऽपि वा  
चन्द्रे पोतगता प्रसूयते ॥ ८ ॥

इति । शशिनि पूर्णे स्वराशिगे सौम्ये लग्नगते शुभे सुखे  
सति पोतगता प्रसूयते इत्यन्वयः । पूर्णचन्द्रस्य कर्कटकस्फिति-  
र्मकरस्थ एवार्के सम्भवति । तदा धनुर्मकरकुम्भेऽथैकत्रैव बुधस्य  
लग्नगतत्वं च सम्भवति । तस्माद् धनुषि बुधोदये मीनस्थे गुरौ  
शुके वा मकरबुधोदये मेषगुरौ च कुम्भबुधादये वृषगुरौ च कर्क-  
टकचन्द्रे मकरमास्येव उक्तलक्षणमम्भवः । पोतगता पोतो जल  
यानविशेषः, तत्र स्थिता प्रसूयते । औचित्याजलमध्यप्रदेशे इत्युक्तं  
भवति । लक्षणान्तरमत्राह— लग्नं जलजे चन्द्र अस्तगेऽपि वा पोतगता  
प्रसूयते । जलजे जलजाः कर्कटकमीनमकरान्त्यार्धानि । एष्वेकतमे लग्ने  
चन्द्रे अस्तगते सप्तमस्थेऽपि जलमध्यप्रदेशे प्रसूतिर्भवति । अत्रा-  
स्मिन्नादित्योदयसम्भवान्न निर्जलत्वप्रसङ्गदोषः “जलवत्यजलेन गतेऽघ-  
स्ताजलम्” इति कृष्णीयाशस्त्रवचनात् । अस्मिन् योगे जातस्य समुद्र-  
गमनादिकं च सम्भवति ॥ ८ ॥

योगान्तरं वैतालीयेनाह—

आप्योदयमाप्यगः शशी  
सम्पूर्णः समवेक्षतेऽथवा ।

मेपूरणबन्धुलग्नगः

स्यात् सूतिः सलिले न संशयः ॥ ९ ॥

इति । सम्पूर्णः शशी आप्यगः आप्योदयं समवेक्षते, तदा सलिले सूतिः स्यात्, न संशयः । आप्यमम्मयं गतः, जलराशिग इत्यर्थः । अत्र अप्सन्देन अप्सवरूपस्य शुक्रस्य क्षेत्रयोरपि ग्रहणम् । आप्योदयं जलराशिं समवेक्षते । सप्तमस्यन्य दृष्टिरेव गृह्यते, 'अथवा मेपूरणबन्धुलग्नग' इति केन्द्रेषु मत्तमव्यतिरिक्तनिर्देशात् । एवमुक्त्या अन्यत्रापि योगेषु दृष्टिप्रसङ्गे मत्तमदृष्टिरेव ग्राह्येति च ज्ञाप्यते । "अमावास्याचतुर्दश्योः क्षीणचन्द्रो न मर्वदा" इति पूर्वाचार्यवचने चन्द्रस्य क्षीणत्व प्रति दृष्टेन्दोः मिनीयादयाः नष्टेन्दोः कुहूश्च ग्रहणेन सम्पूर्णत्वविषयेऽपि अनुमत्यां कलाहीनसेन्दोः राधायां च पूर्णकनस्य च ग्रहणं कार्यम् इत्युक्तं भवति इति केचिद् व्यवस्यन्ति । अत्र पौर्णमस्यैः सलिलप्रसूतेश्च सम्भवे प्रसूताः सद्योभरणलक्षणामावेन जीवन्ति चेत् मलिलयाने मलिलैर्द्रव्यस्य सम्पादने च कुशला भवन्तीति द्रष्टव्यम् । एतद्योगत्रयमपि कूपप्रश्ने योज्यम् । अत्र जातस्य वायीकूपतटाकादिनिर्माणं सम्भवति । स्वरराशौ चेत् स्थितमेव तैरुघृतादिक्रयविक्रयं, स्थिरे जलराशौ कूपीप्रवृत्तिः, चन्द्रे जलराशौ यदि समुद्रयातम् ॥ ९ ॥

अथ स्थलप्रदेशविक्षेपं वैताहीयेनाह—

उदयोदुपयोर्व्ययस्थिते

गुप्त्यां पापनिरीक्षितं यमे ।

१. 'आप्यशब्देन आप्यशुद्धक्षेत्रयोर्ग्रहणम् । आ' द २ 'क्ताना नि' क ग छ च  
३. 'व्यतिपयत्वमपि अ' द ४ 'सा' गं च ५ 'न्ति' ग ६. 'तगतप्र' घ च  
७. 'लभवद्रव्यस' ग घ ङ च ८ 'ति पत्र' घ च -९. 'म् ॥ ९ ॥ स्थलप्र' ल.  
ग घ. च, 'म् ॥ ९ ॥ अ' द

अलिकर्कियुते विलग्नगे

सैरे शीतकरोक्षितेऽवटे ॥ १० ॥

इति । यमे उदयोदुपयोः व्ययस्थिते पापनिरोक्षिते सति गुप्त्यां प्रसूतिरिति सम्बन्धः । उदयोदुपयोः उदयस्य वा उदुपस्य वा एकस्थयोरुदयोदुपयोर्वा व्ययस्थिते मन्दे पापनिरीक्षिते सति गुप्त्यां बन्धनागारे, तत्र कार्यवशाद् रुद्धायाः प्रसूतिरित्यर्थः । सैरे अलिकर्कियुते विलग्नगे शीतकरोक्षिते अवटे प्रसूतिरिति सम्बन्धः । मन्दे कर्कटके वृश्चिके वा लग्नस्थे अवटे गते । “गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे” इत्यमरः । अत्र जातः कूपतटाकारमादिध्यापारैर्जीवति ॥ १० ॥

पुनरपि प्रदेशविशेषं चैतार्थविवेकाह—

मन्देऽब्जगते विलग्नगे

बुधसूर्येन्दुनिरीक्षिते क्रमात् ।

क्रीडाभवने सुगालये

प्रसवं सोपरभूमिपूदिशेत् ॥ ११ ॥

इति । अब्जगते विलग्नगे मन्दे क्रमात् बुधसूर्येन्दुनिरीक्षिते क्रीडाभवने सुगालये<sup>१</sup> सोपरभूमिषु प्रसवमुद्दिशेदित्यन्वयः । अब्जगते बलराशिगते लग्नस्थिते मन्दे बुधेन दृष्टे सति क्रीडाभवने प्रसूतिं वेदेत् । सूर्येण दृष्टे सुगालये देवालये । चन्द्रेण दृष्टे सोपरभूमिषु लवणसहितेषु प्रदेशेषु प्रसवं निर्दिशेत् । अत्र योगत्रये जाता यथाक्रमं नृचर्मातवाद्यादिभिर्देवालयव्यापारादिभिर्लवणनिर्माणादिभिर्जीवन्ति । पलहीने सति एतेषां विरोधः ॥ ११ ॥

पुनरपि प्रदेशविशेषमुपजात्याह—

नृलग्नगं प्रेक्ष्य कुजः श्मशाने

रम्ये सितेन्दू गुरुरग्निहोत्रे ।

## रविर्नरेन्द्रामरगोकुलेषु

शिल्प्यालये ज्ञः प्रसवं करोति ॥ १२ ॥

इति । नृलप्रगमिति विशेषणेन मन्दमिति विशेष्यं प्रकरणसिद्ध-  
माक्षिप्यते बलादानीयते । कुजः नृलप्रगं, मन्दं प्रेक्ष्य इमशाने प्रसवं  
करोति । नृलप्रगं, नरराशयो मिथुनकन्यातुलाधन्विपूर्वार्धकुम्भाः, तत्रै-  
कत्र लग्ने स्थितं, मन्दम् । सितेन्दुं प्रेक्ष्य रम्ये प्रदेशे प्रसवं कुरुतः । गुरु-  
नृलप्रगं मन्दं प्रेक्ष्य अग्निहोत्रे प्रसवं करोति ब्राह्मणगृहे प्रसवं करोति ।  
तथा रविः नरेन्द्रामरगोकुलेषु राजभवने देवालये गोशालायां बल-  
वशात् प्रसवं करोति । ज्ञः बुधः शिल्प्यालये शिल्पिधालायां प्रसवं  
करोति । नृलप्रगं मन्दं प्रेक्ष्येति सर्वत्र योजनीयम् । एतद्योगपञ्चकेषु  
जातस्य यथाक्रमं बहुश्रवदाहः, रम्यप्रदेशस्थितिश्च, अग्निहोत्रव्यापारश्च,  
नरेन्द्रगृहे वा देवालये वा गोशालायां वा स्थितिश्च, शिल्पमन्दिर-  
स्थितिश्च सम्भवति ॥ १२ ॥

इति योगवशेन कैदाधिरकान् प्रसूतिदेशविशेषानुस्मृत्वा सामान्येन देशज्ञान-  
शुद्धेन चैतालीयेनाह—

## राश्यंशसमानगोचरे

मार्गे जन्म चरे स्थिरे गृहे ।

स्वर्क्षाशगते स्वमन्दिरे

बलयोगात् कलमंशकर्क्षयोः ॥ १३ ॥

इति । राश्यंशसमानगोचरे जन्म, वक्तव्यमिति शेषः । राशे-  
रंशकस्य वा समानगोचरे संज्ञाध्यायोक्तः । तत्र विशेषमाह— चरे  
मार्गे स्थिरे गृहे इति । चराराशौ चरांशके वा लग्नगते तस्य राशे-  
रुक्तप्रदेशसम्भवे मार्गे प्रवृत्तिः । स्थिराराशौ स्थिरांशके वा लग्नगते  
तदुक्तप्रदेशसम्भवे गृहे प्रवृत्तिः । उभयराशेश्रगमश्रमर्धं चराराशिः

१. ति। माक्षगं च. २. 'नुः' घ. ३. 'न्दु' क घ छ ड. 'दरेति मर्वत्र' क  
५. 'गु ॥ १२॥' क. ग. घ. छ. घ. १. 'कदापि रक्षादेतादिनेयान्' घ' ग. ॥. घ.

स्थिरासन्नमर्धं स्थिरराशिरिति पक्षमङ्गीकृत्य इह चरस्थिरावेवोक्तौ ।  
 राश्यंशकाभ्यां फलनिरूपणे' तदधिपवशाच्च निरूपणीयम् इति प्राप्तस्य  
 अधिपतेर्ग्रहस्य विशेष्यस्य विशेषणं स्वर्क्षाशगते इति । अधिपतिग्रहे  
 स्वर्क्षाशगते स्वमन्दिरे जन्म वक्तव्यम् । राश्यधिपे स्वर्क्षस्थिते स्वनवां-  
 शकास्थिते वा सति, अथवा अंशकाधिपे स्वक्षेत्रस्थे स्वनवांशस्थे वा  
 सति स्वमन्दिरे प्रसूतिः । एवं राश्यंशकयोरधिपतिग्रहवशात् स्वगृहे  
 बन्धुगृहे शत्रुगृहे वा प्रसूतिर्वक्तव्येति यावत् । अत एवाह— बल-  
 योगात् फलमंशकर्क्षयोः इति । अंशकाधिपतेर्वलाधिक्ये अंशकेन फलं  
 वक्तव्यं, रास्याधिपतेर्वलाधिक्ये राशिना फलं वक्तव्यं, तयोः स्वर्क्षाश-  
 गतत्वे स्वगृहे, मित्रर्क्षाशगतत्वे मित्रगृहे, परर्क्षाशगतत्वे परगृहे  
 प्रसूतिरित्याद्युक्तं भवति । पूर्वोक्तयोगाभावे राश्यंशसमानगोचरादिषु  
 प्रसवो वक्तव्यः । तेषां योगानां सम्भवे योगोक्तप्रदेशेष्वेव प्रसवो  
 वक्तव्य इति ॥ १३ ॥

प्रसवानन्तरं कुन्त्यादिभिरिव मात्रा हेतुबलात् परित्याज्यस्य कर्णादिरिवापत्यस्य  
 लक्षणं वैताल्येनाह—

आरार्कजयोस्त्रिकोणगे

चन्द्रेऽर्के च विसृज्यतेऽम्बयः॥

दृष्टेऽमराजमन्त्रिणा

दीर्घायुः सुखभाक् च स स्मृतः ॥ १४ ॥

इति । चन्द्रे आरार्कजयोः त्रिकोणगे अम्बया विसृज्यते ।  
 अर्के च आरार्कजयोस्त्रिकोणगे अम्बया विसृज्यत इत्यन्वयः । चन्द्रेऽर्के  
 चेति पृथङ्निर्देशाद् योगद्वयमेतत् । आरार्कजयोरिति द्वन्द्वेन निर्दे-  
 शाद् उभयोरारार्कजयोस्त्रिकोणगतत्वं च विवक्षितम् । अत्रार्कस्य पितृ-  
 कारकत्वाद् अर्के आरार्कजयोस्त्रिकोणगे पि(तात्रा) विसृज्यत इति

१. 'गे तदधिपनिरूपणे त' क. २. 'सिस्मृ' घ. च. ३. 'योस्त्रि' ख. द. च.

४. 'त्वं विवक्षितम् । आरार्कजयोस्त्रिकोणगतत्वं वि' ग. ह. च. ५. 'तम् । जमर'  
 ख. ग. घ. द. च.

केचित् । अस्ते चेति वा पाठः । अमरराजमन्त्रिणा दृष्टे योगकर्तारि  
स विस्मृष्टः दीर्घायुः सुखमाक् च स्मृतः । अमरराजमन्त्रिणेति ।  
बलाधिकेन गुरुणा दृष्टे अमरत्वं रसायनसेवादिक्रान्तं, मध्यबलेन गुरुणा  
दृष्टे राजत्वं, स्वल्पबलेन गुरुणा दृष्टे मन्त्रित्वं च भवतीति क्रमं  
द्योतयितुम् अमरराजमन्त्रिणेत्युक्तम् । दीर्घायुष्यं सुखमाक्त्वं च  
मात्रा विस्मृष्टस्यापि गुरुदृष्टौ सत्यां जायते । स्मृत इति अस्य आगम-  
मूलत्वं द्योतयति ॥ १४ ॥

अथैव योगान्तरं वसन्वतिष्ठकेनाह—

पापेक्षिते तुहिनगावुदये कुजेऽस्ते  
त्यक्तो विनश्यति कुजार्कजयोस्तथाये ।  
सौम्येऽभिपश्यति तथाविधहस्तमेति  
सौम्येतरेषु परइस्तगतोऽप्यनायुः ॥ १५ ॥

इति । तुहिनगौ पापेक्षिते उदये कुजे अस्ते सति अम्बया  
त्यक्तो विनश्यतीत्यन्वयः । पापेक्षिते कुजादेतराम्यां यत्रतत्र स्थिताम्यां  
दृष्टे कुजे सप्तमस्थिते च सति मात्रा त्यज्यते त्यक्तो नश्यति च  
इत्येको योगः । तथा पापेक्षिते तुहिनगौ उदये सति कुजार्कजयो-  
राये च स्थितयोः मात्रा त्यक्तो विनश्यति इत्यन्यो योगः । अत्र  
पापेक्षितत्वमस्तगतार्कदृष्टत्वमेव विवक्ष्यते । कुजार्कजयोराये इत्युक्त-  
त्वात् । तत्रापि कुजस्य पाददृष्टिः मन्दस्य पूर्णदृष्टिश्च सम्भवति ।  
तस्मादत्र समयत्रापि योगे चन्द्रस्य लग्नगतत्वं पार्ष्णदृष्टत्वं च तुल्यम् ।  
अत्र विशेषमाह — सौम्ये अभिपश्यति तथाविधहस्तमेतीत्यन्वयः ।  
यथोक्तयोगकर्तारं चन्द्रं सौम्ये शुभग्रहे शुभगुरुशुक्राणामन्यतमे पश्यति  
सति तथाविधहस्तम् एति । स शुभग्रहः स्वाश्विनराश्यंशकादिपल-  
विशेषवशाद् यस्या जातेः सूचको भवति तज्जातीयस्य हस्तं ग्रामोति ।



शुभग्रहदृष्टिभलात् तत्र दीर्घायुः सुखमाक् च भवति । सौम्येतरेषु  
सौम्येभ्य इतरेषु सूर्यकुजमन्देष्वेव पश्यत्सु च तथाविधहस्तमेति ।  
तत्र विशेषः— परहस्तगतोऽप्यनायुश्च भवति । विसर्जनयोगकर्तृ चन्द्रः  
सौम्यैरदृष्टः सौम्येतरैर्दृष्टश्च यदि भवति तदा परहस्तगतोऽपि त्रियत  
इत्युक्तं भवति । तथाच सारावल्यां—

“त्रियते च पापदृष्टे शशिनि विलम्बे कुजेऽस्तमे त्यक्तः ।

लग्नाच्च लाभगतयोर्वसुधासुतमन्दयोरेवम् ॥

पश्यति सौम्यो जातं यादृग् गृह्णाति तादृशो जातम् ।

शुभपापग्रहदृष्टे परैर्भूतितोऽपि(?) स त्रियते ॥

सर्वेष्वेतेषु यदा योगेषु शशी सुरेव्यसन्दृष्टः ।

भवति तदा दीर्घायुर्हस्तगतः सर्ववर्णेषु ॥”

इति । अत्र जातः सर्वदा स्वभूमिं त्यजति ॥ १५ ॥

इति कर्णेभोजराजशुनश्चेकादिवग्मातृत्वकानामुत्तरकालदीर्घायुषां तथैव उत्तर-  
कालनिरायुषां च लक्षणमुक्त्वा स्वगृहपरगृहसमानस्त्वभावितानां लक्षणं वैतालीयेनाह—

पितृमातृगृहेषु तद्वलात्

तरुसालादिषु नीचगैः शुभैः ।

यदि नैकगतैस्तु वीक्षितौ

लग्नेन्दू विजने प्रसूयते ॥ १६ ॥

इति । पितृकारकस्य रवेः नवमाधिपस्य वा बलाधिक्ये सति  
पितृगृहे प्रसूयते, मातृकारकस्य चन्द्रस्य चतुर्थाधिपस्य वा बलाधिक्ये सति  
मातृगृहे प्रसूतिरितीदं लक्षणं ‘स्वर्धौशमते स्वमन्दिरे’ इत्यत्रैवोक्तं, किं पुन-  
रत्रोच्यते । सत्यं तत्रोक्तमेवैतत् । किन्तु विशेषप्रतिपादनार्थमत्रानूद्यते ।  
कोऽसौ विशेष इति चेत् पितृमातृगृहेष्विति बहुवचनप्रयोगः । जातस्यास्य

१. ‘म्यो बलवान् या— — — जातः ।’ २. ‘परैर्गृहीतोऽथवा त्रि’ इति मुद्रित-  
सारावलीपाठः । ३. ‘जातस्य पि’ ग.

पितृकारकग्रहस्य “स्वतुङ्गचक्रोपगतैस्त्रिंशद्गुणं द्विरुत्तमेस्त्रिंशद्गृहत्रिभा-  
गैः” इति वक्ष्यमाणस्य गुणेनस्य विषयत्वं सम्भवति चेद् यावान्  
गुणकारः तावन्ति पितृगृहाणि, तथा मातृकारकग्रहस्य चेत् तावन्ति  
मातृगृहाणीति द्योतयितुम् अत्र बहुवचनप्रयोगः कृतः । कथं पितृ-  
मातृबहुत्वमिति चेद् एकयोर्मातापित्रोरौरसः पुत्रः, अन्ययोर्माता-  
पित्रोर्दत्तपुत्रः, परयोर्मातापित्रोः कृत्रिमपुत्रः, इत्यादिधर्मशास्त्रोक्तपुत्र-  
भेदवशात् पितृबहुत्वं मातृबहुत्वं पितृद्वैगुण्यं मातृद्वैगुण्यं वा यथावलं  
ग्रहैर्वक्तव्यमिति जातस्य द्विव्यादिपितृमातृसम्भवस्य लक्षणमत्रोक्तमिति  
वेदितव्यम् । यथा एकस्य स्कन्दस्य कार्तिकेय इति शङ्करपुत्र  
इति पार्वतीभन्दन इति अग्निभूरिति पाण्मातुर इति नामभिरनेक-  
पितृमातृसम्बन्धः, तथा जातस्य तत्काललक्षणवशात् कारणभेदजनित-  
मनेकपितृमातृत्वं सम्भवत्येव । स्वगृहप्रसवस्याशक्त्या बहुविधोपद्रव-  
जनितया अन्यत्र प्रसवस्य लक्षणमाह — तरुसालादिषु नीचगैः  
शुभैरिति । नीचगैः शुभैः तरुसालादिषु प्रसूयते । शुभैः शुभग्रहैः  
नीचगैः, अत एव मानहानिमनस्तापादिस्त्रैः तरुसालादिषु तरोर्मूले  
सालः प्राकारः तत्समीपे वा । आदिग्रहणात् नदीर्हूलारण्यपर्वतादयो  
ज्जावृतदेशा गृह्यन्ते । अवोत्तरार्धेन उक्तलक्षणलक्षितस्य प्रसूतिदेशस्य  
विज्ञनत्वं जनाकीर्णत्वं च विविनक्षित- लगेन्दू एफगतैः ग्रहैर्न  
वीक्षितौ यदि विज्ञने प्रसूयते । एकत्र स्थितैः ग्रहेरुभयत्र स्थितौ  
लगेन्दू न दृश्यते यदि तदा जनरहिते प्रदेशे प्रसूतिर्वक्तव्या ।  
लगेन्द्वेन्दोश्च पृथक्स्थितयोरेकस्थितयोर्वा बहुभिर्ग्रहैर्दृश्यमानत्वे सति  
जनाकीर्णे प्रदेशे प्रसूतिरित्यर्थादुक्तं भवति । तथाच साराग्रह्या—

“पितृमातृगृहे चर्गे त(च)त्स्वजनगृहेषु चलयोगात् ।

प्राकारतरुनदीषु च सृतिर्नीचाश्रितैः सौम्यः ॥

नेक्षन्ते लगेन्दू यथेकस्या ग्रहास्तदाटव्याम् ।”

१. 'न स गु' ग. ८. २. 'रः । प्राकारो यदनः गाल' इत्यमर । तामर्षा' घ.

३. 'जयशात् न' ख ४. 'कुल्या' ग. ५. 'गृहप्रसवतत्प्राप्त्य इति मुद्रितसारा-  
वलीपाठः ।

इति । विजनत्वलक्षणे पुनर्लभेन्द्रोः पृथक्स्यितत्वज्ञापनाय एकगतै-  
रित्युक्तम् । तथाहि— यदा लग्नाद् द्वितीये चन्द्रः, तृतीये चान्ये  
ग्रहास्तिष्ठन्ति, तदानीमेव लग्नेन्द्रोरन्यदर्शनाभावः सम्भवति । तथाहि  
पद्धतिप्रदर्शितदृष्ट्यानयनप्रकारादवधार्यते । तद् यथा—

“एकद्वित्रिचतुश्शरर्तुभवनैरुनीकृतांशात्मिका

दृश्यद्रष्टृभिदार्धिता तिथियुता खाङ्कच्युतार्धाकृता ।

खाम्ब्युना द्विगुणा वियत्तपनशु(द्वय?द्वा)र्धाकृता च क्रमाद्

दृष्टेः पष्टिलवाः स्युरत्र दशभाधिक्ये भवेन्नक्षत्रम् ॥”

इति । अस्यार्थः—दृश्याद् ग्रहाद् द्रष्टरि ग्रहे विशोधिते यदन्तरं  
भवति तद् दृश्यद्रष्टृभिदा । सा यथासम्भवं एकराशिना द्वाभ्यां वा  
त्रिभिर्वा चतुर्भिर्वा पञ्चभिर्वा षड्भिर्वा ऊनीकृता विशोधिता ततोऽ-  
शात्मिका कार्या । अर्धाधिकं क्षिप्त्वा लिप्तानां विसर्जनं, राशीनां  
षड्भ्योऽधिकत्वे सति शिष्टानां त्रिंशद्गुणावरोपणं च कर्तव्यमित्यर्थः ।  
तदा दृश्यद्रष्टृभिदा भागात्मिका भवति । ततः क्रमात् सा एको-  
नितशिष्टा चेद् अर्धिता कार्या । तदा दृष्टेः पष्ट्यंशा भवन्ति ।  
द्विराश्रूयितशिष्टा चेत् तिथियुता पञ्चदशसंयुक्ता कार्या । त्रिराश्रूयित-  
शिष्टा चेत् खाङ्कच्युतार्धाकृता कार्या । खाङ्का नवतिः । ततः शोधिता  
अर्धाकृता च कर्तव्या । चतुरनितशिष्टा चेत् खाम्ब्युना कार्या ।  
त्रिंश(द्भिः?ता) शोधनीया । तत्र शिष्टा दृष्टिपष्ट्यंशा भवन्ति । अतः  
पञ्चमभान्ते दृष्ट्यभावश्च ज्ञायते । पञ्चराश्रूयितशिष्टा चेत् द्विगुणा  
कार्या । अतः षष्ठभावान्ते दृष्टेः पूर्णता च ज्ञायते । षड्राश्रूयितशिष्टा  
चेद् वियत्तपनशुद्धा वियत्तपनां विंशत्यधिकशतं, तेभ्यः शोधिता  
अर्धाकृता च कार्या । तदा दृष्टेः पष्ट्यंशा भवन्ति । एवं द्वितीया-  
दारभ्य यावदेकादशं दृष्टिपष्ट्यंशानां संज्ञावः । दृश्यद्रष्टृभिदा दश-

१. 'न्य' ग. च. २. 'भू॥' ग. ख. ग. च. ३. 'णारो' छ. ४. 'दृष्टि' ग. घ.

५. 'शयु' ग. च. ६. 'ज्या' च. ७. ८. 'जा' ग. च. ९. 'ना वाभ्यः शो' च.

१०. 'संभव' छ.

राश्याधिका चेद् ईक्षणं न भवति । तथा च श्रीपतिः—

“दिग्भ्योऽधिकं पश्यति न ग्रहेन्द्रः” इति । एवप्रकारे दृष्ट्यानयने तृतीयभावास्थिता ग्रहाः स्वस्मादेकादशं लग्नं व्ययस्थितं चन्द्रं च न पश्यन्ति इत्येवमभिप्रायेण एकगनैरित्युक्तम् । ननु उक्तप्रकारे दृष्ट्यानयने लाभं व्यये वा सहास्थितयोर्लग्नेन्द्रोरपि दृष्ट्यभावः स्यात् । सत्यम् । ग्रहाणां दृष्ट्यभावस्तत्र भवत्येव, किन्तु लग्नस्य चन्द्रयोगेन चन्द्रदृष्टिफलस्य सम्भवात् । “योगे दृष्टिफलं योज्यं दृष्टौ योगफलं तथा” इति वचनात् । ग्रहयोगस्य ग्रहदृष्ट्युक्तफलप्रदत्ते सति लग्नस्य चन्द्रदृष्टिफलसम्भवः, ततो ग्रहदृष्ट्यभावाज्जन्यं विजनेत्वलक्षणं न जायतेति । अतः पृथक्स्थयोरेव लग्नेन्द्रोरिदं लक्षणमुक्तं भवतीति सर्वमनवद्यम् । अत्र पूर्वोक्ततरुगालादिषु जातस्य वृक्षाविक्रयादिना जीवनं, विजने प्रप्लुपत इत्यत्र जातस्य निर्जनेदेशेऽप्यस्थितिः ॥ १६ ॥

प्रसूतिसमयसम्भव इदं मन्दाशान्तयाह—

मन्दर्क्षांशे शशिनि हिबुके मन्ददृष्टेऽब्जगे वा  
तद्युक्ते वा तमसि शयनं नीचनस्थैश्च भूमौ ।  
यद्ग्राशिर्गति हरिजं गर्भमोक्षरतु तद्वत्  
पापैश्चन्द्रस्मरसुखगतैः क्लेशमाहुर्जनन्याः । १७ ॥

इति । शशिनि मन्दर्क्षांशे हिबुके तमसि शयनम् इत्यन्वयः । चन्द्रे मन्दराश्यांशस्थे हिबुकेस्थिते च सति मातुः प्रसवकाले तमसि शयनं वक्तव्यम् । अब्जगे मन्ददृष्टे वा इत्यन्यो योगः । चन्द्रे अलराशिगते यत्रतत्रस्थितेन मन्देन दृष्टे सति च तमसि शयनम् । तद्युक्ते वा चन्द्रे मन्दयुक्ते वा यत्रतत्रस्थिते च सति तमसि शयनम्

१. 'प्रम' ह' ह. २. 'प्र' ह. ३. 'न च' ग' ग. च. ४. 'प्रम' ह' ह. ५. 'तमसि' ग' ग. च. ६. 'ग्राम' क' क. च. ७. 'तमसि' ह' ह. ८. 'ते' ग' ह. ह.

इत्यपरो योगः । इति योगत्रितयम् । केचित्तु मन्दक्षशि शशिनि  
 द्विबुके शशिनि मन्ददृष्टे शशिनि अवजगे शशिनि तद्युक्ते शशिनि  
 चेति अत्र तमःशयनस्य लक्षणपञ्चक्रमाचक्षते । एतेषु योगेषु  
 यदार्कदृष्टश्चन्द्रमा भवति तदान्धकाराभावः । यस्माद् यवनेश्वरः—  
 'जातस्तामिस्ते यदि नार्कदृष्टे' इति । अत्र जातस्य दीपदर्शने निद्रा-  
 भावः । एतत् तमःशयनप्राधानकाले अन्यत्रापि यथासम्भवं भोजन-  
 सुरतप्रश्नादौ योजनीयम् । नीचसंस्थैर्भूमौ शयनं च वक्तव्यम् ।  
 शयनस्थानाधिपे नीचगते भूमौ शयनं वक्तव्यम् । नीचसंस्थैरिति  
 बहुवचनाद् यथासम्भव त्रिप्रभृतिभिर्ग्रहैः शुभैर्नीचसंस्थैर्भूमौ शयनं  
 वाच्यमिति द्योत्यते । केचिल्लग्रस्थे वा नीचगे चन्द्रे भूशयनमिच्छन्ति ।  
 तथाच सारावल्यां—

“नीचस्थे भूशयनं चन्द्रेऽप्यथवा विलग्रे वा ।”

इति । एतदपि सुरतप्रश्नादौ युक्त्या योज्यम् । अस्मिन् योगे जातस्य  
 शय्यासौख्यं न सम्भवति । राशिर्यद्द्वरिजं यजति तद्वत् गर्भमोक्ष  
 इत्यन्वयः । गर्भमोक्षः गर्भविनिर्गमः । लग्नराशिर्यथा क्षितिजं प्राप्नोति  
 तथा गर्भमोक्षः । तथाचोक्त सारावल्यां—

“शीर्षोदये विलग्रे मूर्ध्ना प्रसनोऽन्यथोदये पद्भ्याम् ।  
 उभयोदये भुजाभ्याम् ”

इति । यदा लग्नाधिपो नवांशकाधिपो वा लग्नस्थो वा ग्रहो वक्त्री-  
 भवति तदा वैपरीत्येन गर्भमोक्षो वाच्यः । तथाच मणिन्धः—

“लग्नाधिपेऽशकपतौ लग्नस्थे वाकिते ग्रहे वापि ।  
 विपरीतमतो माक्षो वाच्यो गर्भस्य स क्रमज्ञः ॥”

चन्द्रस्मरसुखगतैः पापैः जनन्याः क्लेशमाहुः । चन्द्रयुक्तैः चन्द्रस्मरयुक्तैः  
 चन्द्रसुखयुक्तैश्च जनन्याः क्लेशमाहुः । अत्र केचित् चन्द्रगतैः लग्नात्

१ 'पतौ नी' ८ २. 'मूराशि' ख ग ३ 'ति। चन्द्र' ग. घ द. च, 'ति चन्द्रात्  
 स्' ख ४ 'हु. जयो' ख घ च, 'हुः। पापैः चन्द्रात् स्मरयुक्तै. चन्द्रात् सुखयुक्तै  
 जनन्या. क्लेशमाहु । यथो' द

स्मरगतैः सप्तमस्यैः सुखगतैः चतुर्थस्यैरिति वदन्ति । तथाच साराचल्यां—

“क्षेशो मातुः क्रूरैर्वन्ध्वस्तगतैः अशाङ्कयुक्तैर्वा”

इति । अर्थाच्चन्द्रस्मरसुखगतैः शुभैर्जनन्याः सुखप्रसूतिश्च वक्तव्या । अस्मिन् योगे जातस्य मातृनिमित्तं द्रव्यक्षयादिकं वाच्यम् । तत्र चतुर्थे पापः सप्तमे शुभश्चेद् कलत्रानिमित्तं मातृ(रंरमभि)द्रुहति ॥ १७ ॥

प्रसूतिमये मातुरवस्थालक्षणमुक्त्वा सूक्तिकागृहस्वरूपं तद्विवेचोपांश्च चतुर्भिः श्लोकैर्लक्षयति । तत्र प्रथमे दीपगृहद्वारलक्षणमिन्द्रवज्रमाह—

स्नेहः शशाङ्कादुदयाच्च वर्ति-

र्दीपोऽर्कयुक्तर्क्षवशाच्चराधैः ।

द्वारं च तद्वास्तुनि केन्द्रसंस्थै-

र्वीच्यं ग्रहैर्वीर्यसमन्वितैर्वा ॥ १८ ॥

इति । रात्रौ तमःशयनलक्षणाभावे प्रकाशार्थं मङ्गलार्थं च दिवापि मङ्गलार्थं न्यस्तस्य दीपस्य स्नेहः शशाङ्काद् वक्तव्य इति सम्वन्धः । शशाङ्कस्य चन्द्रहोरागतत्वे घृतादयो गोमहिषाजादिसम्भवाः स्नेहाः, सूर्यहोरागतत्वे तिलनालिकेरतौरवमधूकादिवीजसम्भवाः स्नेहाः । तद्विशेषश्च राश्यंशकग्रहयोगेक्षणवशांश्चिदैश्यः । चन्द्राक्रान्तस्य राशेरंशकस्य वा बलिनो गतैर्ग्यत्खण्डार्या दीपभाजनस्थस्य स्नेहस्य एतावन्नष्टं एतावत् तत्र वर्तत इति च वक्तव्यम् । देशकालावस्थानुसरणं सर्वत्र कर्तव्यम् । उदयाद् वर्तिश्च । उदयलग्नवशात् लग्नस्थस्य वा लग्नाधिपस्य वा ग्रहस्योक्ताद् वज्राद् उत्पन्ना, राशेरंशराशेर्वा बलिनो वर्णेन युक्ता बलसाम्ये त्रिचित्रवर्णा वर्तिश्च वक्तव्या । तस्याश्च

१. 'न्दात् स्म' ड. २ 'व्या ॥ १७ ॥' ख. घ. ङ. च. ३. 'विकाले मा' क. घ. ङ.

४. 'क्त्वा प्रसू' ख. घ. ५. 'मं सूक्तिकागृहदीपलक्षणमाह' ख. ग. घ. ङ. च. ६. 'क्षेयं प्र' ख. घ. ङ. ७. 'स्य श' ड. ८. 'वाः । तद्वि' ड. च. ९. 'तेन निर्दे' क. ग. घ. ङ.

१०. 'दाः राश्वंशक' ग. ११. 'स्य ड' ग. च.

राशिमैतैष्यत्खण्डाभ्यां (तस्याः) दग्धादग्धखण्डावादेश्यौ । अर्कयुक्तार्ध-  
वशाचराद्यदीपः । आदित्याधिष्ठितराशिवशात् सूर्यिकागृहं द्वादशधा  
विभज्य 'प्राच्यादिगृहे क्रियादय' इति वक्ष्यमाणप्रकारेण राशीन्  
कल्पयित्वा तत्र यत्रार्कस्तिष्ठति तत्र दीपस्थानं वक्तव्यम् । अथवा  
राशेर्वलाधिक्ये सति 'प्रागादीशाः क्रिये'त्यादिना यत्रार्काधिष्ठितराशि-  
भवति तत्र दीपस्थानं वक्तव्यम् । चरदिदीपादिशेषो वक्तव्यः ।  
चरराशिस्येऽर्के चरदीपः स्थिरराशिस्येऽर्के स्थिरदीपः उभयराशिस्येऽर्के  
होलायमानो लम्बितदीपः । अर्कराशिवशाद् दीपभाजनस्य सौवर्ण-  
राजतकाभ्यायसमृन्मयत्वादि च यथासम्भवमाचित्यवशाद्निर्देश्यम् ।  
तद्वास्तुनि केन्द्रस्यैर्ग्रहैः द्वारं च वाच्यम् । ग्रहैः 'प्रागाद्या रवि-  
शुक्रलोहिततमःसौरेन्दुवित्तरयः' इत्युक्तायां स्वस्यां दिशि द्वारं  
वाच्यम् । केन्द्रस्यग्रहाभावे वीर्यसमन्वितर्वा इति । यो ग्रहो वीर्यान्वितः  
तस्योक्तंदिशि द्वारं, केन्द्रे बहुषु ग्रहेषु सत्सु च वीर्याधिकेन, द्वौ  
वीर्याधिकौ चेद् द्वारद्वयं त्रयश्चेत् त्रयम् इत्यादि बलाचित्यवशाद्  
विज्ञेयम् ॥ १८ ॥

अथ ग्रहवशेन सूर्यिकागृहलक्षणं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

जीर्णं संस्कृतमर्कजे क्षितिसुते दग्धं नवं शीतगौ

काष्ठाढ्यं नददं रवौ शशिसुते चानेकशिल्प्युद्धवम् ।

रम्यं चित्रयुतं नवं च भृगुजे जीवे दृढं मन्दिरं

चक्रस्थैश्च यथोपदंशरचनान् सामन्तपूर्वान् वदेत् ॥ १९ ॥

इति । गृहभावस्थितेन गृहभावाधिपेन वा वीर्याधिकेन ग्रहेण  
सूर्यिकागृहलक्षणं वक्तव्यम् । तत्र अर्कजे गृहकारके सति जीर्णं  
संस्कृतं मन्दिरं भवतीति शेषः । जीर्णं पुराणं तदानीं संस्कृतम्  
अवस्थानक्षमं कृतमित्यर्थः । क्षितिसुते दग्धं दग्धैक(शेषादेश)मित्यर्थः ।

१. 'ग्वल' द २. 'शिक' ग च. ३. 'दीप' क. ख. घ ङ. ४. 'दीप' घ.  
५. 'स्ये चर' घ ६. 'स्य मृ' ङ. 'तु' ख. ८. 'क्यास्व' ख. ९. 'यां दि' क. १०. 'स्य  
दि' ग. च. ११. न घा प्र' ख ग.

शीतगो नवं तत्कालरचितम् । रवौ काष्ठाढ्यं नट्टम् भवति ।  
 काष्ठाढ्यम् अ(शिंते)क्षितदारुनिर्मितमित्यर्थः । नट्टम् अश्लिष्टमन्धि-  
 बन्धम् । शशिसुते अनेकशिल्पयुद्धं च अनेकैः शिल्पिभिर्निर्मितम् ।  
 भृगुजे वीर्याधिके सति रम्यं चित्रयुतं नव च मन्दिरम् । नरम्  
 अभिनवरचितम् । जीवे मन्दिरं दृढं सारदारुकृतं सुश्लिष्टमन्धिवन्धं  
 च भवति । चक्रस्यैर्यथोपदेशरचनान् सामन्तपूर्वाश्च वदेदित्यन्वयः ।  
 चक्रस्यैः सूतिकागृहाणकस्य केन्द्रगतैः पणपरगतैरापोह्लिमगतैश्चेति  
 यावत् । सामन्तपूर्वान् समन्तभवाः सामन्ताः ते पूर्वं येषां ते सामन्त-  
 पूर्वाः । तत्र केन्द्रेष्वेकत्र चलाधिको ग्रहस्तिष्ठति चेत् सूतिकागृहासत्त्वे  
 तस्य सामन्तत्वेनान्यद् गृहं वक्तव्यम् । तच्च यथोपदेशरचनं जीर्णं  
 संस्कृतमित्याद्युक्तलक्षणम् । तथा 'प्रागाद्या रवौ' त्युक्तग्रहादिशि वा  
 'प्रागादोशाः क्रियन्तेपनृयुक्कर्कटाः सत्रिकोणा' इत्युक्तराशिदिशि वा  
 बलवशेन वक्तव्यम् इत्यपि यथोपदेशशब्देन द्योत्यते । ग्रहस्य उच्च-  
 नीचान्तरस्थितिवशेन गृहाणामुत्तमाधममध्यमत्वं च वक्तव्यम् । सामन्त-  
 पूर्वानित्यत्र पूर्वशब्देन सामन्तग्रहस्य अत्यासन्नत्वं, पणपरस्थितेन  
 वीर्याधिकेन ग्रहेण वाच्यस्य गृहस्य सामन्तानन्तरत्वान्माध्यस्थ्यम्,  
 आपोह्लिमस्यग्रहेण वाच्यस्य भवनस्य तत्र दूरस्थत्वं च यथा-  
 सम्भवं वक्तव्यमिति द्योत्यते । तत्र ग्रहाणां तुल्यवक्रवर्गोत्तमस्यगृह-  
 स्त्वनवांशस्वद्रेकाणगतत्वसम्भवं भवनानां द्विगुणत्वं त्रिगुणत्व च वाच्यम् ।  
 आसन्नभवनद्योतकानां ग्रहाणां लग्नाधिपस्य शत्रुमित्रोदासीनत्ववशेन  
 विप्रत्वादिवर्णवशेन च तत्तद्ग्रहवास्तव्यानां प्रातिवेशिकानां शत्रु-  
 मित्रोदासीनत्वविशेषो जातिविशेषश्च चलावलवशेन निर्देष्टव्यः ॥१९॥

अथैवं लक्षिते सूतिकागृहे प्रसूतेमागविशेषं दोषकेनाह—

मेपकुलीरतुलालिघटैः प्रा-  
 गुत्तरतो गुरुसौम्यगृहैश्च ।

१. 'दं मन्दिरं मं क. ख घ. छ. २. तत्र तत्र मं क. घ. छ. ३. 'स्वभवन-  
 शकस्य' च.



पश्चिमस्य च वृषेण निवासो

दक्षिणभागकरौ मृगसिंहौ ॥ २० ॥

इति । मेघकुलीरतुलालिघटैः प्राक् प्राग्भित्तिसमीपे । गुरु-  
सौम्यगृहैरुत्तरतश्च उत्तरभित्तिसमीपे । वृषेण पश्चिमतो निवासः पश्चिम-  
भित्तिसमीपे । मृगसिंहौ दक्षिणभागकरौ दक्षिणभित्तिसमीपकरौ ।  
अत्र मावविशेषेण ग्रहविशेषेण वा वैशिष्ट्यं विना राशीनां संज्ञा-  
मात्रेण निर्देशाद् राशिभिरपि प्रवृत्तिसमयश्रवणकालोदयलभारूढच्छत्र-  
भूतैर्वलवशेन विशेषो निर्देश्य इति द्योत्यते ॥ २० ॥

सुतिकागृहस्य सुतिकाशय्यायाश्च यत्र यत्र जीर्णसंस्काराद्युक्तविशेषो वक्तव्यः,  
भाषारदण्डिकानां नतस्वोद्यतव्यवक्रत्वादिसम्भवा वा भवति सप्तसिद्धेशाय राशि-  
विन्यासप्रकारं वैतालीयेनाह—

प्राच्यादि गृहे क्रियादयो

द्वौ द्वौ कोणगता द्विमूर्तयः ।

शय्यास्वपि वास्तुवद्वदेत्

पादैः पट्त्रिनवान्त्यसंस्थितैः ॥ २१ ॥

इति । गृहे प्राच्यादि द्वौ द्वौ क्रियादयो राशयः द्विमूर्तयः  
कोणगता भवन्ति इति सम्बन्धः । प्राच्यादि प्राचीमारभ्येति यावत् ।  
प्राच्यां दिशि क्रियो वृषश्च द्वौ । कोणे द्विमूर्तिर्मिथुनराशिः । दक्षिणस्यां  
कर्कटकसिंहौ द्वौ । निर्गतिकोणे कन्याराशिरित्याद्युक्तं भवति । एवं  
राशिविन्यासं विधाय तत्र ह्रस्वदीर्घादिराशिभिः शुभशुभग्रहैश्च योगेक्षण-  
वशात् तत्तदधिष्ठितप्रदेशेषु जीर्णसंस्कारदाहचित्रत्वादिविशेषां वाच्याः ।  
शय्यास्वपि वास्तुवद् वदेत् । शय्यास्विति बहुवचनेन तत्रापि यथा-  
सम्भव ग्रहैः जीर्णसंस्कृतत्वादि निरूपणीयमिति द्योत्यते । वास्तुवदिति

१ 'मदिकसमीपे ग च २ 'ग वा ग' र ग घ च ३ 'ग्रहण च ४ 'वो भ' घ  
५ 'शिन्यासं विधा' छ ६ 'मैग्रहै ग छ. च ७ 'यो वाच्यः' ग.

वास्तुनीं राशिर्विन्यासं कृत्वा विशेषं वदेत् । किन्तु पदैः पद्-  
त्रिनवान्त्यसंस्थैः । प्रसवलग्र खट्वायां शिरोविन्यासस्थाने निधाय  
ततः तृतीयपष्ठनवमहादशराशीन् खट्वापादेषु विन्यसेत् । तदन्तराल-  
रा(शिभिः॥शीन्) खट्वादण्डेषु च विन्यसेद् इत्यर्थादुक्तं भवति ।  
दृश्यार्धेन वामभागः, अदृश्यार्धेन दक्षिणभागः इति च 'कं दग्नि'-  
त्यादि वक्ष्यमाणश्लोकेन सिध्यति । अस्य प्रयोजनं यमलक्षेणितत्वं  
क्रूरैस्तत्तुल्य उपपात इति । एवं सदैवापहतखट्वाप्रस(ङ्गाङ्गो) यस्मा-  
दवश्यं कचिदपि पापग्रहेण भाव्यं यमलक्षेण च भाव्यमिति । तत्र  
यमलक्षे सौम्यग्रहव्याभियुक्ते दृष्टेऽप्यत्राप्यनियतत्वम् । पापग्रहोऽपि  
सोचराशित्रिकाणामित्रक्षेत्रस्थः अशुभफलकरो न भवति ॥ २१ ॥

प्रसवकालोपयोगिनाम् उपसृष्टिदानां निर्देशलक्षणमनुष्ठुभमाह—

चन्द्रलग्नान्तरगतैर्ग्रहैः स्युरूपसूतिकाः ।

बहिरन्तश्च चक्रार्धे दृश्यादृश्येऽन्यथा परे ॥ २२ ॥

इति । चन्द्रलग्नान्तरगतैः ग्रहरूपसूतिकाः स्युः । चन्द्रस्य च  
लग्नस्य च अन्तरं ये ग्रहाः ते चन्द्रलग्नान्तरगताः । विस्मापनप्रत्ययानां  
प्रसन्नमननशब्दं सामान्येन निर्देश उच्यते । अतोऽत्रापि लग्नाद्  
यावच्चन्द्रं स्थिता ग्रहाः गृह्यन्ते । न चन्द्राह्णनावधि स्थिताः । तत्र  
चन्द्रे मग्नमादुभि स्थिते सति केचिद् अदृश्यार्धस्था ग्रहाः केचित्  
दृश्यार्धस्थोश्च सम्भवन्ति । तत्र अदृश्यार्धस्थैः प्रसवोपयोगिन्यः  
सूतिकागृहान्तःस्था उपसूतिका वक्ष्याः, दृश्यार्धस्थितः सूतिकागृहाद्  
बहिःस्थिता वक्ष्याः । उच्चादिभूतत्वेन तामां द्वित्रिगुणत्व च शत्रु-  
नीचादिर्गतरनुपयोगित्वं च वक्तव्यम् । पर अन्यथा इति । परे दृश्या-

१ 'तत्तृतीय' इ २ 'लौपयोगिकानां क ख. घ. ३. 'गमाह—'  
ख. ग. घ. ङ. च ४ 'ततोऽस लग्नान् चन्द्रं' ग, ५. 'स्थाः स' ग च;  
'स्थिताश्च स' इ

दृश्ये चक्रार्धे अन्तर्वह्निःस्थिता उपसृतिकाः स्युरिति वदन्ति । तथाच जीवशर्मा—

“उदयशशिमध्यसंस्थैर्ग्रहैः स्युरुपसृतिकास्तत्र ।

उदगर्धगतैर्बाह्ये दक्षिणगैरन्तरे ज्ञे (येऽप्याः) ॥”

इति । अत्र पूर्वं एव पक्षः श्रेयान् । तथोचोक्तमाचार्येण स्वल्पज्ञातके—

“शशिलग्रान्तरसंस्थग्रहतुल्याः सृतिकाश्च वक्तव्याः । ।

उदगर्धेऽभ्यन्तरगा बाह्याश्चक्रस्य दृश्यार्धे ॥”

इति । अत्र उपसृतिका यैर्ग्रहैर्निर्दिश्यन्ते, तच्चद्ग्रहतुल्यजातिवर्णवयो-  
रूपाश्च ता वक्तव्याः । जातिरुक्ता ‘विप्रादित’ इति । वयोऽपि शशि-  
कुजबुधा बालाः । रविगुरू मध्यवयसौ । शुक्रो युवा । बृह्मोऽर्कज  
इति । वर्णाः रक्तश्यामादि । रूपाण्यपि मधुपिङ्गलह्मगित्यादि ॥ २२ ॥

अथ जातस्य शिशोः शरीरलक्षणं दोषकेनाह—

लग्ननवांशपतुल्यतनुः स्याद्

वीर्ययुतग्रहतुल्यतनुर्वा ।

चन्द्रसमेतनवांशपवर्णः

कादिविलग्नविभक्तभगाग्रः ॥ २३ ॥

इति । लग्ननवांशपतुल्यतनुः स्यात् । लग्ननवांशाधिपेन तुल्य-  
शरीरो भवतीत्यर्थः । वीर्ययुतग्रहतुल्यतनुर्वा भवति । तत्काले यो  
वीर्योधिको ग्रहः, केन्द्रस्थितः इत्यर्थाद् भवति । तेन तुल्यतनुर्वा  
भवति । चन्द्रसमेतनवांशपवर्णः चन्द्रस्थितनवांशाधिपस्य वर्ण इव  
वर्णो यस्य स तथा । अत्र च वर्णः ‘रक्तः श्यामो भास्कर’ इत्यादि-

१ ‘अति। पूर्वं’ क. ग. घ. ङ. च. २. ‘योक्त’ क. ग. घ. ३. ‘क्षय’ ग. ङ.  
४. ‘णमाह—’ ख; ‘णमाह श्लोकचतुष्टयेन’ ग. घ. ङ. च. ५. ‘यंपुतो प्र’ क.  
६. ‘यां। च’ क. ग. घ. ङ. ‘या। कांछ. ग. घ. ङ. च.

नोक्तः । कादिविलम्बविभक्तभगानः कं शिरः तदारभ्य विलम्बादिभि  
राशिभिर्विभक्तं भगात्रं राशिस्वरूप गात्र यस्य सः कादिविलम्ब-  
विभक्तभगात्रः । विलम्ब शिरसि कृत्वा तदायै राशिभिः वराङ्गमानन-  
मित्यादिक्रमेण देहैन्यस्तैः ग्रहयोगेक्षणरशाद् गात्राणां लक्षण वक्तव्य-  
मित्यर्थः । तद्यथा— अत्र राशीनां प्रमाणमुक्तं 'पूर्वाधे विषयादयः'  
इत्यादिना पूर्वमेव । यत्राङ्गस्य दीर्घे राशौ दीर्घराश्यधिपोऽप्यस्थितो  
भवति तदङ्गं तस्य दीर्घं वक्तव्यम् । तथाच स(त्य)ति दीर्घाधिपतिगृहे  
स्थितो ग्रहोऽप्ययदीर्घकृद् भवति । अर्थादेवाल्पप्रमाणराश्यधिपोऽल्प-  
प्रमाणराशौ व्यवस्थितस्तदङ्गाल्पकृद् भवति । दीर्घराश्यधिपोऽल्पराशि-  
व्यवस्थितोऽङ्गमध्यमकृत् । यत्र न कश्चिद् व्यवस्थितस्तत्र राशिप्रमाण-  
मेवाङ्गप्रमाणं वाच्यम् । अत्र स्थिरचक्रेण गात्रलक्षणमुक्तम् ॥ २३ ॥

अथ चरचक्रेण गात्रलक्षणं ज्ञानंलविक्रीडितेनाह—

कं दृक्छात्रनसाकपोलहनवो वक्रं च हे रादय-

स्ते कण्ठांमकबाहुपार्श्वहृदयकोडानि नाभिस्तथा ।

वस्तिः शिश्नगुदे ततश्च वृषणावूरु ततो जानुनी

जङ्घेऽङ्घ्रोत्युभयत्र वाममुदितैर्द्वेष्ठाणभागैस्त्रिधा ॥ २४ ॥

इति । मूर्धादिवक्रान्तं वण्ठादिनाभ्यन्तं वस्त्यादिपादान्तं च  
शरीरं त्रिधा त्रिमज्जं त्रिप्यपि भागेषु चरचक्रन्यासः क्रियते ।  
तत्र लग्नभागस्य गन्तव्यमारभ्य सप्तमभागस्य गतभागाधौ चक्रार्ध-  
मदृश्यम् । सप्तमभागस्य गन्तव्यभागमारभ्य लग्नगतभागान्तं चक्रार्धं  
दृश्यम् । तत्रादृश्याधौ दक्षिणाङ्गेषु यथोक्तेषु न्यासः, दृश्याधौ  
वामाङ्गेषु न्यासः कर्तव्यः । तत्र प्रथमं मूर्धाद्यूर्ध्वभागन्यासमाह—

१ 'य विलम्ब शिरसि कृत्वा तदारभ्य २ 'स कादिविलम्ब शिरसि दृ ३ 'ह'  
र ग क ४ 'त्रेणाह—' ख ग घ च 'कन्याममाह—' दृ ५ 'त तत्रादृश्या' ह  
६ 'ने न्या' घ

कंदश्छेत्रनमाकपोलहनवः वक्रं च क्रमोत्क्रमाभ्यां दक्षिणवामभागयो-  
 होरादयो भवन्तीति सम्बन्धः । होरा लग्नम् । तस्य गन्तव्यभागः  
 शिरसो दक्षिणार्धं, धनभावो दक्षिणदृष्टिः, तृतीयो राशिः दक्षिण-  
 कर्णः, चतुर्थो दक्षिणनासा, पञ्चमो दक्षिणकपोलः, षष्ठो दक्षिणहनुः,  
 सप्तम-य गतं वक्रदक्षिणार्धं गन्तव्यभागो वक्रवामार्धम्, अष्टमो वाम-  
 हनुः, नवमो वामकपोलः, दशमो वामनासा, एकादशो वामकर्णः,  
 द्वादशो वामदृष्टिः । लग्नस्य गतभागः शिरसो वामार्धम् । एवमूर्ध्वाङ्गे  
 लग्नदिचरचक्रन्यासः । अथ मध्यगङ्गे न्याममाह कण्ठासिकवाहु-  
 पाङ्गेहृदयक्रोडानि नाभिः । ते होरादयः पूर्ववत् क्रमोत्क्रमाभ्यां  
 दक्षिणवामयोर्भागयोर्भवन्तीति सम्बन्धः । कण्ठस्य दक्षिणार्धं लग्नस्य  
 गन्तव्यभागः, वामार्धं गतभागः, दक्षिणांसो द्वितीयराशिः, वामांसो  
 द्वादशराशिः, तृतीयैकादशौ दक्षिणवामवाहु, चतुर्थदशमौ दक्षिण-  
 वामपाङ्गे, पञ्चमो हृदयदक्षिणभागः, नवमो हृदयवामभागः, षष्ठो  
 जठरस्य दक्षिणभागः, अष्टमो जठरस्य वामभागः, सप्तमस्य गतार्धं  
 नाभेर्दक्षिणभागः गन्तव्यार्धं वामभागः । इति देहमध्यभागे चर-  
 चक्रन्यासः । अधःकाये चरचक्रन्यासमाह—यस्तिरित्यादिना । होरादय  
 इत्यनुवर्तते । पूर्ववल्लभं वस्तिः, द्वितीयद्वादशौ शिश्रुगुदयोर्दक्षिणवाम-  
 भागा, तृतीयैकादशौ दक्षिणवामवृषणमणी, चतुर्थदशमौ दक्षिणवामोरु,  
 पञ्चमनवमौ दक्षिणवामजानुनी, षष्ठाष्टमौ दक्षिणवामजङ्घे । अस्त-  
 लग्नस्य गतगन्तव्या भागौ दक्षिणवामपादा । इत्यधःकायं चरचक्र-  
 न्यासः । उदितैर्वागम् । उदितैरनस्तमित राशिभिः । वामम् इति  
 दक्षिणेतरं विलोमं च याजनीयमिति श्रेयः । वामशब्दस्य दक्षिणे-  
 त्तार्थवाचितं विलोमतार्थवाचित्वमप्यत्रापेक्ष्यते । अत उदितैर्दृश्याधेयैः  
 वाममर्गं प्रविलोमं इत्यर्थः सिध्यति । अत एवादित्याधेयैः दक्षिण-  
 भागे क्रमेण चेत्युक्तं भवति । तथाच पूर्वं व्याख्यातम् । त्रिषु

१. 'धे' सप्तमस्य ग' ग. घ. ट. च. २. 'मभागे न्या' ग. ग. ट. ३. 'गभाग-  
 वामभागयोर्भ' छ. ४. 'गौ, च' ट. ५. 'गैः' च. ६. 'नेन ह' घ. ट. च. ७. 'दर्याय  
 सि' ग. ट. च.

स्थानेषु न्यस्तेन चक्रेण कथं विशेषनिर्देश इत्याशङ्क्यामाह --  
 द्रेक्काणमार्गस्त्रिधा । लग्नस्य प्रथमद्रेक्काणे सति मूर्धाद्यङ्गेषु, मध्य-  
 द्रेक्काणे कण्ठाद्यङ्गेषु, तृतीयद्रेक्काणे वस्त्याद्यङ्गेषु इति त्रिधा न्यासः  
 कर्तव्यः इति केचित् । अन्ये पुनरेवं व्याचक्षते । प्रथमद्रेक्काण-  
 जातश्चेत् स प्रथमद्रेक्काणो मूर्धा । द्वितीयद्वादशराश्योः प्रथमद्रेक्काणौ  
 चक्षुषी । तृतीयकादशराश्योः प्रथमद्रेक्काणौ कर्णौ । चतुर्थदशमयोः  
 प्रथमद्रेक्काणौ नासिके । पञ्चमनवमयोः प्रथमद्रेक्काणौ कपोलौ । षष्ठा-  
 टमयोः प्रथमद्रेक्काणौ हन् । सप्तमस्य प्रथमद्रेक्काणौ वक्त्रम् ।  
 लग्नमध्यद्रेक्काणः कण्ठः । द्वितीयद्वादशराशिमध्यद्रेक्काणावसौ । तृतीयै-  
 कादशराशिमध्यद्रेक्काणौ बाहू । चतुर्थदशमराशिमध्यद्रेक्काणौ पाश्वे ।  
 पञ्चमनवमराशिमध्यद्रेक्काणौ हृद्भगौ । षष्ठाष्टमराशिमध्यद्रेक्काणौ  
 क्रोढभागौ । सप्तमराशिमध्यद्रेक्काणौ नाभिः । लग्नान्त्यद्रेक्काणौ  
 वस्तिः । द्वितीयद्वादशराश्यन्त्यद्रेक्काणौ शिशुगुदभागौ । तृतीयैका-  
 दशराश्यन्त्यद्रेक्काणौ घृणमणी । चतुर्थदशमान्त्यद्रेक्काणाभूः । पञ्चम-  
 नवमान्त्यद्रेक्काणौ जानुनी । षष्ठाष्टमान्त्यद्रेक्काणौ जङ्घ । सप्तम-  
 राश्यन्त्यद्रेक्काणः पादौ । एवं प्रथमद्रेक्काणजातस्य । मध्यद्रेक्काण-  
 जातश्चेत्, लग्नमध्यद्रेक्काणो मूर्धा । द्वितीयद्वादशमध्यद्रेक्काणौ चक्षुषी ।  
 इत्यादि । सप्तमराशिमध्यद्रेक्काणो वक्त्रम् । लग्नान्त्यद्रेक्काणः कण्ठ  
 इत्यादि । लग्नान्त्यद्रेक्काणो वस्तिः इत्यादि । एवं मध्यद्रेक्काणजातस्य ।  
 अन्त्यद्रेक्काणजातश्चेत्, लग्नान्त्यद्रेक्काणो मूर्धा इत्यादि । लग्नान्ति-  
 द्रेक्काणः कण्ठ इत्यादि । लग्नमध्यद्रेक्काणो वस्तिः इत्यादि पूर्ववत् ।  
 अयं पाठः श्रेष्ठः । अत्र शीर्षोदयष्टोदयोभयोदयराशिभिरूर्ध्वमुख-  
 धोमुखतिर्यङ्मुखैश्च द्रेक्काणवेद् बलवत्त्वेन स्थानविशेषो वक्तव्यः ।  
 तत्र द्रेक्काणाधिपस्य बलवत्त्वं द्रेक्काणवशात् स्थानकल्पना, लग्नस्य  
 बलवत्त्वं शीर्षोदयादिना, आदित्यस्य बलवत्त्वं ऊर्ध्वमुख्यादिनिति सम्प्र-  
 दायः ॥ २४ ॥

१. 'इति केचित्' इत्यारम्भ. 'अयं पाठः श्रेष्ठः' इत्यन्तं स. म. ट. च मातृकासु,  
 'स्थानविशेषो वक्तव्य' इत्यन्तं घ. पाठे च नास्ति. २. 'वशाद्' च स.

उक्तेषु स्थानेषु <sup>१</sup>ग्रहवशाद् वक्तव्यं विशेषं <sup>२</sup>शादृक्कविक्रीडितेनाह—

तस्मिन् पापयुते व्रणः शुभयुते दृष्टे च लक्ष्मादिशेत्

स्वर्क्षाशस्थिरसंयुते च सहजः स्यादन्यथागन्तुकः ।

मन्देऽश्मानिलजोऽग्निशस्त्रविपजो भौमे बुधे भूमवः

सूर्ये काष्ठचतुष्पदेन हिमगौ शृङ्गयवजजोऽन्यैः शुभः॥२५॥

इति । पापयुते तस्मिन् व्रणो भवति इत्यन्वयः । तत्र पाप-  
ग्रहेण युक्ते अङ्गे व्रणो भवतीत्यर्थः । शुभयुते दृष्टे च लक्ष्मादिशेत् ।  
शुभेन युक्ते दृष्टे वा लक्ष्म आदिशेत् । लक्ष्म किणादिचिह्नम् ।  
पापग्रहयुक्ते स्थाने शुभस्य योगो वीक्षणं वा सम्भवति चेत् लक्ष्मैव  
भवति, न व्रणः इत्यर्थः । अत्र तच्चद्वेष्टकाणस्थैः पापैः शुभैर्वा  
तत्तद्वेष्टकाणोक्ताङ्गेषु व्रणलक्ष्मादिकं वाच्यमिति विशेषः । स्वर्क्षाश-  
स्थिरसंयुते च सहजः, ग्रहे स्वराशस्थे स्वनवांशकस्थे स्थिरराशस्थे  
वा सहजो व्रणः लक्ष्म वा, अन्यथा आगन्तुकः स्यात् । ग्रहस्य  
स्वर्क्षाशस्थिरसंयुताभावे आगन्तुकः जननानन्तरं कारणजनितः । व्रण-  
कारणविशेषानाह — मन्दे अश्मानिलजः शनौ व्रणकारके मति अश्मा-  
निलजः, अश्मना अनिलेन वा जातः । भौमे अग्निशस्त्रविपजः  
अग्निना शस्त्रेण विषेण वा जातः । बुधे भूमवः भूमवो व्रणः भूम्य-  
मिघातेन जातः । सूर्ये काष्ठचतुष्पदेन काष्ठेन दारुणा, चतुष्पदेन  
गोमहिषादिभिर्जनितो व्रणः । हिमगौ शृङ्गयवजजः शृङ्गिभिर्जलचरैः  
मत्स्यादिभिर्जनितः । अन्यैः शुभग्रहैः । बहुवचनम् अक्षीणचन्द्रस्य  
पापयोगरहितस्य बुधस्य च शुभत्वात्, गुरुशुक्रचन्द्रबुधैरित्यर्थः ।  
शुभः शुभग्रहमहिते देहावयवे सौष्ठवं वा भूषणं वा भविष्यतीति  
वक्तव्यम् ॥ २५ ॥

१. 'बलव' घ. २. 'पमाह' ख. ग घ. ङ. ३. 'मग्रहयु' ग. च. ४. 'मग्रह-  
योगवीक्षणं स' ग. ङ. च. ५. 'तेषु स' ङ. ६. 'रामावे' घ. ७. 'करे' ङ. ८. 'तः। अन्यैः  
अन्यैः' च ९. 'क्रतु' ख. ग.

पुनरपि घणादिज्ञानार्थं हरिणीमाह—

समनुपतिता यस्मिन् गात्रे त्रयः सवुधा ग्रहा

भवति नियमात् तस्यावाप्तिः शुभेष्वशुभेषु ॥ १ ॥

व्रणकृदशुभः पष्ठे लग्नात् तनौ भसमाश्रितं

तिलकमपकृद् दृष्टः सौम्यैर्युतश्च सलक्ष्मवान् ॥ २६ ॥

इति । यस्मिन् गात्रे त्रयः सवुधाः ग्रहाः समनुपतिताः शुभेषु अशुभेषु वा, तस्य अवाप्तिनियमाद् भवति इत्यन्वयः । सवुधास्त्रयः बुधेन सह चत्वारः । तेषु शुभेष्वशुभेषु वा ते शुभा वा अशुभा वा मित्रा वा भवन्तित्यर्थः । तस्यावाप्तिः तेषां चतुर्णां मध्ये यो बलवान् सोऽशुभश्चेद् व्रणस्य शुभश्चेद् भूषणस्य उभौ शुभाशुभौ बलिनौ चेच्छुभमणः अवाप्तिः तत्कारकग्रहस्य दशाकाले प्राप्तिः नियमाद् भवति असंशयेन भवतीत्यर्थः<sup>१</sup> । समनुपतिता इत्यत्र विशेष उच्यते — यस्य जन्मन्येकत्र सवुधास्त्रयस्ताराग्रहा भवन्ति तस्य नियमाद् पतितत्वं द्रष्टव्यम् । सूर्यचन्द्रसहितावन्यौ चेद् रोगादिना पतितत्वम् । लग्नात् पष्ठे अशुभः भसमाश्रिते तनौ व्रणकृद् भवतीत्यन्वयः । भसमाश्रिते तनौ 'कालाङ्गानि वराङ्गानि'त्याद्युक्तेन प्रकारेण पष्ठ-राशिर्भसमाश्रितो यः शरीरप्रदेशः तत्र व्रणकृत् । लग्नात् पष्ठत्यर्कल्पना मेपाद् वराङ्गादिकल्पना चात्र विवक्ष्यते । सौम्यैर्दृष्टस्तिलकमपकृद् । यद्यसावशुभः शुभदृष्टः तिलकमपकृत् न व्रणकृत् । तिलकमपकृत् तिलकः पिष्टुः कुण्णोन्नतविन्दुः, मपो रोम च, तौ करोतीति तिलक-मपकृत् । सौम्यैर्युतश्च सलक्ष्मवान् । यद्यसावशुभः सौम्यैर्युतस्तदा सपिष्टुः लक्ष्मवान् । लक्ष्मवान् लक्ष्मणा सहितः, वैवर्ण्यमहित इत्यर्थः ।

१. 'यः' पुष्पे ख. २. 'पा म' क. ३. 'य' । लग्ना' ख. ग. ४. 'शितो' ग.

५. 'शः' । ल', ६. 'त्वं मे' ख. ग. ७. 'द्विनिरूपणं चा', ८. 'हितम् । स सौ' ग.

९. 'ष्टो युतश्च तिलकमपकृत् ति', १०. 'ल' । सलक्ष्मवान् सपिष्टु लक्ष्मणा' ख. ग.



सौम्यैर्दृष्टास्तिलकमपकृत् सौम्यैर्युक्तस्तिलकमपकृद् लक्ष्मवांश्च भवतीत्युक्तं  
भवति ॥ २६ ॥

इति होराविवरणे जन्मारूपः पञ्चमोऽध्यायः ।

### अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ जननलग्नग्रहस्थितिवशेन शिशुशरीरगतमण्णादिलक्षणकथने “स्वर्क्षाशस्थिर-  
संयुते च महजः स्यादन्यथागन्तुकः” इत्यत्र महजस्यैव तत्कालविस्मापनत्वम् । आगन्तु-  
कस्य तु कालान्तरभावित्वात् सद्योमरणलक्षणसम्भवे सति निर्देशो ह्यस्य एव स्यादिवी-  
हानीम् अस्मिन्नध्याये सद्योमरणलक्षणानि निर्दिश्यन्ते—

सन्ध्यायां हिमदीधितिहोरा

पापैर्भान्तगतैर्निघनायं ।

प्रत्येकं शशिपापसमेतः

केन्द्रैर्वा म विनाशमुपैति ॥ १ ॥

इति । हिमदीधितिहोरा सन्ध्यायां भान्तगतैः पापैः निघनाय  
भवति इत्यन्वयः । ओजराशेरूर्ध्वार्धं युग्मराशेरधोर्ध्वं चात्र हिम-  
दीधितिहोरा । सन्ध्यायां, द्वे सन्ध्या प्रातःसन्ध्या सायंसन्ध्या च ।  
तथाचोक्तं संहितायाम्—

“अर्धास्तमयादूर्ध्वं व्यक्तीभूता न तारका यावत् ।

तावत् सायंसन्ध्या प्रातःसन्ध्यापि तावताम् ॥

तेजःपरिहाणि मुखाद् मानोरधोदयो<sup>१</sup> यावत् ।”

इत्युक्तलक्षणायां सन्ध्यायाम् । भान्तगतैः यत्रैतत्र नवैमांशान्त्यगतैः,

१. 'ति होराशास्त्रे प' क; 'ति प' ख; 'बृहज्जातववि' ग. २. 'वितारेण' ॥ ख;  
'च ताराणाम्' ड. ३. 'यं या' घ ३. 'यं' ५. 'वांशा' छ.

पापैः । पापेषु यत्रतत्र राक्ष्यन्त्यगतेषु मन्ध्याकाले चन्द्रहोरायां  
जन्म चेत् सद्योमरणं स्वादित्युक्तं भवति । प्रत्येकमित्यन्यो योगः ।  
केन्द्रैः प्रत्येकं अशिषापममेतैर्वा तः विनाशमुपैति इत्यन्वयः । अशि-  
षापममेतैः अशिषा पापैः सूर्यर्भाममन्दैश्च मंयुक्तेः<sup>१</sup> केन्द्रैः मं जातः  
शिशुर्विनाशमुपैति ॥ १ ॥

दुनरध्वरिष्टयोगमिन्द्रचज्रेणाह—

चक्रस्य पूर्वतरभागेषु

क्रूरेषु सौम्येषु च कीटलग्ने ।

क्षिप्रं विनाशं समुपैति जातः

पापैर्विलग्नास्तमयाभितश्च ॥ २ ॥

इति । कीटलग्ने क्रूरेषु सौम्येषु च चक्रस्य पूर्वतरभागेषु  
जातः क्षिप्रं विनाशं समुपैति इत्यन्वयः । वृश्चिके लग्ने सति क्रूरेषु  
चक्रस्य पूर्वभागेषु सौम्येषु इतरभागेषु सत्सु । वृश्चिकार्धे उदयति  
घनुर्मकरकुम्भार्धाः तथा तुलाकुम्भार्धमिहार्धाश्च चक्रस्य पूर्वभागः ।  
कुम्भस्योत्तरार्धादारभ्य यावत्सिंहपूर्वार्धमितरभागः । अत्र कीटशब्देन  
वृश्चिककर्कषटावुच्येते । यद्यपि पूर्वम् “अहि निशि च प्राप्ते च सन्ध्या-  
द्वय” इत्यत्र जलजयोर्मकरमीनयोः कीटत्वमभ्युपगतं, तथापि न  
तयोः सन्ध्यास्तत्राभ्युपगम्यते । तथाच वादरायणः—

“पूर्वापरभागवैरशुर्मरलिर्कटं लग्ने ।

जातस्य शिशोर्मरणं मघः कथयति यवनेन्द्रः ॥”

इति । पापैरित्यादि योगान्तरम् । विलग्नान्तमयाभितः पापैश्च विनाश-  
मुपैति इत्यन्वयः । विलग्नस्यैव च अस्तमयस्य च अभितः लग्नराशेः

१ ‘अमन्दममममम २ ‘तै. ३ सजात द ह ‘पु मोग्येषु इतर  
भागेषु जात’ च ५ ‘ग । पापै म ग म द-च ६ ‘भिः पां द ७ ‘त्याद्य’  
ग घ च. ८ ‘प्राप्त च

अस्तमयराशेश्चोभयतः । धनव्यययोरष्टमपष्टयोश्च स्थितरिति यावत् ।  
 अभित इति “पर्यभिभ्यां सर्वोभयार्थेषु तसिर्वक्तव्यः” इत्याभिश्चब्दा-  
 दुभयार्थे तसिप्रत्ययः । उदयलग्नान्तर्ग्रयोरुभयपापित्वे सति जातस्य  
 सद्यो मरणं स्यादित्यर्थः । अस्य योगस्य शुभयोगेक्षणाभ्यामपवादो  
 भवेतीति द्रष्टव्यम्, यतोऽत्रैव योगे “निधनारिधनव्ययस्थिताः”  
 इत्यादिश्लोकेन नेत्रहानिं चक्षुर्गतिः । अन्ये पुनरभितःशब्द आभिमुख्ये  
 वर्तत इति वर्णयन्ति । तत्र लग्नाद् यो द्वितीयराशौ ग्रहो व्यवस्थितः,  
 स उदयमभिलपतीति लग्नस्याभिमुख्यं भवति । यश्च लग्नादष्टमराशौ  
 भवति, सोऽस्तमयमभिलपति सप्तमराशावभिमुखो भवति । तेनैत-  
 ज्ञातं — लग्नाद् द्वितीयाष्टमगतैः सर्वैः पापैर्जातो म्रियते । अन्ये  
 पुनरभितःशब्द आभिमुख्य एव वदन्ति । यस्माद् यद्यनेश्वरः —  
 ‘पापेषु लग्नाभिमुखेषु सर्वेष्वत्राप्तवीर्येष्वशुमर्क्षेषु’ इति । किन्तु यो  
 लग्नाद् द्वादशस्थाने स्थितः स लग्नमभिलपति लग्नाभिमुखो भवति ।  
 पष्ठे यश्च स्थितः सोऽस्ताभिमुखो भवति, यस्माद् ग्रहाणां प्रादुर्गती  
 गतिः । तत्र पूर्वभिमुखं व्रजतो लग्नद्वितीयस्थस्याभिमुख्यं न सम्भवति ।  
 न चाष्टमस्थस्यास्ताभिमुख्यं भवति । तेनैतज्ज्ञातं — लग्नद्वादशपष्टाश्रितैः  
 पापैर्यस्य जन्म भवति, स म्रियत इति । गर्गः सर्वाण्येव व्याख्या-  
 नान्यभिमतानीति । तथाच (तर्क)कथ्यः(१) —

“अरिव्ययगतैः पापैर्यदि वा धनमृत्युवैः ।

लग्ने वा पापमध्यस्थे द्यूने वा मृत्युमाप्नुयात्” ॥

इति ॥ २ ॥

भौमे विलग्ने शुभदैरदृष्टे

पष्ठेऽष्टमे वार्कसृतेन युक्ते ।

तौ चार्कसंस्थौ शुभदृष्टिहीनौ

जातस्य सद्यः कुरुतः प्रणाशम् ॥ ३ ॥

इति । शुभदैः अद्येष्टे भौमे विलग्नं पष्टे अष्टमे वा अर्कसुतेन युक्ते सति जातः क्षिप्रं विनाशं उपैतीति सम्बन्धः । तौ अर्कसंस्थौ शुभ-  
दृष्टिहीनौ च जातस्य सद्यः प्रणाशं कुरुत इत्यन्वयः । भौमार्कसुतौ  
अर्कसंस्थौ अर्कयुक्तौ मूढाविति यावत् । चशब्देन विलग्न इत्यनु-  
कृष्यते । अर्थाल्लग्नस्यौ कुजार्कसुतौ मूढौ शुभदृष्टिहीनौ चेत् सद्यो-  
मरणं कुरुतः । अर्कसंस्थावित्युक्त्या द्वादशस्थावपीति द्योत्यते । द्वाद-  
शस्यौ लग्नाभिमुख्यावित्यर्थः । तथाचेत्तं यवनेश्वरेण—

“पापेषु लग्नाभिमुख्येषु नश्येदवाप्तवीर्येष्वैशुभक्षेत्रेषु ।”

इति ॥ ३ ॥

पाशवुदयास्तगतौ क्रूणे युतश्च शशी ॥

दृष्टस्तु शुभैर्न यदा मृत्युस्तु भवेदचिरात् ॥ ४ ॥

पापौ उदयास्तगतौ क्रूणे युतः शशी शुभैर्न दृष्टस्तु यदा  
तदा तु अचिरान्मृत्युर्भवेदित्यन्वयः । एकः पापग्रहः उदये, एकौ-  
ऽस्तमये च, एकश्चन्द्रेण युतश्च, स चन्द्रः शुभग्रहरदृष्टश्च यदा भवति  
तदापि अचिरान्मरणमित्यर्थः । एवं लग्नादारभ्य द्वितीयादिभावेषु  
यत्र यत्रावस्थितौ मन्दमाहेयौ अन्योन्यं पश्यतः चेत् तच्चङ्गाव-  
वशाद्वित्यं दुःखदौ भवतः ॥ ४ ॥

क्रूसंयुतः शशी स्मरन्त्यमृत्युलग्नगः ।

कण्टकाद् वहिः शुभैर्नोक्षितश्च मृत्युदः ॥ ५ ॥

शशी स्मरान्त्यमृत्युलग्नः क्रूरमंयुतः मृत्युद इत्यन्वयः ।  
उक्तेषु चतुर्षु स्थानेषु स्थितः शशी क्रूरसंयुतः, क्रूरशब्देन कुजोऽत्र  
गृह्यते । संयुत इत्यत्र उपसर्गेण समकलत्वं च गृह्यते । अप-  
वादार्थं विशेषणमाह— कण्टकाद् बहिः शुभैरनीक्षित इति । कण्टकाद्  
बहिः स्थितैः शुभग्रहैरदृष्टः । अत्र अनीक्षित इति चन्द्रविशेषणोक्त्या ।  
कण्टकशब्देनै लग्रकेन्द्रं गृह्यत इत्यवगम्यते । ततो लग्नस्य शुभ-  
केन्द्रत्वं चन्द्रस्य शुभदृष्टिश्चास्य योगस्यापवाद इति सिद्धं भवति ।  
तथाच साराचल्पा—

“व्ययाष्टसप्तोदयगे शशाङ्के पापैः समेते शुभदृष्टिहीने ।  
केन्द्रेषु सौम्यग्रहवर्जितेषु जातस्य सद्यः कुरुते प्रणाशम् ॥”

इति ॥ ५ ॥

क्षीणे हिमगौ व्ययगे पापैरु(भ?द)याष्टमगैः ।  
केन्द्रेषु शुभाश्च न चेत् क्षिप्रं निधनं प्रवदेत् ॥ ६ ॥

हिमगौ चन्द्रे क्षीणे परिक्षीयमाणकरे (लग्ना)द् व्ययगे द्वादशस्थे  
पापैः क्रूरग्रहैरु(भ?द)याष्टमगैः केन्द्रेषु सौम्यग्रहो यदि न च भवति,  
एतैः पापग्रहैर्मृत्युमिच्छन्त्याचार्याः । यस्माद् भगवान् गार्गीः—

“क्षीणे च चन्द्रे व्ययगे पापैरष्टमलग्नगैः ।  
केन्द्रबाह्यस्थितैः सौम्यैर्जातस्य निधनं वदेत् ॥”

इति ॥ ६ ॥

शशिन्यगि विनाशगे निधनमाशु पापेक्षिते  
शुभैरथ समाष्टकं दलमतश्च मिश्रेक्षिते ।

१. 'का', २. 'यमा' ह. ३. 'न के' ह. च. ४. 'ति ॥ ५ ॥ शशि' ए. ग घ ङ.  
५. 'ष्टपष्टोदय' ; ६. 'पु प्राणैर्वियोगं व्रजति प्रजात.' । इति शुद्धितसाराचलीपाठः ।

असद्विरवलोकिने बलिभिर्मात्र मासं शुभे

कलत्रसहिते च पापविजिते विलम्बाधिपे ॥ ७ ॥

शशिनि अरिविनाशगे योपेक्षिते आशु निधनं भवति<sup>१</sup> इत्य-  
न्वयः । चन्द्रे<sup>२</sup> शत्रुस्थानमष्टमस्थानं वा गते पापग्रहेण दृष्टे सति  
आशु निधनं भवति<sup>३</sup> अथ शुभैरीक्षिते समाष्टकं, जीवितकाल इति<sup>४</sup>  
शेषः । मिथेक्षिते च अतो दलमित्यन्वयः । मिथेक्षिते पापैः शुभैश्च  
मिथैः<sup>५</sup> ईक्षिते सति अ. : दल समाष्टकस्य दल समानां चतुष्टय-  
मित्यर्थः । अत्र शुभ बलिभिरसाद्भिः अवलोकिने मासं जीवितकालः ।  
अत्र शत्रुस्थाने मृत्युस्थाने च स्थिते शुभे गुरुशुक्रशुक्राणामन्यतमे  
बलिभिरुच्चक्रादिवलपुङ्गवैरसाद्भिर्ग्रहैरवलोकिने मासमात्रमायुः । अन्य-  
थापि योजना—अत्र योगे चन्द्रस्य रिपुविनाशस्थितौ शुभं इति  
शोभने, शुभग्रहयोगाद् इति यावत् । अयमर्थः—अरिविनाशस्थिते  
चन्द्रे शुभयुक्तेऽपि अनुमैर्दृष्टे सति मासमात्रमायुः । अत एव रिपु-  
विनाशस्य चन्द्रे शुभग्रहेण युक्ते शुभग्रहैर्दृष्टे मति अरिष्टमायु इति  
सिद्ध्यति । (विलम्बाधिपे पापविजितं कलत्रसहिते च ?) । अथ चन्द्रमाः  
पष्टाष्टमस्थानस्थः सौम्यश्चेन्नगतो वा भवति, अथवा पापक्षेत्रगतः  
सौम्यग्रहयुक्तो वा भवति तदा न मरणप्रदः । यस्माद् यवनेश्वरः—

“लग्नान्छशी नैधनगोऽशुभर्क्षे पष्टे तु वा पापनिर्वाक्षितश्च ।

मर्वाशुराहन्ति शुभैरामेथे तदीक्षितेऽब्दाष्टकपर्ययेण ॥”

इति । यस्य कृष्णपक्षे दिवा जन्म शुक्लपक्षे रात्रौ, लग्नाद् पष्टाष्टमगः  
शशो शुभाशुभदृष्टेऽपि भवति, तस्य न मरणम् । यस्मान्मालम्ब्यः—

‘पक्षे सिते भवति जन्म यदि क्षपायां

कृष्णेऽथवाहनि शुभाशुभदृश्यमानः ।

१. 'ति। अथ' इ. २ 'न्द्रे पा' ग. घ. ३ 'निर्वाक्षितः' । मिथेक्षिते वा 'घ'

४. 'थैः' शत्रुस्थानमष्टमस्थानं वा गते निर्वाक्षिते' ग. घ. ५. 'यवनाद्' ग.

६. 'युरित्यग्यो यो' घ.

तच्चन्द्रमा रिपुविनाशगतोऽपि यत्ना-

दापत्सु रक्षति पितेव शिशुं न हन्ति ॥”

इति । विलग्राधिपे पापविजिते कलत्रसहिते च मासमात्रमाधुरित्यन्यो योगः । पापविजिते पापेन विजिते पापग्रहेण सह युद्धे पराजिते, लग्नाधिपे शुभे अशुभे वा सप्तमस्थे सतीत्यर्थः । युद्धस्य समकालत्वे सम्भवात् सप्तमस्थितलग्नाधिपपापयोः पापग्रहः लग्नाधिपं परिभूय लग्नजातं मासमात्रेण व्यापादयतीत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

अथ क्षरिष्टान्तरं मन्दाग्रान्तवाह —

लग्ने क्षीणे शशिनि निधनं रन्ध्रकेन्द्रेषु पापैः

पापान्तःस्थे निधनहिबुकधूनयुक्ते च चन्द्रे ।

एवं लग्ने भवति मदनच्छिद्रसंस्थे च पापे

मात्रा सार्धं यदि न च शुभैर्वीक्षितः शक्तिमद्भिः ॥ २ ॥

इति । क्षीणे शशिनि लग्नं पापैः रन्ध्रकेन्द्रेषु स्थितैः निधनं भवतीत्यन्वयः । क्षीणचन्द्रे लग्नस्थे सति पापग्रहेरष्टमं वा केन्द्रेषु वा स्थितैः सद्योमरणं भवतीत्यर्थः । योगान्तरमाह — चन्द्रे पापान्तःस्थे निधनहिबुकधूनयुक्ते च । पापान्तःस्थे पापयोरुभयोर्मध्यस्थे चन्द्रे निधनस्थिते वा चतुर्थस्थिते वा सप्तमस्थिते वा च निधनं भवति । एवमिति । चन्द्रे एवं लग्ने सति मदनच्छिद्रसंस्थे पापे मात्रा सार्धं निधनं भवति । चन्द्रे पापान्तःस्थे लग्नस्थिते सति सप्तमे वाष्टमे वा स्थिते पापग्रहे मात्रा सार्धं मरणं भवति । स चन्द्रः शक्तिमद्भिः शुभैर्न वीक्षितो यदि तदैव निधनमिति सम्बन्धः । चशब्दस्त्वर्थे ।

१. 'ब' क. ख. घ. ङ. २. 'वत । स' ; ३ 'ति ल' ख ग घ ङ. च  
४. 'स्यैश्च पापैः' , ५ 'मृ' ग. घ ६ 'स्थेः पापैर्मन्त्रा' ग ङ. च.  
७. 'मृ' ग. च.

स तु चन्द्रः लग्नस्थितश्चन्द्रः । चन्द्रस्य कर्तृत्वनिर्देशात् बलवच्छुभ-  
निरीक्षितत्वे सति मार्तृमरणभावोऽत्र द्योत्यते ॥ ८ ॥

अथारिष्टयोगान्तरमिन्द्रवज्रेणाह—

राश्यन्तगे मद्भिरनीक्ष्यमाणे

चन्द्रं त्रिकोणोपगतैश्च शेषैः ।

प्राणैः प्रयात्याशु शिशुर्वियोग-

मस्ते च पापैस्तुहिनांशुलग्ने ॥ ९ ॥

इति । चन्द्रे राश्यन्तगे सद्भिः अनीक्ष्यमाणे शेषैः त्रिकोणो-  
पगतैः शिशुः आशु प्राणैः वियोगं प्रयातीत्यन्वयः । चन्द्रे यस्य-  
कस्यचिद् राशेरवसाने स्थिते शुभग्रहैरदृश्यमाने सति शेषैः चन्द्रा-  
दितरैः शुभैरशुभैश्च लग्नत्रिकोणस्थितैः शिशुराशु प्राणवियुज्यत इत्यर्थः ।  
त्रिकोणोपगतैश्च पापैरिति वा पाठः । योगान्तरमाह— तुहिनांशुलग्ने  
अस्ते पापैश्च शिशुः आशु प्राणवियोगं प्रयाति इत्यन्वयः । चन्द्रे  
उदयस्थिते सप्तमर्षयैः पापैर्ऋक्षमन्दैरिति यावत् ॥ ९ ॥

अथारिष्टान्तराणि हरिष्यह—

अशुभसहिते ग्रस्ते चन्द्रे कुजे निधनाश्रिते

जननिशुतयोर्मृत्युर्लग्ने रवौ तु म शस्त्रजः ।

उदयति रवौ शीतांशौ वा त्रिकोणविनाशगै-

निधनमशुभैर्व्योपेतैः शुभैर्युतंक्षिते ॥ १० ॥

इति । ग्रस्ते चन्द्रे अशुभसहिते लग्ने कुजे निधनाश्रिते  
जननिशुतयोः मृत्युः इत्यन्वयः । ग्रस्ते चन्द्रे राक्षसा मृदीते पूर्णेन्दो

१ 'तुमर' इ. २ 'शिशुभैश्च' च ३ 'यैः' । पा. य. च; 'यैः' । तु' म च.

४. 'स्थितैः' वा य



पापसहिते लग्नस्थिते सति कुजे निधनाश्रिते जनानिसुतयोर्द्वयोरपि  
मृत्युः स्यात् । योगान्तरमाह— रवौ तु स शस्त्रज इति । सूर्ये ग्रस्ते  
अशुभसहिते लग्नस्थिते सति कुजे निधनाश्रिते सति सः जनानिसुतयोः  
मृत्युः शस्त्रजः शस्त्रनिमित्तो भवतीति सम्बन्धः । सोमग्रहणे राहु-  
केत्वन्यतरसंयोगे सत्यपि सूर्यग्रहणे च राहुकेत्वन्यतरस्य क्षीणचन्द्रस्य  
च संयोगे सत्यपि अशुभसहित इत्युक्त्या कुजस्य निधनाश्रित-  
त्वोक्त्या च अशुभो मन्द इत्युक्तं भवति । अत्र सोमग्रहणेऽशुभः  
शनैश्चर एव । सूर्यग्रहणे शनैश्चरो बुधश्च इति कंचित् । मन्दस्य  
अशुभशब्देन निर्देशः इष्टकष्टफलनिर्णयप्रकारेण शुभाशुभैरनिरूपणं  
कर्तव्यमिति द्योतयितुम् । उत्तरार्धेनान्यो योगः— रवौ क्षीतांशौ वा  
उदयति त्रिकोणविनाशगेः पापैः निधनं भवति इत्यन्वयः । अस्य  
योगस्यापवादार्थं विशेषणं वीर्योपेतैः शुभैरयुतेक्षिते इति । योगकर्तारि  
चन्द्रेऽर्के वा बलिभिः शुभैरयुक्ते अदृष्टे च सत्येव शिशोर्मरणं वक्तव्य-  
मित्यर्थः<sup>१</sup> ॥ १० ॥

अधारिष्टान्तरमपरवक्रेणाह—

असितगविशशाङ्कभूमिजै-

र्व्ययनवमोदयनैधनाश्रितैः ।

भवति मरणमाशु देहिनां

यदि बलिना गुरुणा न वीक्षिताः ॥ ११ ॥

इति । व्ययनवमोदयनैधनाश्रितैरमितरविशशाङ्कभूमिजैः देहि-  
नामाशु मरणं भवतीत्यन्वयः । बलिना गुरुणा न वीक्षिता यदि ।  
वल्लवता गुरुणा योगकर्तारो दृष्टाश्चेन्मरणं न भवतीत्यर्थः । अर्थात्

१. 'येन स' क. ग. घ. ङ. च. २. 'गने' ङ. ३. 'योर्मृत्यु' । द्वयो' ङ. च.  
४. 'गने' ग. ङ. च. ५. 'जि रा' ख. ६. 'ति मन्द' ख. ग. घ. ङ. च. ७. 'भेक' घ.  
८. 'य' ङ. ९. 'लपक्षिः सु' क. ग. घ. ङ. च. १०. 'धैः' ॥ १० ॥ जमि' घ. ङ. च.  
११. 'नैधनस्थितैः' । क. ग. घ. ङ. \* अत्र द्वितीयमावार्थकमिदम् ।

पञ्चमस्येन गुरुणा इति सिध्यति । पञ्चमस्यस्य लग्नमयमयोस्त्रिकोण-  
दृष्टिः व्यये चतुरश्रदृष्टिः घने दशमदृष्टिश्च सम्भवति<sup>१</sup> । अत्र नैघन-  
शब्देनाष्टममुच्यते । तत्रापि गुरोश्चतुरश्रदृष्टिः सम्भवति इति केचित् ।  
अर्थादेव बलहीनगुरुणा बोधिताथेन्मरणं प्रवेदेत्, किन्तु आशु न  
प्रवेदेत् इति ॥ ११ ॥

अथारिष्टान्तरं पुष्पिताप्रयाह—

सुतमदनवमान्त्यलग्नरन्ध्रे-

पञ्चभयुतो मरणाय शीतग्निमः ।

भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यै-

यदि बलिभिर्न युतोऽवलोकितो वा ॥ १२ ॥

इति । सुतमदनवमान्त्यलग्नरन्ध्रेषु अशुभयुतः शीतरश्मिः  
मरणाय भवति इत्यन्वयः । उक्तेषु पदसु स्थानेषु स्थितः पापयुक्त-  
श्चन्द्रः सधोमरणाय भवतीत्यर्थः । बलिभिः भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यैः  
युतः अवलोकितो वा न यदि इत्यन्वयः । शुक्रयुधगुरुणां योगे  
वीक्षणं वा सति चन्द्रो न मरणं करोतीत्यर्थः । अपि च अस्मा-  
दपवादस्य निजोक्तानां सर्वेषामरिष्टयोगानां पश्चादभिधानात् सर्वारिष्ट-  
योगानां शरत्वं द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

अथोक्तानामनुगच्छालविशेषाणां योगानां सम्भवे कस्मिन् काले योगफलं  
भवतीति संशयस्य श्रुदायाय तत्कालं प्रमरयितुमित्येनाह—

योगे स्थानं गतवति बलिन-

श्रन्द्रे स्वं वा तनुगृह्णथवा ।

१. 'ये नैघने चतुरश्रदृष्टिश्च स द' २. ति ० ११ ० सु ध ग घ ङ. न  
१. 'चन्द्रो मरणाय न भवति य म' २. 'गानो नानदृष्ट' ३. म ४. 'यद्यु' य ग घ  
५. 'हे निर्दिष्ट' — य ग घ ङ य

पापैर्दृष्टे बलवति मरणं

वर्षस्यान्तः किल मुनिगदितम् ॥ १३ ॥

इति । बलवति चन्द्रे योगे बलिनः स्थानं गतवति पापै-  
र्दृष्टे सति मुनिगदितं मरणं वर्षस्यान्तः भवति किल इत्यन्वयः ।  
वर्षस्यान्तः वर्षमध्ये । चन्द्रस्य त्रयोदश पर्यया भवन्ति । तेषु कुत्र  
पर्यये कुत्र राशौ स्थिते राशिनि फलानुभव इति ज्ञातुमाह—योगे  
बलिनः स्थानं गतवति पापदृष्ट इति । योगे सद्योमरणयोगे । बलिनः  
योगकर्तृणां मध्ये बलाधिकस्य । स्थानं तदधिष्ठितराशिम् । गतवति  
प्राप्ते सति । अथवा स्वं स्थानं जन्मचन्द्रराशिम् । अथवा तनुगृह  
जन्मलभराशिम् । एषु त्रिषु एकं राशिं गतवति सति । तत्र विशेष-  
निर्देशायाह—बलवतीति । यत्र स्थितश्चन्द्रो बलवान् भवति । पुन-  
रपि विशेषमाह—पापैर्दृष्ट इति । यत्र स्थितश्चन्द्रो बलवान् पापैः  
दृष्टश्च भवेत्, तत्र मरणम् । त्रयोदशसु वर्षान्तर्गतपर्ययेषु यत्र पर्यये  
उक्तराशिषु स्थितः बलवान् पापदृष्टश्च भवेत्, तत्र मरणमादेश्यम् ।  
एव सम्भवेऽपि चन्द्रस्य शुभयोगः शुभदृष्टिर्वा यदि स्यात्, तर्हि  
पुनरन्यस्मिन् पर्यये तादृशे चन्द्रे निर्देश्यम् । तस्माद् वर्षस्यान्त-  
रेकोनचत्वारिंशत्(सु?)कालविशेषेषु यस्मिन् काले चन्द्रस्य बलवत्  
पापदृष्टश्च शुभयोगेक्षणभावश्च तत्र मरणमादेश्यमित्युक्तं भवति ।  
अन्येषु योगेष्वपि योगकारकैर्जन्मर्क्षजन्मलभवशादेवं चन्द्रेण शुभा-  
शुभकालौ वक्तव्य इति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

इति होराविवरणे सद्योमरणाध्यायः षष्ठः ॥

## अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः । अनेने ज्ञाते क्रियन्ते कालं जीवतीति ज्ञानुभायुदाय-  
विधानमुपदिशति सप्तमाध्यायेन । आयुर्दायविधिः— पिण्डदशा जीवशर्मपदशा  
शेदकदशा चेति । तत्र प्रथमं पिण्डदशायां ग्रहवत्सरान् पुष्पिताम्याह—

मययवनमणिन्यशक्तिपूर्व-

दिवसकरादिषु वत्सराः प्रदिष्टाः ।

नवतिथिविषयाश्चिभूतरुद्रा

दश सहिता दशभिः स्वतुङ्गभेषु ॥ १ ॥

इति । मययवनमणिन्यशक्तिपूर्वः दिवसकरादिषु स्वतुङ्गभेषु  
एते वत्सराः प्रदिष्टाः । मयादयो होराचार्याः । शक्तिपूर्वः शक्तिः  
पूर्वः यस्य सः शक्तिपूर्वः । पराशर इत्यर्थः । तैर्दिवसकरादिषु चोच्च-  
राशिस्थितेषु एते वत्सरा उपदिष्टाः । दशभिः सहिता नवतिथि-  
विषयाश्चिभूतरुद्राः दश दिवसकरादीनां क्रमेणोपदिष्टाः । तत्र दिवस-  
करस्य दशसहिता नव एकोनविंशतिः । चन्द्रस्य दशसहितास्तिथयः  
पञ्चविंशतिरिति यावत् । कुजस्य पञ्चदश । बुधस्य द्वादश । गुरोः  
पञ्चदश । शुक्रस्यैकोनविंशतिः । शनैश्चरस्य विंशतिः । एवं ग्रहाणां  
स्वस्वपरमोच्चस्थितानाम् आयुर्दायवत्सरा होराचार्यैरुपदिष्टाः ॥ १ ॥

एतेषां नीचदरने मन्दाक्रान्ताम्याह—

नीचोऽनीचं हनति डि ततश्चान्तरस्थेऽनुपातो

होरा त्वंशप्रतिममरे राशितुल्यं वदन्ति ।

हित्वा वक्रं रिपुगृहगतैर्दीयते स्वत्रिभागः

सूर्योच्छिन्नद्युतिषु च दलं प्रोज्झ्य शुक्रैर्कपुत्रौ ॥ २ ॥

इति । नीचे अतः अर्थं हनति इत्यन्ययः । परमनीचस्थिताना-

मुक्तेभ्यो वत्सरेभ्योऽर्थं हीयते । ततश्च अन्तरस्थे ग्रहे अनुपात इति सम्बन्धः । तत उच्चनीचयोरन्तरे स्थितस्य वत्सरज्ञानाय अनुपातः, त्रैराशिकं कर्तव्यमित्यर्थः । अत्रेयं प्रक्रिया — ग्रहाणां तात्कालिक-स्फुटं विन्यस्य तस्मात् खं खं सावयवमुच्चं विशोधयेत् । शिष्टं पदाश्रयूनं चेन्मण्डलाद् विशोध्य राशिभागलिप्ताः स्वेन स्वेन वत्सर-प्रमाणेन गुणयेत् । मासा दिवसा नाडिकाश्च जायन्ते । तत्र नाडिकाः षष्टिर्दिवसः, त्रिंशदिवसा मासः, द्वादशमासा वत्सरः इति प्रमाण-क्रमेण उपर्युपर्यारोपिता वत्सरमासदिवसनाडिकात्मिका तस्य तस्य ग्रहस्य दशा भवति<sup>१</sup> । तथाच सारावल्यां—

“स्वोच्चशुद्धा ग्रहाः शोध्याः पदाश्रयूना भमण्डलात् ।

स्वपिण्डगुणिता भक्ता \*भास्करैर्वत्सरादिकम् ॥”

इति । ग्रहाणां दशानयनमुक्त्वा लग्नापुराह — होरा तु अंशप्रतिमं, होरा लग्नं, तत्तु अंशप्रतिमं नवमांशतुल्यम्, आयुर्ददातीति शेषः । यावन्तो नवांशका लग्ने भुक्ताः, तावन्त्येव वर्षाणि ददातीत्यर्थः । अपरे राशितुल्यं वदन्ति केचिद् राशितुल्यं लग्नस्य राशिगणित्वा-प्रमाणमायुषि वदन्ति । तथाच मणिन्यः—

“लग्नर्क्षतुल्य वर्षाणि मामाद्यमनुपाततः ।

लग्नायुर्दायमिच्छन्ति होराशास्त्रविश्वादाः ॥”

इति । पक्षद्वयोक्त्या “वलयोगात् फलमंशकर्क्षयोरिति” वलवशेन लग्नापुरानयनमित्युक्तं भवति । शत्रुक्षेत्रहरणमाह—यक्रं हित्वा रिपु-गृहगतः स्वत्रिभागः हीयते इत्यन्वयः । भौमं वर्जयित्वा शिष्टग्रहेः शत्रुक्षेत्रस्थितः स्वत्रिभागः स्वायुर्दायस्य त्रिभागः तृतीयोऽंशः हीयते इत्यर्थः । मूढहरणमाह—सूर्योच्छिन्नद्युतिषु च दलं हीयते इत्यन्वयः । शुक्रम् अर्कपुत्रं च प्रोज्झ्य वर्जयित्वा शिष्टेषु ग्रहेषु सूर्येणोच्छिन्न-

१. ‘रसि’ ग. २. ‘काय’ ग. ३. ‘तीति । ग्रहाणां’ ग. ग. घ. ङ.

\* ‘राशिमात्रेण वत्सराः ॥’ इति मुद्रितमारावलीपाठः ४. ‘यः । अर’ ल. ग. घ. ङ.

५. ‘निग । पक्ष’ ग. ग. घ. ङ. ६. ‘ननुक्तं’ क घ.

राशिमपु गत्सु स्वायुषः दन्तम् अर्धं हीयते इत्यर्थः । हित्वा वक्रमित्यत्र  
केचिदेवमिच्छन्ति । यथा — वक्रमंतं ग्रहं हित्वान्यः शत्रुक्षेत्रगत-  
स्त्रिभागमपहरतीति । एतदसत् । यस्माद् वादगायणः—

“भूम्याः पुत्रं वर्जयित्वा रिमस्या  
हन्त्युः स्वात् स्वात् स्वायुषस्ते त्रिभागम् ।  
अस्ते याताः सर्व एवार्धहानिं  
कुर्युर्हित्वा दैत्यपूज्यार्कपुत्रैः ॥”

इति ॥ २ ॥

इद्वार्धहरणं ऽवक्रयादेनाह —

सर्वार्धत्रिचरणपञ्चपष्ठभागाः  
क्षीयन्ते व्ययभवनादसत्सु वामम् ।  
सत्सर्वं हसति ततस्त्वयैकगाना-  
मेकौऽशं हरति बलीत्यथाह सत्यः ॥ ३ ॥

इति । असत्सु व्ययभवनाद् वामं सर्वार्धत्रिचरणपञ्चपष्ठभागाः  
क्षीयन्ते इत्यन्वयः । असद्ग्रहेषु क्रूरग्रहेषु व्ययभवनादागम्य वामं  
प्रतिभोमं स्थितेषु यथाक्रमम् उक्तभागाः क्षीयन्ते । अयमर्थः— पाप  
ग्रहे व्ययस्थे तस्यायुः सर्वं क्षीयते । एकादशमावस्थे आयुषोऽर्धं  
क्षीयते । दशममावस्थे तदायुषस्त्रिभागः क्षीयते । नवममावस्थे चतु-  
र्थऽंशः क्षीयते । अष्टमावस्थे पञ्चमांशः क्षीयते । सप्तमावस्थेऽपि  
इद्वार्धस्थे पष्ठांशः क्षीयते । भावान्तरालेषु तु त्रैराशियेन हरणं  
कतेष्वमित्ययोद्वन्द्वे भवति । तथाचोक्तं श्रौतनिना—

“लग्नं ग्रहोऽनं यदि पदगृहेभ्यो ह्येन तदानीं हरमम्भरः स्यात् ।”

\* म्यादायुष इति पाठः स्यात् । ऽवक्रयादेनाह प्रदर्शयति ।

१. 'इष्टे तदा' ना. रा. ह. य. २. 'वेत्त' . ३. 'योऽस्तः' ट ४. 'वेऽपि  
ह. य. ५. 'पुत्रै' क. ग. घ. ङ. ६. 'म' य.

इति । सत्सु ततः अर्धं हसति । सत्सु शुभग्रहेषु व्ययभवनात्  
प्रतिलोमं स्थितेषु ततः यथोक्ताद् अर्धं हीयते । शुभग्रहे व्ययस्ये  
तदापुषोऽर्धं नश्यति, लाभस्ये पादः, दशमे पादार्धमित्यादि द्रष्ट-  
व्यम् । एषु स्थानेषु ग्रहबहुत्वे विशेषमाह— अथ एकगानां बली  
एकः अंशं हरति इति सत्याचार्य आह इत्यन्वयः । एकत्र हरण-  
स्थाने स्थितानां ग्रहाणां मध्ये बलवानेक एवात्मनो यथोक्तमंशं  
हरति, नान्ये इति सत्याचार्यमतम् । तथाचोक्तम्—

“एकक्षोपगतानां यो भवति बलाधिको विशेषेण ।

क्षपयति यथोक्तमंशं स एव नान्योऽपि तत्रस्थः ॥”

इति । वराहमिहिरस्याप्येवं मतम् । इह सत्यमतोपन्यास आगमा-  
(संनु)सृतिप्रयोजनार्थमिति ॥ ३ ॥

क्रूरेदधहरणं यस्यस्तिलकेनाह—

सार्धोदितोदितनवांशहतात् समस्ताद्

भागोऽष्टयुक्तशतमङ्ख्य उपैति नाशम् ।

क्रूरे विलग्नसहिते विधिना त्वनेन

सौम्येक्षिते दलमतः प्रलयं प्रयाति ॥ ४ ॥

इति । क्रूरे विलग्नसहिते सार्धोदितोदितनवांशहतात् समस्ताद्  
अष्टयुक्तशतसंख्या भागः नाशमुपैति इत्यन्वयः । क्रूरे अकारसौरिणा-  
मन्यतमे विलग्नस्ये सति । सार्धोदितोदितनवांशहताद् अर्धोदितेन  
नवांशकेन सहितानां लग्नोदितनवांशानां सङ्ख्यया गुणितत् ,  
समस्तात् पृथक् पृथक् सलग्नानां सर्वेषां ग्रहाणाम् आनीतादायुर्दायाद् ।  
अष्टयुक्तशतसङ्ख्यः अष्टोचरशतेन द्वारकेण हत्वा लब्धो भागः पृथक्  
पृथक् सर्वेषामायुःपिण्डेषु नाशमुपैति । अत्र विशेषमाह — लग्न

सौम्येक्षिणे अनेन विधिना दलं प्रलयं प्रयाति । लग्नं सौम्यग्रह-  
दृष्टे सति क्रूरोदयहरणार्धमानीतस्य भागस्यार्धमेव प्रलयं प्रयातीत्यर्थः ।  
अत्र केचित् सार्धोदितोदितनवांशानां मेपादितो गणनमाचक्षते ।  
तत्पक्षे मीनराशौ पापमहिते मीनान्त्यजातस्य मद्योमरणमेव स्यात् ।  
तत्र जाताः केचन जीवन्तं ऽपि दृश्यन्ते । अपिच सार्धोदितोदित-  
नवांशशब्देन अस्तमितानामनुदितानां नवांशानां ग्रहणं च कर्तव्यं  
स्याद्, अतस्तदसदेव । अन्ये पुनः उदयलग्नं लिप्तीकृत्य ज्ञान-  
वीरेण हत्वा शिष्टात् ननस्रैः लब्धानां सार्धोदितानाम् अंशकानां  
सङ्ख्यया गुणयन्ति । अस्य हरणस्य क्रूरोदयजन्यत्वाद् उदय-  
लग्नोदितनवांशसङ्ख्यया सार्धोदितया गुणनमेव अत्र आचार्येण क्रूरे  
विलग्नसहिते सार्धोदितोदितनवांशद्वयाद् इत्युक्त्या दर्शितम् । एव-  
मानीतस्य यथोक्तहरणाशिष्टस्य

“वर्षं द्वादश मासास्त्रिंशद्विंशतिर्भावेत् स मासस्तु ।

षष्टिर्नाब्जो दिवसः षष्टिस्तु विनाडिका नाडी ॥”

इत्युक्तलक्षणस्य कालस्य सामनत्वात् सावनात्मकस्यायुःषिण्डस्य सौरी-  
करणं कर्तव्यम् । सौरपक्षे उत्तरायणदक्षिणायनद्वयात्मकेन खलु  
वत्सरेण लोकव्यवहारः । तथा पूर्वापरपक्षद्वयात्मकेन मासेन माम-  
व्यवहारः । तथा दिनरात्र्यात्मकेन सावनदिनेन लोके दिनव्यवहारः ।  
तथाचाक्तममरभिदेन —

“अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत् ताः कलाः ।

तास्तु त्रिंशद् क्षणस्ते तु मुहूर्तो द्वादशाश्रियाम् ॥

ते तु त्रिंशदहोरात्रः पक्षस्ते दश पञ्च च ।

पक्षो पूर्वापरौ शुक्रकृष्णौ मासस्तु तद्वर्मा ॥

द्वौ द्वौ मासादिमार्गौ स्यादुत्तरायनं त्रिभिः ।

अपने द्वे गतिरुदक्दक्षिणार्कस्य वत्सरः ॥”

१. 'धे.' प्रलयं क्षयन् । यत्र' घ. २ 'श्ले ग च' ३. 'क्षिणलो' घ. ग;  
'धेन २' ह. ४. 'कालव्य' द.



इति । अत्र दिवममासपत्तराणां मावनेचान्द्रमौराणां परस्परं भिन्न-  
त्वेऽपि अभेदेन लोकव्यवहारः प्रवर्तते । तस्मात् मावनेन निर्दिष्टस्य  
कालस्य दिवममासवर्षात्मकस्य लोकव्यवहाराय मौरीकरणं कर्तव्यम् ।  
सौरसावनान्तरं च पञ्च दिवसाः पञ्चदश घटिकाः एक-  
त्रिंशद् विघटिकाः पञ्चदश शुर्वक्षराणि च एकस्मिन् वत्सरे भवति ।  
मौरीकरणार्थं च ग्रहाणामायुर्दायं विन्यस्य तत्रस्थानि वर्षाणि द्वादशभि-  
र्गुणायित्वा मासैर्योजयेत् । मासांश्च त्रिंशता हत्वा दिनैर्योजयेत् ।  
ततः सावयवानि तान्यायुर्दायदिनानि तत्प्रमेन हत्वा धीजगन्नुपुरेण  
हरेत् । लब्धानि सौरवर्षाणि पुनर्द्वादशभिर्हत्वा तेनैव हारेण लब्धाः  
(भासाः, पुनस्त्रिंशता हत्वा तेनैव हारेण लब्धाः) सौरदिवसाश्च भवन्ति ।  
एवं सौरीकाणम् । एवं ग्रहाणां लग्नस्थायुःपिण्डेषु सौरीकृतेषु सं-  
योजितेषु जातस्य शिशोर्जीवितकालः विद्वो भवति ॥ ४ ॥

अथ पुत्रशास्त्रेण परमायुःप्रमाणनिर्देशार्थं त्रिस्रिणीमाह—

समाः षष्टिर्द्विमा मनुजकरिणां पञ्च च निशां

हयानां द्वात्रिंशत् सारकरभयोः पञ्चककृतिः ।

विरूपा मा त्वायुर्वृषमहिपयोर्द्वादश शुनां

स्मृतं छागादीनां दशकनहितः पट् च परमम् ॥ ५ ॥

इति । मनुजकरिणां द्विमाः षष्टिः समाः पञ्च निशाश्च  
परमायुः स्मृतमित्यन्वयः । मनुजानां करिणां च द्विमाः द्विगुणः  
षष्टिः विंशत्यधिक्यतः समाः वत्सगः पञ्च निशाश्च अहोरात्राः पर-  
मायुः स्मृतम् । छुनिभिगिति शेषः । हयानां द्वात्रिंशत् परमायुः ।  
गणकभयोः पञ्चककृतिः सारस्य करभस्य च पञ्चानां वर्गः पञ्चविंशति-  
रिति यावत् । वृषमहिपयोस्तु सा विरूपा परमायुः विरूपा एकोना  
पञ्चककृतिः चतुर्विंशतिरिति यावत् । शुनां द्वादश समाः परमायुः ।

१. 'ण हत्वा क ख छ २. 'व्याः सौरमासा, पुनर्थेयाकन्यायेन दिन  
गाल्पादयो भवन्ति । एवं घ ३. 'अ २' रा ग.

छागादीनां दशकमहिताः पट् च । छागादीनाम् आदिशब्देन मृगा-  
दयो गृह्यन्ते । दशकमहिताः पट् षोडश इति । मुनिभिः स्मृतम्  
इत्युक्त्या उक्तानां परमायुःसहस्रानां लग्नग्रहस्थितिवशान्निर्देश्यत्वं  
द्योत्यते । तस्माद् विंशत्युत्तरशतायुषः पुरुषस्य द्वादशायुषः शुनश्च  
आयुर्दायकरणं तुल्यं भवति । कथमिति चेत् पुरुषस्य आयुषि  
एकोनविंशतिः सूर्यस्याब्दाः । शुनस्त्वायुषि तस्य सूर्यस्य पट्त्रिंश-  
द्विसोनी द्वौ संवत्सरौ । एवमन्येषां ग्रहाणाम् अन्येषां तुरगादीनां च  
परमायुषि आयुर्दायप्रमाणं कल्पनीयम् । तद्वशात् तुरगादीनामपि  
दशाफलविपाकः यथाकालं यथामम्मवं वक्तव्यः । अत्र एककाल-  
प्रसूतानां नरतुरगखरवृषभशुनकच्छागादीनां जननलग्नग्रहस्थितिवशा-  
न्निर्देश्यस्यायुर्दायस्य जात्यनुसारेण नानाप्रमाणत्वमम्मवोक्त्या कारण-  
यलेनायुषो वृद्धिहानौ भवत इति व्यज्यते । अत्र समाः पट्टिरिति  
प्रथममुक्त्वा पश्चाद् द्विमेति विशेषणेन परमायुर्निर्देशात् केपुचिद् विषयेषु  
पट्टेरपि परमायुष्टेनैव ग्रहणम् आचार्यस्याभिप्रेतमिति द्योत्यते । तदर्थ-  
मेव पूर्वं ग्रहाणां चत्वरकथनेऽपि “नवतिथिविषयाश्चिभूतरुद्रा दशे”ति  
पृथग् ग्रहवत्सरेषु दशकमपहाय शेषस्य निर्देशः कृतः । अतोऽल्पायु-  
विषयविशेषेषु एवमल्पायुर्दायानयनं कर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ ५ ॥

परमायुर्वर्गलक्षणं पुष्पिताग्रयाह—

अनिमिपपरमांशके विलम्बे

शशितनये गवि पञ्चवर्गलिसे ।

भवति हि परमायुषः प्रमाणं

यदि सहिताः सकलाः स्वतुङ्गभेषु ॥ ६ ॥

इति । विलम्बे अनिमिपपरमांशके शशितनये गवि पञ्चवर्गलिसे  
सति सकलाः स्वतुङ्गभेषु सहिता यदि परमायुषः प्रमाणं भवति हि

१. 'ति' स्मृ' ; २. 'कथा प' छ ३. 'पायु क घ. च. ४. 'य प' घ.  
५. 'नाच' क. ६. 'शसहिता दशभिः स्वतुङ्गभेषु' इति श्रुतिनिर्देशाद् भ' छ.  
७. 'शमाह-' छ. ग.

इत्यन्वयः । अनिमिषो मीनः तस्य परमांशः अन्त्योऽंशः । बुधे वृषभराशौ पञ्चवर्गलिप्ते पञ्चानां वर्गः पञ्चवर्गः पञ्चविंशतिरिति यावत्, तत्रतीभि-  
लिप्ताभिः समन्विते सति । सकलाः बुधादन्ये सर्वे ग्रहाः ।  
स्वतुङ्गभेषु स्वस्वपरमोचराशिषु । सहिता यदि तदा परमायुषः प्रमाणं  
भवति । तद्यथा — भेषे परमोच्चस्थितस्य स्वरेकोनविंशतिर्वत्सराः ।  
परमोच्चस्थितस्य चन्द्रस्य पञ्चविंशतिः । परमोच्चस्थितस्य कुजस्य लाभ-  
स्थितत्वाद् दृष्ट्यार्धहरणसम्भवेनार्धहान्या सप्त संवत्सराः पण्मासाश्च ।  
बुधस्य परमनोचादिक्रान्तस्य सप्त संवत्सराः पण्मासाः पञ्च दिनानि  
च । गुरोः परमोच्चस्थस्य पञ्चदश वत्सराः । शुक्रस्य एकविंशतिः ।  
शनेः परमोच्चस्थस्य अष्टमगतत्वेन दृष्ट्यार्धहरणसम्भवात् पञ्चमांश-  
हान्या षोडश वत्सराः । लग्नस्य “होरा त्वशप्रतिममि”त्युक्त्या  
नव वत्सराश्च सम्भवन्ति । यथोक्तानां वर्षमासादिनानां विण्डी-  
करणे वत्सराणां विंशत्युत्तरशतं पञ्च दिनानि च यथोक्तं परमायुः  
प्रमाणं भवति । अस्य प्रमाणस्य त्रैराशिकेन तुरगादीनामपि यथोक्ते  
स्वस्मिन् परमायुषि ग्रहाणां लग्नस्य च वर्षमामदिनविभागो द्रष्टव्यः ॥६॥

‘ज्योतिषमागमशास्त्रे विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम् ।

स्वमेव विरुद्धापिक्तुं किन्तु बहूनां मतं वक्ष्ये ॥”

इत्यादिभिर्वचनैः प्रगटे प्रदर्शितारम्भापारो महात्मा वराहमिहिरः सम्यगविज्ञातहोरा-  
सम्प्रदायस्यानाम् वैज्ञातसम्प्रदायस्पर्शानां परवञ्चनिराकरणमाश्रयित्तानाम् उत्तान-  
पेततां वैगणिकानाम् । पातप्रतिभासमानदोषाभासप्रदर्शनपरं मतं यद्वरमागवत्या-  
चार्यमतप्रशंगतां दर्शयते श्लोकोऽयम् । तत्र प्रथमं श्लोकमिदम् —

आयुर्दायं विष्णुगुप्तोऽपि चैवं

देवस्त्वामी सिद्धसेनश्च चक्रे ।

दोषश्चैषां जायतेऽष्टावष्टिं

हित्वा नायुर्विंशतेः स्यादधस्तात् ॥ ७ ॥

इति । विष्णुगुप्तोऽपि एवमायुर्दायं चक्रे, देवस्वामी च एवं चक्रे, मिद्धमेनाश्च एवं चक्रे इत्यन्वयः । विष्णुगुप्तश्चाणक्यः । न केवलं मयपत्रनमणिन्वपराशरा एवमायुर्दायं चक्रुः, चाणक्यदेव-स्वामिमिद्धमेनाश्च एवंमायुर्दायं कृतवन्त इत्यर्थः । मयादीनामेतेषाम् आचार्याणां दोषो जायते च । को दोष इति चेत्, अविमृश्य-कारित्वमिति सिद्ध्यति वक्ष्यमाणेन । तथाहि— अरिष्टमष्टौ हित्वा विंशतेरधस्तादायुर्न स्यात् इति सम्बन्धः । “शुभैरथ समाष्टकमि”-त्युक्तनक्षत्रन्यारिष्टस्य कालमष्टर्पात्मकं वर्जयित्वा विंशतिवर्षस्याध-स्तादायुर्जीवितकालः (न स्यात्) । तदवधिभवं मरणमिति यावत् । जातस्य वर्षाष्टकस्याधो न्यारिष्टयोगेन मरणं सम्भवति । वर्षाष्टका-दूर्ध्वं विंशतेरधस्ताद् द्वादशसु वर्षेषु मयायुक्तायुर्दायमार्गेण दशा-यमानाभावात् मरणं न सम्भवेत् । तेष्वपि वर्षेषु मरणं दृश्यते च । तस्मादेषां मयादीनाम् अविमृश्यकारितालक्षणे दोषः सञ्जायते इत्यर्थः [ ॥ ७ ॥

पुनरपि तेषामाचार्याणामायुर्द्वेषणार्थं शान्तिम्बु इ—

यस्मिन् योगे पूर्णमायुः प्रदिष्टं

तस्मिन् प्रोक्तं चक्रवर्तित्वमन्यत् ।

प्रत्यक्षोऽयं तेषु दोषोऽथरोऽपि

जीवन्त्यायुः पूर्णमर्थैर्विनापि ॥ ८ ॥

इति । यस्मिन् योगे पूर्णमायुः प्रदिष्टं तस्मिन् अन्यचक्रवर्तित्वं प्रोक्तम् इत्यन्वयः । “अनिमिषपरमशक्र” इत्यादिना प्रोक्ते पूर्णं

परमायुरूपदिष्टम् । तत्रैव योगे अन्यचक्रवर्तित्वं च निर्दिष्टम् । बुधं  
विना पद्भिर्ग्रहैः स्वतुङ्गस्थितैः परमायुरूपदिष्टम् । तथाचोक्तं—

“सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः ।

एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्ते स्वोच्चगैः परं दिव्याः ॥”

इति । तस्मात् परमायुर्योगे चक्रवर्तित्वं च मग्भाव्यमिति मयादीनां  
मतमित्युक्तं भवति । तेष्वयमपरोऽपि प्रत्यक्षो दोषः । तेषु मयादिषु  
अयं वक्ष्यमाणोऽपरोऽपि प्रत्यक्षो दोषः अविमृश्यकारितालक्षणो भवति ।  
अथैर्विनापि पूर्णमायुर्जीवन्ति । परमायुर्जीवनं दृश्यते येषां, ते अथै-  
र्विनाभूताः दरिद्राश्च दृश्यन्ते । तस्मादेवमायुर्लक्षणे वा चक्रवर्तित्व-  
लक्षणे वा द्वयोरेकत्राविमृश्यकारितालक्षणो दोषः प्रत्यक्षो जायत  
इत्यर्थः । इति विमलतरतपश्चरणपश्चात्कृतसकलजनैः करतलारालम्ब-  
वदुपलभ्यमानसकलभुवनान्तर्धानमस्तुवृत्तान्तनितान्तमहनीयमहिमभिः  
मयासुरपराशरादिभिर्दिव्यैरतिविचित्रकीर्त्तिपवित्रीकृतभुवनत्रितयैश्च विप-  
श्चिद्भिः चाणक्यमणिन्ययवनेश्वरातिद्धमेनादिभिरपि जगदनुग्रहाय महा-  
कारुणिकैरुपदिष्टेषु होराशास्त्रेषु स्वयमविज्ञातचिरायुरल्पायुर्विषयसम्प्रदाय-  
धायैरविज्ञातगुरुकुलावासपरिश्रमैः

“शिष्यस्य बुद्धिमान्धादाचार्यस्योपदेशमवरणात् ।

परिगुपितसम्प्रदायान्यहह परे दूषयन्ति शास्त्राणि ॥”

इत्यादिपूहिष्टनिग्धमानिलक्षणग्रथमोदाहरणभूतैः यः कैश्चिदुत्तान-  
बुद्धिभिरुद्योषितमुत्थापिततात्मदूषणौमेदं दूषणद्वयमाचार्येण वराहमिहि-  
रेण तावद् ईदृशमनधिगतपरमार्थं गतानुगतिकं लोकवृत्तं प्रकाश-  
यितुमत्रायुर्दायप्रकरणे प्रदर्शितम् । तथाहि—आयुर्दायस्य चक्रवर्ति-  
योगस्य च परमायुर्गलक्षण एव केवलमेकैकीभूतस्य तत्कालात् पूर्वा-  
परकालेषु भिन्नस्वरूपतया पूर्णायुर्जीवनस्य दारिद्र्ययोगस्य च सम्भ-  
वात् तद्दूषणं न घटते । परमायुर्योगोक्तग्रहाणामुच्चासन्नराशिर्गतानामपि

आयुर्दायानयने स्वल्पमेवान्तरं भवति । चक्रवर्तियोगस्य पुनरभाव  
एव, केमद्रुमाद्यनियोगसम्भवश्च स्यात् । शताधिकवर्षजीवनदर्शनेऽपि  
पूर्णापुर्जोवनस्य लोकव्यवहारसिद्धत्वात् पूर्णापुर्जोवनमर्थविनाभावश्च  
युगपत् सम्मनतीति नैतद् दूषणं दूषणत्वेनाचार्यम्याभिमतम् ।  
किन्तु— एवं दूषणमदूषणविषयेऽपि वदति । लोके देवविद्धिर्यथावद्  
विमृश्यैव लक्षणं वक्तव्यमिति शिष्यान् बोधयितुमेव प्रदर्शितम् ॥ ८ ॥

अथ जीवशर्ममतेन सत्याचार्यमतेन आयुर्दायमापच्छन्दसिकेनाह—

स्वमतेन किलाह जीवशर्मा

ग्रहदायं परमायुषः स्वरांशम् ।

ग्रहभुक्तनवांशराशितुल्यं

बहुसाम्यं समुपैति सत्यवाक्यम् ॥ ९ ॥

इति । जीवशर्मा स्वमतेन परमायुषः स्वरांशं ग्रहदायम् आह  
इत्यन्वयः । जीवशर्मा नामाचार्यः स्वमतेन आत्मोत्प्रेक्षया परमा-  
युषः स्वरांशं यच्चदिनोत्तरविंशत्याधिकशतवर्षप्रमाणस्य सप्तभिर्विभज्य  
लब्धम् अंशं दिनसप्तांशमद्वितद्वाविंशतिदिवसाधिकैकमाशान्वितसप्तदश-  
वर्षप्रमाणकं ग्रहदायं ग्रहाणामायुर्दायमाह सर्वेषां तुल्यप्रमाणं निर्दिष्ट-  
वान् । अत्र जीवशर्ममतेऽपि पूर्वोक्तानि हरणानि यथोक्तं कर्त-  
व्यानि । ग्रहाणां वत्तरप्रमाण एव निशेष इत्याचार्येण तदेव दर्शितम् ।  
सत्याचार्यप्रशंसापूर्वकम् अंशकायुर्दायमाह— ग्रहभुक्तनवांशराशि ल्यं  
सत्यवाक्यं बहुसाम्यं समुपैतात्यन्वयः । ग्रहभुक्तैर्ग्रहेर्भुक्तैः नवांश-  
राशिभिस्तुल्यम् । राशिश्चन्द्रेण नवांशकानां मेपादितो गणना द्योत्यते ।  
तस्मादियमत्र प्रक्रिया— ग्रहस्फुटानि विन्यस्य लिप्तीकृत्य द्वादश-  
नवांशल्लिप्ताप्रमाणेन ज्ञानवीरेण हत्वा शिष्टा लिप्ताः नवांशप्रमाणेन  
द्विशत्या हत्वा लब्धा ग्रहायुर्दायवत्तरा भवन्ति । शेषं द्वादशभिः

गुणयित्वा द्विशतैव हत्वा लब्धाः मामाः । शिष्टं पुनस्त्रिशता हत्वा<sup>१</sup>  
 द्विशत्या हत्वा लब्धा दिवसा भवन्ति । शिष्टं षष्ट्या हत्वा लब्धा<sup>\*</sup>  
 नाडिका भवन्ति । एवं लब्ध वर्षमासदिननाडिकात्मकं ग्रहाणामायुः  
 ग्रहभुक्तनवांशराशितुल्यमित्युक्तम् । एवं सत्याचार्यस्य वाक्यं बहु-  
 साम्यं समुपैति । बहुसाम्यं बहुभिरुदाहरणत्वेनालोचितेषु जातकेषु  
 दृष्टैर्जीवितकालैः साम्यं समुपैति । अथवा - बहुसाम्यं बहुभिराचार्य-  
 मतैः साम्यं समुपैति इति सत्यवाक्यमादरणीयमित्यर्थः । अत्र  
 मययवनाद्युक्ते आयुर्दाये देवाभासप्रदर्शनेन तन्निराकरणानुत्तया च  
 जीवशर्ममते स्वमतत्वनान्नामान्यसूचनाच्च सत्याचार्यमतस्य बहुसाम्य-  
 सम्भवोक्त्या च वराहमिहिराचार्यस्य साक्षादभिप्रेतं सत्याचार्यमत-  
 मित्यवगम्यते ॥ ९ ॥

तत्र विशेषं वंशस्थेनाह—

स्वतुङ्गवक्रोपगतैस्त्रिसङ्गुणं

द्विरुत्तमस्वांशगृहत्रिभागगैः ।

इयान् विशेषस्तु भदन्तभाषिते

समानमन्यत् प्रथमेऽप्युदीरितम् ॥ १० ॥

इति । ग्रहभुक्तनवांशराशितुल्यं ग्रहायुः स्वतुङ्गवक्रोपगतैः  
 त्रिसङ्गुणं भवति । स्वोच्चैर्वक्रांगामिमिथ्य ग्रहैः त्रिसङ्गुणं कार्यम् ।  
 तथा उत्तमस्वांशगृहत्रिभागगैर्द्विगुणितम् । कार्यमिति शेषः । उत्तम-  
 स्वांशगृहत्रिभागगैः वर्गोत्तमगतैः स्वनवांशगतैः स्वक्षेत्रगतैः स्वद्रेकाण-  
 गतैश्च ग्रहैः स्वकीयमंशकार्यद्विगुणं कार्यमित्यर्थः । भदन्तभाषिते  
 इयांस्तु विशेषः । भदन्तः सत्यः । मत्पवाक्ये अंशकायुषि इयान्

१. 'स्या ह' क. २. 'साः । पु' ; ३. 'स्या ह' घ. ४. 'ति इति । मत्' घ,  
 'ति यदुभि' घ. ५. 'यमाह—' ख. ग. घ. च. ६. 'जिवा' ख. ग. ७. 'जमित्यर्थः ।' घ.

\* 'दिनात्या दत्ते ति शेषः ।

उच्चक्राभ्यां त्रिगुणीकरणम् उच्चनादिचतुष्के द्विगुणीकरणमित्येतावान्  
विशेषः । प्रथमे उदीरितमन्यत् समानमपि भवतीति शेषः । प्रथमे  
मयपवनादिमते उदीरितमन्यन्त्रीचमूडादिहरणमिति यावत् । तत् समा-  
नमपि । अत्रांशकायुष्यपि कर्तव्यमित्यर्थः । 'विशेषणमात्रप्रयोगे विशेष्य-  
प्रतिपत्तिरिति' न्यायात् त्रिसहस्रगुणमिति विशेषणेन पूर्वप्रस्तुतं ग्रह-  
भुक्तनवांशराशितुल्यमंशकायुरिति विशेष्यमन्वाध्याहार्यम् ॥ १० ॥

पुनरप्यंशकायुषि विशेषमिन्द्रवज्राद—

किन्त्वत्र भांशप्रतिमं ददाति

वीर्यान्विता राशिसमं च होरा ।

क्रूरे दये योऽपचयः स नात्र

कार्यं च नाब्दैः प्रथमोपदिष्टैः ॥ ११ ॥

इति । किन्तु अत्रायं विशेष इत्यर्थः । अत्र होरा भांश-  
प्रतिममायुर्ददाति, वीर्यान्विता राशिसमं च ददातीत्यन्वयः । अत्रां-  
शकायुषि होरा लघं भांशप्रतिमं नवांशतुल्यमायुर्ददाति । पूर्वोक्त-  
ग्रहदशानयनपल्लवस्य दशानयनं कार्यमित्यर्थः । होरा वीर्यान्विता  
“होरा स्वामिगुरुज्ञे”त्याद्युक्तलक्षणवीर्यान्विता चेत् केवलं भांश ति-  
मेव न, राशिमेव च आयुर्ददाति । वीर्यहीना चेद् भांशप्रतिममेव  
ददाति, वीर्यवती चेद् भांशसमं राशिमेव च आयुरेकीकृत्य ददाती-  
त्यर्थः । क्रूरोदये योऽपचयः सोऽत्र न कार्यः । क्रूरस्वोदये मति  
योऽपचयो मयपदिष्टे निर्दिष्टः, सोऽत्रांशकायुषि न कर्तव्यः ।  
तथा प्रथमोपदिष्टैरब्दैश्च न कार्यम् । प्रथमोपदिष्टैः ‘नत्रतिथी’त्या-  
द्युक्तैः परमायुस्स्वरांशकत्वेनोक्तैश्च वत्सरैरत्रांशकायुषि न कार्यं न  
किञ्चित् कर्तव्यमस्ति ॥ ११ ॥



पुनरप्यत्र सम्प्रदायविशेषमिन्द्रवज्रयाह—

सत्योपदेशः प्रवरोऽत्र किन्तु

कुर्वन्त्ययोग्यं बहुवर्गणाभिः ।

आचार्यकं त्वत्र बहुमताया-

मेकं तु यद् भूरि तदेव कार्यम् ॥ १२ ॥

इति । सत्योपदेशः प्रवरः । अत्रोक्ते पिण्डायुषि मयादि मते जीवशर्ममते सत्यमते च त्रिष्वप्यायुर्दायेषु सत्योपदेशः प्रवरः सत्याचार्योपदेशः श्रेयान् । किन्तु अत्र बहुवर्गणाभिरयोग्यं कुर्वन्ति । बहुवर्गणाभिः बह्वोर्भिर्वर्गणाभिः गुणनक्रियाभिरयोग्यमनुचितं कुर्वन्ति, सम्प्रदायविकला इति शेषः । यथा— परमोद्ये वक्रै<sup>१</sup> स्थितस्य शुक्रस्य मीनांशकत्वाद् द्वादश वत्सराः वर्गोत्तमत्वाद् द्विगुणिताश्चतुर्विंशतिः सम्भवन्ति । वक्रगत्या त्रिगुणिताः पुनर्द्वामप्ततिः । पुनरुच्चस्थित्या त्रिगुणिताः षोडशाधिकं शतद्वयं शुक्रस्यैव आयुर्दाय इति । इत्येवं बह्वोर्भिर्वर्गणाभिः सम्प्रदायवैकल्यात् केचिदनुचितमाचरन्तीत्यर्थः । अत्राचार्यकं तु, आचार्यकं सम्प्रदायः । अत्र गुणकरणे एवं सम्प्रदायः । बहुमतायां तु एकं भूरि यत् तदेव कार्यमित्यन्वयः । बहुमतायां बहुगुणकारप्राप्तौ । गुणकारविषयाः पट् । तत्र द्वैगुण्यविषयेषु चतुर्ष्वपि प्राप्तेष्वेकमेव द्वैगुण्यं कर्तव्यम् । त्रैगुण्यविषययोर्द्वयोरपि सम्भवे एकमेव त्रैगुण्यं कर्तव्यम् । द्वैगुण्यस्य च त्रैगुण्यस्य च सम्भवे भूरित्वादेकं त्रैगुण्यमेव कर्तव्यमित्यत्र सम्प्रदायः । एवमत्रांशकायुर्दाये सम्प्रदाय-वैकल्यसम्भवमनौचित्यजनितं दोषं दर्शयित्वा तत्परिहाराय सम्प्रदाय-स्वरूपनिर्देशादत्र शास्त्रे तत्र तत्र सम्प्रदायमार्गेण सूचितस्य गूढार्थस्य सत्ता शृङ्गग्राहिकया प्रदर्शिता । तत्र यद्यप्याचार्येणांशायुः परम-मुक्तम्, तथापि (यदा) लग्नं सम्यक् चलीभवति तदांशायुः कर्तव्यम् ।

१. 'पमाह—' ख. ग. घ. च. २ 'क' घ. च. ३. 'त्वा च त्रि ग. घ. च.

४ 'ता ॥ १२ ॥' ख. ग. घ. च.

तथाको वलश्च भवति तदा पिण्डायुः कर्तव्यम् । तथाच सारा-  
वल्याम्— “अंशोद्भवं तिलमात् पिण्ड भानोरिति । यदांशायुःपिण्डा-  
युपी द्वे अरि कार्ये तदा द्वाभ्यामपि दशान्तर्दशाशककल्पना कार्या  
इति ॥ १२ ॥

अमितायुर्लक्षणं पुदिताप्रवाद—

गुरुशशिसहिते कुलीरलग्ने

शशितनये भृगुजे च केन्द्रयाते ।

भवरिपुमहजोऽर्गैश्च शेषै-

रमितमिहायुरनुक्रमाद् विना स्यात् ॥ १३ ॥

इति । इह कुलीरलग्ने गुरुशशिसहिते सति शशितनये भृगुजे  
केन्द्रयाते च शेषैः भवरिपुमहजोऽर्गैश्च अनुक्रमाद्विना अमितमायुः  
स्वादित्यन्वयः । इह जीवलोके कर्कटके लग्ने गुरुशशिम्यां सहिते  
शुभे शुके च केन्द्रस्थिते सति शेषैर्ककुजशनिभिः लाभशत्रुसहज-  
स्थानगतैः जातस्य अनुक्रमाद्विना आयुर्दायानयनक्रमं विना अमितम्  
अपरिच्छिन्नमायुर्भवति । अयमर्थः— एवंविधयोगं दृष्ट्वायुर्दायगणना  
न कर्तव्या । यस्मात् तस्य न सबदति ॥ १३ ॥

इति होराविवरणं सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

अथ सप्तमाध्यायोक्तक्रमान्ते महलगायुषोऽर्गैश्च जननमरणयोरन्तराष्टमद-  
जीवितकाले दशाफलानि गोचरफलानि योगफलानि च महस्त्रिदिवशाद् यथाभ्यानि ।  
कस्य कदा कीदृशमिति कालं विमज्य निर्देष्टुं प्रथमं जीवितकालं त्रिधा विभक्तुं  
मालिनीमाह—

उदयरविशशाङ्कप्राणिकेन्द्रादिसंस्थाः

प्रथमवयसि मध्येऽन्त्ये च दद्युः फलानि ।

१. ‘जमाह—’ , २. ‘ति ॥ १३ ॥’ छ ग. ३. ‘जे आयुर्दायः स’ क.

नहि न फलविपाकः केन्द्रसंस्थाद्यभावे

भवति हि फलपक्तिः पूर्वमापोह्निमेऽपि ॥ १ ॥

इति । उदयरविशशाङ्कप्राणिकेन्द्रादिसंस्थाः ग्रहाः क्रमेण प्रथम-  
वयसि मध्ये अन्त्ये च फलानि दद्युरित्यन्वयः । उदयश्च रविश्च  
शशाङ्कश्च उदयरविशशाङ्का इति द्वन्द्वममासन जातकनिरूपणे त्रयाणां  
साम्यं दर्शितम् । वक्ष्यति च — “भेन्द्रर्कास्पदपतिगांशनाथवृत्त्ये”ति ।  
त्रिभिरपि निरूपणे तुल्यं केन कर्तव्यमिति शङ्कायामाह — उदय-  
रविशशाङ्कप्राणीति । प्राणी बलवान् । उदयरविशशाङ्केषु प्राणी यः,  
तस्य केन्द्रादिसंस्थाः, उदयरविशशाङ्केषु बलयुक्तस्य केन्द्रपणपरापो-  
ह्निमस्या इत्यर्थः । केन्द्रस्थाः प्रथमवयसि, पणपरस्था मध्यवयसि,  
आपोह्निमस्था अन्त्यवयसि, च फलानि कुर्वन्ति । केन्द्रस्थानां दशा-  
पाकः प्रथमं, पणपरस्थानां वयसो मध्यत्रिभागे, आपोह्निमस्थाना-  
मन्त्यात्रिभागे च दशाकाल इत्युक्तं भवति । केन्द्रपणपरापोह्निमेषु  
एकत्र द्वयोर्वा ग्रहाभावे कथं वक्तव्यमित्याशङ्कयामाह — केन्द्रसंस्था-  
द्यभावे फलविपाकः नहि न । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सूचयत इति  
न्यायेन केन्द्रसंस्थाद्यभावेऽपि फलविपाकोऽस्त्येवेत्यर्थः । कथमिति  
चेदत्राह — आपोह्निमेऽपि पूर्वं फलपक्तिर्भवति हि । केन्द्र-पणपर-  
ग्रहाभावे आपोह्निमस्थानां फलपक्तिः पूर्वं भवति<sup>१</sup> । अर्थादेव केन्द्रस्था-  
भावे पणपरस्थस्य फलं पूर्वमित्युक्तं भवति । तथाच स्वलाजातके —

“लघार्कशशाङ्कानां यो बलवान्स्तदशा भवेत् प्रथमा ।

तत्केन्द्रपणपरापोह्निमगानां बलवशाच्छेषाः ॥”

इति ॥ १ ॥

अथ केन्द्रादिषु ग्रहबहुत्वे कथं वक्तव्यमित्याशङ्क्यैव दशकमज्ञानार्थमिन्द्र-  
वज्रयाह —

आयुः कृतं येन हि यत्तदेव

कल्प्या दशा सा प्रबलस्य पूर्वा ।

१. ‘यः’ । उदयरविशशाङ्कप्राणिकेन्द्रादिसंस्थाः । २. ‘ति ॥ १ ॥ घ. क. च  
३. ‘यामाह — ’ ख. ग. घ. क. च.

साम्ये बहूनां बहुवर्षदस्य

तेषां च साम्ये प्रथमोदितस्य ॥ २ ॥

इति । येन हि यदायुः कृतं तदेव दशा कल्प्या इत्यन्वयः ।  
येन ग्रहेण लग्नेन वा कृतं जनितगायुः सप्तमाध्यायोक्तप्रक्रियया आनीत-  
मायुर्यत् तदेव तस्य ग्रहस्य लग्नस्य वा दशा कल्प्या । सा दशा  
पूर्वा प्रचलस्य । केन्द्रस्थानां पणपरस्थानामापोह्निमस्थानां वा एकत्र  
स्थितानां बहुत्वे सति तेषां मध्ये यो बलवान्, तस्य पूर्वा प्रथमा ।  
पुनरप्येवं बलक्रमेण दशाक्रमः । तेषां बलसाम्ये सति कथमित्य-  
त्राह— बहूनां साम्ये बहुवर्षदस्य । दशाक्रमस्य बलसाम्येन बल-  
वशान्निर्गतेषु मशम्यत्वे सति बहुवर्षदस्य बह्वायुर्वत्नरप्रदस्य प्रथमा  
दशा । एवं वत्सरधिक्यवशाद् दशाक्रमः । वत्सरसाम्ये कथ-  
मित्यत्राह— तेषां साम्ये च प्रथमोदितस्य । यस्य ग्रहस्य मौढ्या-  
नन्तरोदयः प्रथमं जातिः, तस्य दशा प्रथमा । मौढ्यानन्तरोदयस्य  
प्राथम्यम् आदित्याद् विप्रकर्षाधिक्ये सति सम्भवति । ततस्तद्वशाद्  
दशाक्रमनिर्णय इत्यर्थः । तथाच गार्गिः—

“बली लग्नेन्दुसूर्याणां दशमाद्यां प्रयच्छति ।

तस्मात् ततः प्रयच्छन्ति केन्द्रादिस्थाः क्रमेण ते ॥

अत्रापि बलिनः पूर्वं तत्साम्ये बहुदायदाः ।

तत्साम्येऽपि प्रयच्छन्ति ये पूर्वं रविविच्युताः ॥”

इति । अत्र तु ग्रहस्य आदित्याद् विप्रकर्षाधिक्ये नत्यपि अन्यस्य  
बह्वायुर्वर्षदातृत्वमस्ति चेत्, तस्यैव दशा प्रथमा । तथा बह्वायुर्वर्ष-  
दातृत्व नत्यपि अन्यस्य बलाधिक्यमस्ति चेद् बलाधिकस्यैव दशा  
प्रथमेत्यनुसन्धेयम् । एवमत्र फलकवनं प्रति दशानां कालविभाग  
उक्तः । “स्वां स्वां दशाणुपगताः स्वफलप्रदाः स्युः” इति वक्ष्यमाण-

फलनिर्देशं प्रति स्वस्वदशाकालज्ञानोपायस्तावदत्र दर्शितः । फल-  
निर्देशकाले वक्ता श्रोता तटस्थश्च सम्भवति । ततो वक्तरि श्रोतरि  
तटस्थे च यानि तात्कालिकलक्षणानि सहमा दृश्यन्ते, तान्यपि  
सम्पगवधार्य फलनिर्देशः कर्तव्य इति तत्प्रकारसूचनमप्यत्र श्लोके  
परमकारुणिकेनाचार्येण कृतं वेदितव्यम् । तद्यथा—“आयुः कृतं येन  
हि यत्तदेव” इति । येन हि यत् कृतं तदेव आयुरिति योजना ।  
येन वक्ता श्रोत्रा तटस्थेन वा यत् कृतं करणेन निर्वर्तितं ज्ञेयज्ञानं  
तदेव आयुः ।

“पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चादलक्षणमादिशत् ”

इत्यादिभेदवचनैरायुषः प्राधान्यकथनाद् आयुरित्युक्तम् । तद् उपलक्षण-  
मेवान्येषां विवाहसन्ततिभोगविशेषाणामपि जिज्ञासितानां सर्वेषाम् ।  
तत्प्रकारप्रदर्शनं च शिष्यहिताय किञ्चित् क्रियते—

“पापण्डाश्रमवर्णानां सवर्णाः कर्मसिद्धये ।

त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥”

अस्यार्थः— पापण्डा आश्रमा वर्णाश्च पापण्डाश्रमवर्णाः । पापण्डा  
वेदवाण्याः । आश्रमाः ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थसन्न्यासिनः । वर्णाः  
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः । एषां सवर्णाः समानवर्णाः । पापण्डानां  
पापण्डाः समानवर्णाः । ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारी, गृहस्थस्य गृहस्थः,  
वानप्रस्थस्य वानप्रस्थः, सन्न्यासिनः सन्न्यासी, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणः,  
क्षत्रियस्य क्षत्रियः, वैश्यस्य वैश्यः, शूद्रस्य शूद्रः सवर्णः । एत-  
दुपलक्षणं चण्डालस्य चण्डाल इत्यादीनामपि । सर्वेषां सवर्णा एव  
शुभसूचकाः । त एव विपरीताः विपरीतवर्णाश्चेशुभसूचकाः पापण्डानां  
माश्रमिण आश्रमिणां पापण्डा इत्यादि द्रष्टव्यम् । एष प्रकारो  
दृष्ट्ये शकुनेऽपि चिन्तनीयः । वक्तृगतः प्रष्टृगतश्चावस्थाविशेषः शुभ-  
मशुभं वा सूचयति । तत्र प्रष्टृगतो यथा—“अज्ञानचिन्तावचन”  
इत्यादि । वक्तृगतंश्च यथा—

“जुह्वाने पावकं पिण्डान् भित्म्यो निर्वपत्यपि ।”

इत्यादि । तटस्थगतानि लक्षणान्यपि कन्विष्यै योज्यानि ।

“प्रशस्तं पुष्पसामान्यं श्राद्धपुष्पं विनायुपि ।

प्रशस्तं वस्त्रसामान्यं नववस्त्रं विनायुपि ॥”

इत्यादिलक्षणानि प्रेक्ष्यप्रत्यक्तटस्थगतानि जिज्ञासितवस्तूनामुपरादौ याजयितव्यानि । सा दग्ना कल्प्या पृच्छाकथनसमये दैवज्ञेन । आत्मनि पृच्छके वा तटस्थे वा यल्लक्षणं यदा दृष्टं तल्लक्षणं फलानुभवकालेऽपि । तत्र दृष्ट एव प्रकारः, अथवा तदौपम्ययुक्तोऽवस्थाप्रकारो निर्देशः । दैवज्ञस्य बहूनां सान्नेवी चिन्तलक्षणप्रदर्शने सर्वेषामपि जिज्ञासायां सत्यां कस्य कथं तत्फलं वक्तव्यमित्यत्राह— प्रथमस्य पूर्वा इति । तेषां जिज्ञासूनां मध्ये यः प्रथमः, अन्ये यं प्रति प्रथमा भवन्ति स प्रथमः, तस्य पूर्व फलानुभूतिः । जिज्ञासूनां प्रावच्यसाम्ये सति कथमित्यत्राह— साम्ये बहूनां बहुवर्षदस्येति । तेषां मध्ये वयोधिकस्य फलानुभूतिः । बलेन वयसा च साम्ये कथमित्यत्राह— तेषां च साम्ये प्रथमोदितस्य इति । तेषां वयोधिकानां साम्ये प्रथम दितस्य प्रथमं तत्र प्रदेशे प्रप्तस्य इत्यर्थः । तथाचाचार्येण महायात्रायामुक्तम्—

“अपृच्छतः पृच्छतो वा जिज्ञागोर्धस्य कस्यचित् ।

होराङ्गेन्द्रत्रिकोणेभ्यस्तत्र वक्तुः शुभाशुभम् ॥”

इति । अत्र च “मक्ष्याहनाकाररुतैश्च चिन्त्यम्” इति वक्ष्यति । तस्मात् तत्काललक्षणानि सम्यगवधार्य दैवज्ञेन जिज्ञासूनां प्रति शुभाशुभं वक्तव्यम् इत्यभिप्रायः स्पष्टः तत्प्रदर्शनमत्रापि कृतमिति द्रष्टव्यम् ॥२॥

दशासु कालत्रिकोणनिर्णयार्थमन्तर्दशानयनं वसन्तातिरकेनाह—

एकैर्क्षगोऽर्धमपहृत्य ददाति तु स्वं

त्र्यंशं त्रिकोणगृहगः स्मरगः स्वरांशम् ।

पहारिणो भागा एकविंशतिः । एषां भागानामधःस्थितः श्लेढाश्च पृथक् चतुरशीतिसङ्ख्यास्तुल्याः स्युः । तैः कार्याभावाच्चेदानपहाय पञ्चसु स्थानेषु स्थिता भागा एवात्र गृह्यन्ते । अत उक्तमधःश्लेदविवर्जितानीति । उत्तरार्धेन प्रदर्शितैरेभिर्भागैरन्तर्दशानयनत्रैराशिकं प्रति गुणकारभाग-  
हारमाह — दशाब्दपिण्डे यथांशं गुणना तदैक्येन छेदः एभिर्दशा-  
प्रमेदो भवति इति सम्बन्धः । यथांशं गुणना इति यस्यान्तर्दशा आनोयते, तस्योक्ता अंशान्तर गुणकारैः । अन्तर्दशापहारिणौ यथा-  
सम्भवं स्वस्वस्थानगता अंशौ गुणकारा इत्यर्थः । तदैक्येन तेषां गुण-  
कारत्वेनोक्तानामंशानामैक्येन । पिण्डीकृतैश्चतुरशीत्याद्युक्तभागैरित्यर्थः ।  
तेषु पिण्डीकृतेषु अक्षरमङ्ख्यया सौन्दर्यमिति भवति, स भाग-  
हारः । दशाधिपस्य दशाब्दपिण्डमपहर्तृणां यथाक्रममुक्तैरक्षरमङ्ख्यया  
वेदरविहरिप्रियपुत्रमङ्ख्यैः स्त्रैः स्वैरंशगुणयित्वा तदैक्येन अक्षर-  
मङ्ख्यया सौन्दर्येण विभजेत् । लब्धं स्वस्वदशाप्रमेदा भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ दशान्तर्दशाकाशविशेषानुगता तत्र वक्तव्यानां शुभाशुभानां फलानां पुष्ट-

१. 'मध्यलघुतायसोऽथ दशानामन्वर्थान् संज्ञाविशेषान् (वैतालीयेऽभोपचन्द्रादिके)नाह —

• सम्यग्वलिनः स्वतुङ्गभागे

सम्पूर्णा बलवर्जितस्य रिक्ता ।

• नीचांशगतस्य शत्रुभागे

ज्ञेयानिष्टफला दशा प्रसूतौ ॥ ५ ॥

इति । सम्यग्वलिनः दशा सम्पूर्णा इत्यन्वयः । स्थानदिक्काल

१. 'नां छेदाः अधः स्थि' छ. २. 'रा. । अ' ग. ; 'राः इत्यर्थः । त' च. ३. 'णः' ;

४. 'शका गु' छ. ५. 'न्ति ॥

सम्पूर्णादावथो रिक्ता ततोऽनिष्टफला स्मृता ।

तथावरोहिणी मध्या स्वारं हिष्यधमा तथा ॥

ततो मिश्रफला चेति दशाष्टविधा स्मृता ॥ ४ ॥' ख. ग.

६. 'पूर्णमध्य' छ. ७. 'पानाह—' ख. ग. घ. छ. च.

चेष्टावलमहितस्य दशा सम्पूर्णमंज्ञा स्यात् । स्वतुङ्गभागे दशापि सम्पूर्णा । निजपरमोच्चांशस्थितस्य दशापि सम्पूर्णा । तुङ्गचलस्य स्थानवलान्तर्भावेऽपि 'गोवलीवर्द'न्यायेन पृथगुपादानात् फलदानं प्रति वैशिष्ट्यं प्रदर्शितम् । अर्थादेव किञ्चिन्न्यूनत्वस्य उचराशितस्य च दशा पूर्णासंज्ञेत्युक्तं भवति । वरुभर्जितस्य दशा रिक्ता भवति । नीचाशितस्य च दशा रिक्तासंज्ञेत्यर्थः । शत्रुभागे दशा अनिष्टफला ज्ञेया । प्रसूतापिति सर्वत्र योज्यम् । जननकालग्रहस्थितिवशादेव दशान्त-  
र्दशयोः सम्पूर्णादिसंज्ञावलप्तिः, न तन्नुभवकालस्थितिवशादिति भार्गवः ।  
अत्र च गार्गिः—

“सर्वैर्बलैरुपेतस्य परमोच्चगतस्य च ।  
सम्पूर्णारुया दशा ज्ञेया धनारोग्यविवर्धिनी ॥  
स्वोचराशितस्यथ किञ्चिद्वलपुत्स्य च ।  
पूर्णा नाम दशा ज्ञेया धनवृद्धिकरी शुभा ॥  
सर्वैर्बलैरुपेतस्य नीचराशितस्य च ।  
रिक्ता नाम दशा ज्ञेया धननाशस्य कारिणी ॥  
यः स्यात् परमनीचस्थस्तथाचारिनर्वांशके ।  
तस्यानिष्टफला नाम दशानर्थविवर्धिनी ॥”

इति ॥ ५ ॥

पुनरपि सञ्ज्ञाविशेषानिन्द्वयग्रहाह—

. अष्टस्य तुङ्गादवरोहिसंज्ञा  
मध्या भवेत् सा सुहृदुच्चभांशे ।  
आरोहिणी निम्नपरिच्युतस्य  
नीचारिभांशज्वधमा भवेत् सा ॥ ६ ॥



पादं फलस्य चतुरश्रगतः सहोरा-

स्त्वेवं परस्परगताः परिपाचयन्ति ॥ ३ ॥

इति । केन्द्रस्थेषु ग्रहेषु लघुचतुर्थसप्तमस्थाः, पणपरस्थेषु पञ्चमाष्टमस्थौ, आपोक्लिमस्थेषु नवमस्थः । एत एव दशापहारकर्तारः । तेषां दशाभागानाह— एकर्धगः फलस्य अर्धमपहृत्य स्वं ददातीत्यन्वयः । दशाधिपतिस्थितलगे तेन मह ग्थितो ग्रहः तस्य दशाया अर्धमपहृत्य स्वं फलं ददाति । एकर्धगा बहवः सन्ति चेत्, तेषु बलाधिकोऽर्धापहारी भवतीत्येकवचनेन सूचितम् । एवमुत्तरत्रापि । तथा त्रिकोणगृहगः त्र्यंशमपहृत्य स्वं ददाति । चतुरश्रगतः पादमपहृत्य, स्मरगः स्वरांशमपहृत्य स्वं ददातीति सम्बन्धः । एतेषु बहवः सन्ति चेत्, सर्वेऽप्युक्तभागापहारिणो न भवन्ति । तेषु बलाधिक एव भागं हरति । तथाच सत्यः—

“एकक्षोपगतानां यो भवति बलाधिको विशेषेण ।

एकः स एव हर्ता नान्ये तत्र स्थिता भागान् ॥”

इति । सहोराः ग्रहाः एवं परस्परगताः परिपाचयन्ति । होरा लग्नं तेन सह वर्तमानः सहोराः । अयमर्थः ग्रहाः सप्त लग्नं च इत्यष्टौ दशाधिपा उक्ताः । तत्र तेषु यस्य दशा वर्तते ग्रहस्य वा लग्नस्य वा, तस्मादुक्तेषु स्थानेषु स्थिता ग्रहा वा लग्नं वा उक्तं भागमपहरति । उक्तेषु ग्रहावस्थितराशौ वा लग्ने वा त्रिकोणे वा चतुरश्रे वा तत्सप्तमे वा एषु सर्वेषु वा ग्रहलग्नयोगाभावे तस्य दशायापहाराभावः ॥ ३ ॥

उक्तानामन्तर्देशानां गणितेनानयनमिन्द्रवज्रयाह —

स्थानान्यथैतानि सवर्णयित्वा

सर्वाण्यधश्छेदविवर्जितानि ।

दशाब्दपिण्डे गुणना यथांशं

छेदस्तदैक्येन दशाप्रभेदः ॥ ४ ॥

इति । एतानि सर्वाणि स्थानानि सर्वाणिपित्वा अधश्छेद-  
विभजितानि कर्तव्यानीति शेषः । स्थानशब्देन प्रकरणशब्दाद् भाग-  
स्थानादिना भागा गृह्यन्ते । अत्र दशापहारप्रकरणे दशापतेर्भागः  
सकलदशा, सहस्रितस्य ग्रहस्य लग्नस्य वा तद्द्विभागः, त्रिकोणस्थितस्य  
तन्निभागः, सप्तमस्थितस्य तन्मसभागः, चतुरश्रस्थितस्य तच्चतुर्भागः ।  
एतानि पञ्चापि भागस्थानानि पृथग् विन्यस्य क्रमादधोऽधः स्वं स्वं  
हारं न्यसेत् । सकलदशास्थानस्याधो रूपं न्यसेत् । “कल्प्यो हरो  
रूपमहारैरांशः” इत्युक्तत्वात् । द्विभागस्याधो द्वौ न्यसेत्, त्रिभाग-  
स्याधो त्रीन् न्यसेत् । सप्ताशस्याधः सप्त । चतुर्भागस्याधश्चतुरः काणान्  
न्यसेत् । ततः—

“अन्योन्यहाराभिहतौ हरांशौ राश्योः समच्छेदाधिकानमेवम्”

इति न्यायेन सवर्णाकरणं कार्यम् । तद्यथा—अत्र पञ्चसु स्थाने-  
पूर्वस्थितेषु भागेषु अध.स्थितेषु त्रेषु पूर्वमेकस्य भागस्य छेदेन  
अन्यं भाग छेदं च गुणयेत् । तस्य छेदेन पूर्वगुणाकार तस्य  
भाग च गुणयेत् । तौ समच्छेदौ भवताः । एवं कृतेन सम-  
छेदेन तृतीय भागं तच्छेदं च गुणयेत् । तच्छेदेन पूर्व-  
कृतौ समच्छेदौ तदशौ च पृथक् चतुरोऽपि गुणयेत् । त्रयोऽपि  
समच्छेदा भवन्ति । एवमितरात्रपि मर्णयेत् । अत्र पञ्चसु स्थानेषु  
स्थितानां समच्छेदानां भागानां च द्वाभ्यामप्यपरतनसम्भवात् तस्मि-  
न्प्रवर्तने अर्धाप्रकरणे कृत सकलदशाधिपस्य स्वान्तर्दशाभागाश्चतु-  
रशीतिः । अर्धापहारिणो भागा द्विचत्वारिंशत् । त्रिभागापहारिणो  
भागा त्रिचत्वारिंशतिः । सर्वभागापहारिणो भागा द्वादश । चतुर्भागा-

पहारिणो भागा एकविंशतिः । एषां भागानामधःस्थितश्छेदाश्च पृथक् चतुरशीतिसङ्ख्यास्तुल्याः स्युः । तैः कार्याभावाच्चेदानपहाय पञ्चसु स्थानेषु स्थिता भागा एवात्र गृह्यन्ते । अत उक्तमधश्छेदविवर्जितानीति । उत्तरार्धेन प्रदर्शितैरेभिर्भागैस्तर्दशानयनत्रैराशिकं प्रति गुणकारभाग-हारावाह — दशाब्दपिण्डे यथांशं गुणना तदैक्येन छेदः एभिर्दशा-प्रभेदो भवति इति सम्बन्धः । यथांशं गुणना इति यस्यान्तर्दशा आनोयते, तस्योक्ता अंशास्तत्र गुणकारैः । अन्तर्दशापहारिणौ यथा-सम्भवं स्वस्वभ्यानगता अंशौ गुणकारा इत्यर्थः । तदैक्येन तेषां गुण-कारत्वेनोक्तानामंशानामैक्येन । पिण्डीकृतैश्चतुरशीत्याद्युक्तभागैरित्यर्थः । तेषु पिण्डीकृतेषु अक्षरमङ्ख्यया सौन्दर्यमिति भवति, तत्र भाग-हारः । दशाधिपस्य दशाब्दपिण्डमपहर्तृणां यथाक्रममुक्तैरक्षरमङ्ख्यया वेदरविहरिप्रियपुत्रमङ्ख्यैः सैः स्वैरंशैर्गुणयित्वा तदैक्येन अक्षर-सङ्ख्यया सौन्दर्येण विभजेत् । लब्धं स्वस्वदशाप्रभेदा भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ दशान्तर्दशाकालविशेषानुपस्था तत्र वक्तव्यानां शुभाशुभानां फलानां पुष्टि-  
; 'मध्यलघुतावधोत्राय दशानामन्वर्थान् संज्ञानिशेषान् (वैताल्लेये?भोपच्छन्दसिके)नाह—

- सम्यग्बलिनः स्वतुङ्गभागे  
सम्पूर्णा बलवर्जितस्य रिक्ता ।
- नीचांशगतस्य शत्रुभागे  
ज्ञेयानिष्टफला दशा प्रसूतौ ॥ ५ ॥

इति । सम्यग्बलिनः दशा सम्पूर्णा इत्यन्वयः । स्थानादिकाल

१ 'ना छेदाः अथ स्थि' इ. २. 'रा । अ ग. ; 'राः इत्यर्थः । त' च ३. 'ण. ' ;  
४. 'शका ॥' इ. ५. 'न्ति ॥

सम्पूर्णादावधो रिक्ता ततोऽनिष्टफला स्मृता ।

तथावरोहिणी मध्या म्यारं द्विष्यधमा तथा ॥

ततो मिश्रफला चेति दशात्राष्टविधा स्मृता ॥ ४ ॥' ख ग

१. 'पूर्णतन्व' इ. ७. 'नामाह—' ख. ग. घ. ङ च.

चेष्टावलमहितस्य दशा सम्पूर्णमंज्ञा स्यात् । खनुङ्गभागे दशापि सम्पूर्णा । निजपरमोच्चांशस्थितस्य दशापि सम्पूर्णा । तुङ्गचलस्य स्थानचलान्तर्भावेऽपि 'गोचलीवर्द'न्यायेन पृथगुपादानात् फलदानं प्रति वैशिष्ट्यं प्रदर्शितम् । अर्थादेव किञ्चिन्न्यूनत्वस्य उच्चराशिगतस्य च दशा पूर्णासंज्ञेत्युक्तं भवति । वरुजितस्य दशा रिक्ता भवति । नीचांशगतस्य च दशा रिक्तासंज्ञेत्यर्थः । शत्रुभागे दशा अनिष्टफला ज्ञेया । प्रसूताविति सर्वत्र योज्यम् । जननकालग्रहस्थितिवशादेव दशान्त-  
र्दशयोः सम्पूर्णादिसंज्ञाकलप्तिः, न त्वनुभवकालस्थितिवशादिति भावः ।  
अत्र च गार्गिः—

“सर्वैर्धैरूपेतस्य परमोच्चगतस्य च ।  
सम्पूर्णख्या दशा ज्ञेया धनारोग्यविवर्धिनी ॥  
खोचराशिगतस्याथ किञ्चिद्वलपुंसस्य च ।  
पूर्णा नाम दशा ज्ञेया धनवृद्धिकरी शुभा ॥  
सर्वैर्धैरूपेतस्य नीचराशिगतस्य च ।  
रिक्ता नाम दशा ज्ञेया धननाशस्य कारिणी ॥  
यः स्यात् परमनीचस्थस्तथाचारिनवांशके ।  
तस्यानिष्टफला नाम दशानर्थविवर्धिनी ॥”

इति ॥ ५ ॥

पुनरपि संज्ञाविशेषानिन्द्रवज्रवाह—

. अष्टस्य तुङ्गादवरोहिमंज्ञा  
मध्या भवेत् सा सुहृदुच्चभांशे ।  
आरोहिणी निम्नपरिच्युतस्य  
नीचारिमांशपञ्चमा भवेत् सा ॥ ६ ॥

१. 'यस्यैस्थि' ख. २. 'संज्ञा' स्यात् । तु ख ३. 'विद्' क ग घ. उ च.  
४. 'यः ॥ ५ ॥ अ' ख. ग. घ. ङ. च.

इति । तुङ्गाद् भ्रष्टस्य दशा अवरोहिंसंज्ञा स्यादित्यन्वयः ।  
परमोच्चाद् भ्रष्टस्य दशा अवरोहिणीत्यर्थः । सा सुहृदुचभांशे मध्या  
भवेत् । गा तुङ्गभ्रष्टस्य दशा सुहृदुचभांशे सुहृद्रे सुहृदंशे उच्चांशे  
च स्थितस्य मध्या मध्यमंज्ञा । निम्नपरिच्युतस्य दशा आरोहिणी,  
परमनीचभ्रष्टस्य दशा आरोहिणीसंज्ञा भवति । सा नीचारिभांशे-  
ष्वधमा भवेत् । नीचारिभांशेषु नीचांशे अरिमे अयंशे च स्थितस्य  
अधमसंज्ञा भवति ॥ ६ ॥

पुनरपि संज्ञाविशेषानुपपन्नानि कथाह—

नीचारिभांशे समवस्थितस्व

शस्ते गृहे मिश्रफला प्रदिष्टा ।

संज्ञानुरूपाणि फलानि चैषां

दशासु वक्ष्यामि यथोपयोगम् ॥ ७ ॥

इति । शस्ते गृहे नीचारिभांशे समवस्थितस्य दशा मिश्रफला  
प्रदिष्टा इत्यन्वयः । शस्ते मूलत्रिकोण स्वक्षेत्रे वा इत्यर्थः । तत्र  
नीचांशे वा शत्रुक्षेत्रांशे वा अवस्थितस्य ग्रहस्य दशा मिश्रफलासंज्ञा  
प्रदिष्टा इति । फलानि च संज्ञानुरूपाणि । आमां दशानां फलानि  
च संज्ञायाः अनुरूपाणि । सम्पूर्णायां दशायाम् आरोग्यधनयोः  
ममृद्धिः । पूर्णायामारोग्यधनयोः सद्भावः । रिक्तायामारोग्यधनयो-  
रभावः, रोगदारिद्र्यबाहुल्यमिति यावत् । अनिष्टफलयां देहविषये  
वा धनविषये वा कष्टकर्त्राण्यत्वं, नात्यन्ताभाव इत्यर्थः । अवरोहिण्या-  
मारोग्यधनयोः क्रमावरोहणम् । मध्यायामवरोहणेऽपि किञ्चिद्बुद्धिः ।  
आरोहिण्यामारोग्यधनयोः क्रमोत्कर्षः । अधमायाम् उत्कर्षे किञ्चिद्  
अपकर्षः । मिश्रफलायां त्वारोग्यधनममृद्धयोर्व्याधिर्नर्धन्ययोश्च देश-

कालवशान्मिश्रत्वम् । एवं दशान्तर्दशानां संज्ञाविशेषान् निर्दिश्य  
तत्फलानि च संज्ञानुरूपशब्देन सामान्यतो निर्दिष्टानि । विशेषतश्चैषां  
ग्रहाणां दशासु यथोपयोगं यथानुभवं वक्ष्यामि । 'सौर्यां स्वाम्'  
इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणश्लोकैरिति शेषः । वक्तव्यस्य निर्देशं विना  
वक्ष्यामीति भविष्यन्निर्देशेन यथोक्तदशाफलनिर्देशस्य पुरतो बहु  
चिन्तनीयमस्तीति द्योत्यते ॥ ७ ॥

तत्र लग्नगतं विशेषभिरूपणं बैताल्येनाह—

उभयेऽधममध्यपूजिता

द्रेक्काणैश्चरभेषु चात्क्रमात् ।

अशुभेष्टसमा स्थिरं क्रमा-

द्धोरायाः पारिकल्पिता दशा ॥ ८ ॥

इति । लग्नस्याभिदशातुल्यफलत्वेऽप्ययं विशेषः— होरायाः  
परिकल्पिता दशा उभये द्रेक्काणैः क्रमादधममध्यपूजिता भवति इत्य-  
न्वयः । उभयराशौ लग्नगते तत्प्रथमद्रेक्काणे सति लग्नदशा अधमा,  
मध्यद्रेक्काणे मध्या, अन्त्यद्रेक्काणे पूजिता भवति । तथा चरभेषु  
उत्क्रमाच्च अधममध्यपूजिता अन्त्यद्रेक्काणे अधमा मध्यद्रेक्काणे मध्या  
आदिद्रेक्काणे उत्तमा च भवतीत्यर्थः । तथा स्थिरे क्रमादशुभेष्टसमा  
भवति । स्थिरराशावादिद्रेक्काणे अशुभा मध्यद्रेक्काणे इष्टा उत्तमा  
अन्त्यद्रेक्काणे समा मध्या भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ निमग्नदशाक्रमं लग्नदशास्थानं चैर्वाहिलिर्विदितेनाह—

एकं द्वे नव विंशतिर्धृतिः कृती पञ्चाशदेषां क्रमा-

चन्द्रारेन्दुजशुक्रजीवदिनकृद्देवाकरीणां समाः ।

१. 'इति सौर्यां स्व नामदन्तचर्मवन्व' इत्या' ट २ 'णमाह—' अ ग.  
३. 'प्यमा अ' अ. च. ४. 'अ आदिद्रेक्काणे पूजिता मध्यद्रेक्काणे मध्या, अन्त्यद्रेक्काणे  
अधमा अ म' घ. च. ५. 'वाह—' ख ग

स्वे स्वे पुष्टफला निसर्गमये पक्तिर्दशायाः क्रमा-

दन्त्यं लग्नदशा शुभेति यवना नच्छन्ति केचित्तथा॥ ९ ॥

इति । चन्द्रोरेन्दुजशुक्रजीवदिनकृद्देवाकरीणां क्रमात् समा एतावत्यः । चन्द्रस्यैक, क्रमादित्युक्त्या चन्द्रस्य प्रथममेका समेत्यर्थः । तत आरभ्य द्वे समे । ततो बुधस्य नव समाः । अतोऽवगम्यते एते त्रयोऽपि स्तनन्धयादिबालविशेषा इति । ततो द्वादशममाभ्यः परं शुक्रस्य विंशतिसमा निमर्गदशा । शुक्रो युवेति च द्रष्टव्यम् । ततः परं धृतिः अष्टादश समा गुरोर्निसर्गदशा । गुरुः प्रौढ इति च द्योत्यते । ततः परं कृतिः विंशतिसमा स्वर्गनिमर्गदशा । रविर्बृद्ध इति च द्योत्यते । ततः मन्त्रेः परं पञ्चाशन्मन्दस्य निसर्गदशा । मन्दो पृथ्वतम इति चानुमन्धेयम् । एतेषु निमर्गदशाधिपेषु ग्रहेषु बलवत्स्वपचयस्थितेषु तद्दशासु शोभनानि भवन्ति अन्यथा अशोभनानि । एतच्च सर्वथा चिन्त्यम् । स्वे स्वे निसर्गसमये दशायाः क्रमात् पक्तिः पुष्टफला भवति । एवमुक्ते निमर्गदशाममये दशायाः ग्रहाणां मप्तमाध्यायोक्तप्रकारेणोत्पादितायाः पक्तिः पाकः तुल्यकालीना यदि भवति, तदा पुष्टफला भवति । ग्रहाणामायुर्दायोक्तदशा अन्तर्दशा वा स्वे स्वे गथोक्तनिमर्गसमये सम्भवति चेत्, सा सम्पूर्णफला स्यादित्यर्थः । अत्र केचिद् वदन्ति — यथापूर्वविधिना ज्ञाता शुभा मती शुभमत्यर्थं प्रयच्छति, अशुभा सत्यशुभमत्यर्थमिति । एतच्चायुक्तम् । यस्माद् गवनेश्वरः “श्रेष्ठा दशा स्वे वयसि ग्रहस्ये”ति । यवना अन्त्ये लग्नदशा शुभेति वदन्ति । निमर्गदशाया विंशत्यधिकशतप्रमाणाया अन्त्ये परस्ताज्जीवनकाले लग्नदशेति वदन्ति । सा शुभेति च वदन्ति । हयानामपि द्वात्रिंशदायुः । परमायुषि त्रैराशिकेन निसर्गदशायां कल्पितायां परस्ताज्जीवनं दृश्यते चेत्, तत्काले लग्नदशेति यवनमतम् । केचित्तथा

नेच्छन्ति । लग्नस्य बलाधिक्ये तद्देशायाः प्राथम्यनिर्देशात् । स्वे स्वे  
पुष्टफलेत्युक्तनिसर्गदशावैपरीत्ये दशाफलानां केषाञ्चित् वैकल्यमपि  
सम्भवतीति द्योत्यन्ते ॥ ९ ॥

दशारम्भकालराशिवशाच फलानां मित्रेणो भवति<sup>१</sup> तद् द्वाद्विंशद्वितीयेनाह—

पाकस्वामिनि लग्नगे सुहृदि वा वर्गेऽस्य सौम्येऽपि वा

प्रारब्धा शुभदा दशा त्रिदशपङ्कलाभेषु वा पाकपे ।

मित्रोच्चोपचयत्रिकोणमदगः पाकेश्वरस्य स्थित-

श्चन्द्रः सत्फलबोधनानि कुरुते पापानि चातोऽन्यथा ॥ १० ॥

इति । पाकस्वामिनि लग्नगे अस्य सुहृदि लग्नगते अस्य वर्गे  
लग्नगते अपि वा सौम्ये लग्नगत प्रारब्धा दशा शुभदा भवती-  
त्यन्वयः । पाकस्वामिनीति दशापाकपतो अन्तर्दशापाकपतो वा सुहृदि  
पाकपतेर्मित्रे । वर्गे पश्यर्गाणामेकतमे । सौम्ये शुभग्रहे । लग्नग दशा-  
रम्भकाललग्नस्थिते सति । (प्रारब्धा) दशा मूलदशा चान्तर्दशा वा ।  
शुभदा निरन्तरशुभग्रहा भवतीत्यर्थः । अथवा पाकपे त्रिदशपङ्कलाभेषु  
स्थिते सति प्रारब्धा दशा शुभदा इत्यन्वयः । पाकाधिपे दशाप्रारम्भ-  
लग्नस्य उपचयस्थिते मति आरब्धापि दशा शुभदा । अर्थादुक्त-  
विपर्ययेऽशुभदा च भवतीति द्रष्टव्यम् । अत्र ग्रमकस्य शुभाशुभ-  
दानस्य कालविशेषं च दशान्तर्दशयोर्वर्तमानकाले पाकाधिपस्योपचया-  
पचपादिराशिविशेषचारिणा चन्द्रेण दर्शयति— मित्रेत्यादि । पाक-  
ेश्वरस्य मित्रोच्चोपचयत्रिकोणमदगश्चन्द्रः सत्फलबोधनानि कुरुते इत्य-  
न्वयः । पाकेश्वरः दशापतिः, तस्य मित्रराशौ उच्चराशौ उपचय-  
राशिषु च पञ्चमनवमयोः सप्तमे च स्थितश्चन्द्रः सत्फलानि शुभ-

१. 'स्य दशा' ; २. 'शात्' स्वप्न' क. ३ 'तीत्याह—' ग. ग. ४. 'द' च.

४. 'गते अ' ग. घ. च. ५. 'रस्य पाकपतेः' मि. क. ग.



फलानि बोधयतीत्यर्थः । अतोऽन्यथा पापानि च बोधयन्ति । अतोऽन्यथा पापेश्वरस्य शत्रुराशौ नीचराशौ उपचयत्रिकोणमदान्यराशिषु स्थितश्चन्द्रोऽशुभफलानि बोधयतीत्यर्थः ॥ १० ॥

शुभाशुभाशुभकालस्य चन्द्रचारेण निर्देश्यत्वेन दशारम्भे चन्द्रस्थितिरपि निरूपणीयेति शार्ङ्गलेखिकीदितेनाह—

प्रारब्धा हिमगौ दशा स्वगृहगे सौख्यार्थमानावहा

कौजे दूषयति स्त्रियं बुधगृहे विद्यासुहृद्वित्तदा ।

दुर्गारण्यपथालया कृपिकरी सिंहे सितर्क्षेऽन्नदा

कुस्त्रीदा मृगकुम्भयोर्गुरुगृहे मानार्थसौख्यावहा ॥ ११ ॥

इति । हिमगौ स्वगृहगे प्रारब्धा दशा सौख्यार्थमानावहा भवति इत्यन्वयः । चन्द्रे स्वक्षेत्रगते प्रारब्धा दशा ग्रहाणां लग्नस्य च दशा अन्तर्दशा वा सौख्यमर्थं मानं चावहति । यस्य कस्य च ग्रहस्य दशा शुभदाप्यशुभदापि चन्द्रे कर्कटकस्थे प्रारब्धा दशा शुभदेवावबोधयते पुरुषणेत्यर्थः । कौजे स्त्रियं दूषयति । चन्द्रे कुजराशिस्थिते प्रारब्धा दशा स्त्रीदोषादनर्थमावहतीत्यर्थः । बुधगृहे विद्यासुहृद्वित्तदा चन्द्रं बुधगृहस्थं प्रारब्धा दशा विद्यां सुहृदो वित्तं च ददाति । सिंहे दुर्गारण्यपथालया दुर्गम् अरण्यं पन्थाश्च दुर्गारण्यपथाः, ते आलयो यस्यां दशायां सा दुर्गारण्यपथालया, कृपिकरी अर्थात् पर्वतारण्यादिषु कृपिं करोति । सिंहस्थिते चन्द्रे प्रारब्धा दशा दुर्गारण्यपथेषु स्थितिं कृपिं करोतीत्यर्थः । सितर्क्षेऽन्नदा । शुकराशिस्थे चन्द्रे प्रारब्धा दशा अन्नं ददाति मृष्टांशनं ददाति । मृगकुम्भयोः कुस्त्रीदा । मकरकुम्भयोः स्थिते चन्द्रे प्रारब्धा दशा कुस्त्रीदा, कुतिसतस्त्रीप्रदेत्यर्थः । गुरुगृहे मानार्थसौख्यावहा । गुरु-

क्षेत्रस्थे चन्द्रे प्रारब्धा दशा अभिमानमर्थं मौख्यं चावहतीत्यर्थः  
[ ॥ ११ ॥

अथाकंदशाफलं शादूलविक्रीदितेनाह—

सौर्यां खं नखदन्तचर्मकनकक्रौर्याध्वभूपाहवै-

स्तैक्ष्ण्यं धैर्यमजस्रमुद्यमरतिः ख्यातिः प्रतापोन्नतिः ।

भार्यापुत्रधनारिशस्त्रहुतभुग्भूषोद्भवा व्यापद-

स्त्यागः पापगतिः स्वभृत्यकलहो हृत्क्रोडपीडामयाः ॥ १२ ॥

इति । सौर्यामेतानि फलानि भवन्तीति सम्बन्धः । सूर्य-  
सम्बन्धिनी दशा अन्तर्दशा च सौरी, तस्यां नखदन्तचर्मकनक-  
क्रौर्याध्वभूपाहवैः खम् । नखाः व्याघ्रनखादयः, दन्ता गजदन्तादयः,  
चर्म अजिनम्, कनक च एतानि चत्वारि विक्रयद्रव्याणि । एभ-  
विक्रीयमाणरित्यर्थात् सिध्यति । तथा क्रौर्याध्वभूपाहवैश्च । क्रौर्यं  
क्रूरकर्म । अध्वशब्देन अध्वगमनं लक्ष्यते । भूषैः अर्थात् मेधितैः ।  
आहवः युद्धम्, पराक्रम इति यावत् । एभिरष्टाभिर्निमित्तभूतैः  
स्य अर्थार्जनं भवतीत्यर्थः । तथा तैक्ष्ण्यं शिप्रकारित्वं, धैर्यम् अध्यव-  
सायादचलनं, शुभाशुभप्राप्तां हर्षविपादैरनभिभव इत्यर्थः । अजस्र-  
मुद्यमरतिः अनवरतमृत्साहेन प्रीतिः, ख्यातिर्लोकप्रसिद्धिः, प्रतापोन्नतिः,  
दूरादेवारीणां भयजनकत्वं प्रतापः तस्यान्नतिः अप्रतिहतत्वम्, एतानि  
आदित्यदशायां शुभफलानि । कष्टफलान्याह — भार्यापुत्रधनारिशस्त्र-  
हुतभुग्भूषोद्भवा व्यापदः । भार्यापुत्रधनेभ्योऽन्तरङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्यश्चारि-  
शस्त्रहुतभुग्भूषेभ्यश्च उद्भवो यामां तथाविधा व्यापदो भवन्ति ।  
तथा त्यागः निःसङ्गता, पापगतिः पापेषु रतिः, स्वभृत्यकलहः  
स्वभृत्यैः कलहः, तथा हृत्क्रोडपीडामयाः हृदयपीडा क्रोडपीडा  
जठरामयाश्च ॥ १२ ॥

अथ चन्द्रदशाफलं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

इन्दोः प्राप्य दशां फलानि लभते मन्त्रद्विजात्युद्भवानि

नीक्षुक्षोरविकारवस्त्रकुसुमक्रीडांतिलाञ्जश्रमैः ।

निद्रालस्यमृदुद्विजामररतिः स्त्रीजन्म मेधाविता

कीर्त्यर्थोपचयक्षयौ च बलिभिर्वैरं स्वपक्षेण च ॥ १३ ॥

इति । इन्दोर्दशमेतद्दशां वा प्राप्य मन्त्रद्विजात्युद्भवानि फलानि लभते । मन्त्रोद्भवानि ब्राह्मणोद्भवानि च फलानि प्रयोजनानि धनानि लभते । तथा इक्षुक्षोरविकारवस्त्रकुसुमक्रीडांतिलाञ्जश्रमैश्च फलानि लभते । इक्षुविकारां गुडादयः, क्षीरविकारां घृतादयः, वस्त्राणि त्वक्फल-कुमिरोमभवानि, कुसुमानि कुङ्कुमचन्दनादीनि, क्रीडां क्रीडादयः, तिलं स्निग्धद्रव्योपलक्षणम् । अन्नम् ओदनादि,

“सिक्थ्यविरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।

बहुसिक्था विलेपी स्यादोदनो विगतद्रवः ॥”

कृताच्चादीनि भोदकापूपादीनि च गृह्यन्ते । स्वेदजनकः शरीरव्यायामः श्रमः । एतैश्च धनानि लभत इत्यर्थः । निद्रालस्यमृदुद्विजामररति-र्भवति । निद्रायां मालस्ये मृदुषु मार्दवयुक्तेषु जनेषु द्विजामरेषु देवब्राह्मणेषु रतिः प्रीतिः । स्त्रीजन्म स्त्रीप्रसूतिः । मेधाविता धारणावचं, ‘धं धारणावती मेधा’ इत्यमरः । कीर्त्यर्थोपचयक्षयौ च भवतः ।

१. ‘लमाह—’ ख. ग. घ. ङ. च. २. ‘शां शां क ग घ. ङ. च. ३. ‘प्य फ-लानि मन्त्रद्विजात्युद्भवानि मन्त्रनिमित्तानि द्विजनिमित्तानि च लभते । तथा’ ख. ४. ‘राद्गुडात् क्षा’ फं, ‘राः शर्करादयः क्षी घ ङ. ५. ‘राद् द-ध्यादिकात् वस्त्रेभ्यः कुसुमेभ्यः क्री’ फं ६. ‘नि तथा चामरः—’ वालकं क्षौमादि फालं तु कापांसं बादरं च तत् । कौशेयं कुमिकेशोत्थं राद्वचं मृगरीमजम् इति कुसु घ ७. ‘क्रीडा रासक्री’ घ, ‘क्रीडायास्तिलेभ्योऽन्नात् श्रमाच्च एतेभ्यः सकाशात् शुभदशायां शुभानि फलानि प्राप्नोति । अशुभदशायामशुभानि । स्वभावं दर्शयति—निद्रा’, ति’ रतिः निद्रारतिः आलस्यरतिश्च मृदुः क्षमावान् द्विजामररति’ द्विजाः ब्राह्मणाः अमराः देवाः एतेषां रतिः भक्तिः । स्त्रीजन्म प्राप्नोति । मेधाविता बुद्धिद्विश्च । की’ च. ८. ‘नि वन्यानि कन्दमूलफलानि च खलजादीनि मांसादीनि च’ घ. ९. ‘च । शुभदशायां कीर्त्यर्थयो-रुपचयः अशुभदशायां कीर्त्यर्थयोः क्षयः । बलिभिः स्वपक्षेण च वैरं प्राप्नोति ॥ १३ ॥

कीर्तिरर्थस्य च उपचयः वृद्धिः, क्षयश्च सम्भवतः । बालिर्भैरवं बल-  
वद्विग्रहः । स्वपक्षेण च वैरं स्वजनविरोधश्च भवतीत्यर्थः । एवमत्रेष्टानि च  
कष्टानि च फलान्युक्तानि चन्द्रस्य बलवशेन निर्देष्टव्यानि ॥ १३ ॥

अथ कुजदशाफलं शार्ङ्गलोचनीयतेनाह—

भौमस्यारिबिमर्दभूपसहजक्षित्याविकाजैर्धनं

प्रद्वेषः सुतमित्रदारसहजैर्विद्वद्गुरुद्वेषिता ।

तृष्णासृग्ज्वरभङ्गपित्तजनिता रोगाः परस्त्रीष्टता

प्रीतिः पापरैतैरधर्मानिरतिः पारुष्यतैर्दृष्ट्यादि च ॥ १४ ॥

इति । भौमस्य दशायां अरिनिमर्दभूपसहजक्षित्याविकाजैर्धनं  
भवति । अरिबिमर्दः शत्रुजयः, भूपः, सहजा भ्रातरः, क्षितिः  
क्षेत्राणि, आधिकम् अविभवं कम्बलादि, अजा मेपाः, एतैर्निमित्त-  
भूतैर्धनम् । कुजस्यानिष्टफलान्याह पादत्रयंण— सुतमित्रदारमहजैः  
प्रद्वेषः । सुतमित्रकलत्रभ्रातृभिः प्रकर्षेण द्वेषः । विद्वद्गुरुद्वेषिता  
विदुषो गुरुंश्च द्वेषुं शीलमस्येति तथा, तस्य भावः विद्वद्गुरु-  
द्वेषिता । तृष्णासृग्ज्वरभङ्गपित्तजनिता रोगाः । तृष्णा विषासा,  
असृक् रक्तम्, ज्वरः प्रसिद्धः, भङ्गः अभिघातः, पित्तं च, एतै-  
र्जनिता रोगाः । परस्त्रीष्टता अन्यपत्नीसक्तता, पापरैतैः सह प्रीतिः  
अधर्मनिरतिः अधर्मेण हिंसादिषु तात्पर्यम् । पारुष्यतैर्दृष्ट्यादि च  
पारुष्यं कटुव्यग्रहारादि, तैर्दृष्ट्य तैर्दृष्ट्यादि, एतान्यनिष्टफलानि ॥ १४ ॥

अथ बुधदशाफलं शार्ङ्गलोचनीयतेनाह—

बौध्यां दात्यसुहृद्गुरुद्विजघनं विद्वत्प्रशंसा यशो-

युक्तिद्रव्यसुवर्णवेसरमहीमौभाग्यमौख्यास्तयः ।

१ 'भौमद' क २ 'हमाह'— अ. ग ३ 'कु भ' ४ 'ता, दशमचारद प' इत्यर्थः ।  
पा' ट, 'तादन्त्येपा भार्यासु रति, पा घ. ५ 'पनिष्ट भ' ख ६ 'ति. पापहृतेरिति पापो  
पदमेभिहित्यर्थः । ख' ख. 'ति पापहृतेरिति पापै. पापपदमेभिहित्यर्थः । न' ट.  
७ 'हमाह'— अ. ग

हास्योपासनकौशलं मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः

पारुष्यश्रमबन्धमानसरुजा पीडा च धातुत्रयात् ॥ १५ ॥

इति । बौध्यां बुधस्य दशायामन्तर्दशायां वा प्राप्तायामित्यर्थः । दौत्यसुहृद्गुरुद्विजघनं दौत्येन दूतकर्मणा सुहृद्भिः गुरुभिः द्विजैश्च निमित्तभूतेर्धनं भवति । विद्वत्प्रशंसा विद्वद्भिः प्रशंसा । यशोयुक्तिद्रव्यसुवर्णवेसरमहोभौभाग्यभौखयाप्तयः । आसिश्चब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । यशमः कीर्तिः आसिः, युक्तिद्रव्यस्य यमलद्रव्यस्य पेटकादेः, सुवर्णस्य, वेसरस्याश्वस्य, मद्याः क्षेत्रस्य, सौभाग्यस्य सकलवस्तुभत्वस्य, सौख्यस्य च विषयानुभूतजनितस्याप्तयः, प्राप्तयो भवन्ति । हास्योपासनकौशलम् । हास्यं प्रहसनव्यवहारः, उपासन सेवा, तयोः कौशलम् । मतिचयः शास्त्रोपस्कृत्युद्विवर्धनम् । धर्मक्रियामिद्वयः धर्मकर्माणि तत्फलमिद्वयश्च भवन्ति । चतुर्थपादेनानिष्टफलानि<sup>१</sup> । पारुष्यश्रमबन्धमानसरुजा । पारुष्येण वाग्दंषादिना श्रमेण भारवहनादिजनितेन बन्धेन पारतन्त्र्येण च जनिता मानसरुजा मनस्तापः । धातुत्रयात् पीडा च । धातुत्रयाद् वातपित्तकैः पीडा च सन्निपातरोगाश्च भवन्तीत्यर्थः । मिथ्यदशायामुभयमपि द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

अथ जीवदशाफलं<sup>२</sup> पादूलविक्रीडितेनाह—

जैव्यां मानगुणोदयो मतिचयः कान्तिः प्रतापान्नति-

र्माहात्म्योद्यममन्त्रनोतिनृपतिस्वाध्याययज्ञैर्धनम् ।

हेमाश्वात्मजकुञ्जराभ्यारचयः प्रातिश्च सद्भूमिपैः

सूक्ष्मोहागमनैपुणं श्रवणरुग् वैरं विघर्मश्रितैः ॥ १६ ॥

इति । जैव्यां जीवस्य दशायामन्तर्दशायां वा । मानगुणोदयः मानस्याभिमानस्य गुणानामधृष्टगुणानामभिगम्यगुणानां च उदय-

१. 'भूतिज' घ २. 'रादि उ घ छ ३. 'न्याह—पा' घ. ४. 'लनाह—' ख. ग.

५. 'जीवस्येयं जीवी तस्यां दशायां' घ.

उत्कर्षः । मतिचयः मतिः शास्त्रोत्प्रेरिता बुद्धिः, तस्याश्रयः वृद्धिः ।  
कान्तिः कर्मनीयता । प्रतापोन्नतिः प्रतापस्य वृद्धिः । माहात्म्यो-  
द्यममन्त्रनीतिनृपतिस्वाध्याययज्ञैर्धनं भवति । माहात्म्यं महानुभावता-  
उद्यमो व्यवसायः, मन्त्राः श्रवणैष्णवद्यागप्रसिद्धाः, नीतिः कौटल्य,  
कामन्दकीयादिशास्त्रोत्पादिता, नृपतिः राजा, स्वाध्यायः वेदादिः  
विद्याभ्यासः, यज्ञा अग्निष्टोमादयः, एतैर्धनं भवति । हेमाश्चात्मज-  
कुञ्जराम्बरचयः । हेमः सुवर्णस्य अश्वस्य आत्मजस्य पुत्रस्य  
कुञ्जरस्य अम्बरस्य वस्त्रस्य च, एतेषां चयः सञ्चयो भवति ।  
सद्भूमिपैः प्रीतिश्च । पूर्वं राजनिमित्तं धनमुक्तम् । इदानीं सद्-  
भूमिपैः प्रीतिः साद्वैर्भूमिपालः सम्मानेनानन्द उच्यते । सूक्ष्मोहा-  
गमनैपुण सूक्ष्माणां दुरवगमनानाम् ऊहेषु आगमेषु च नैपुणं भवति ।  
शेषेणानिष्टकलम् । श्रवणरुक् कर्णरोगः । विधर्माश्रितैर्वैरं विरुद्ध-  
धर्माश्रितैर्विप्रतिपत्तिश्च भवति ॥ १६ ॥

अथ शुक्रदशाफलं चार्द्धविशोदितेनाह—

शौक्र्यां गीतरतिप्रमोदसुरभिद्रव्याक्षगनाम्बर-

स्त्रीरत्नद्युतिमन्मथोपकरणज्ञानेष्टमित्रागमाः ।

कौशल्यं क्रयविक्रये कृषिनिधिप्राप्तिर्धनस्यागमो

वैन्यव्य धनिपादधर्मरहितैर्वैरं शुचः स्नेहतः ॥ १७ ॥

इति । शौक्रदशायां गीतरतिः गीते गान्धर्वदेवयोगे रतिः  
प्रीतिः । आगमशब्दः ग्रन्थेकमविसम्बध्यते । शौक्र्यां गीतरति-  
प्रमोदस्यागमो भवति । गीतं च रतिश्च गीतरती । गीतशब्दो  
नृत्तवादित्रयोरप्युपलक्षणम् । गीतं गान्धर्वदेवयोग इत्यर्थः । रतिः

१. 'श्रुद्धेर्भुविर्धने प्राप्नोति । हेमा' ग. २. 'समाह' प. म. ३. 'वृन्दोर्भोजनि' म.

४. 'विधेहिता' ; ५. 'शुक्रस्य शौर्वा तस्यां द' क.

स्त्रीपुरुषसम्प्रयोगः वात्स्यायनादिशास्त्रप्रसिद्धचतुष्पाष्टिकलात्मकः ताभ्यां  
 प्रमोदः गीतरनिप्रमोदः । सुरभिद्रव्याणां कर्पूरकस्तूरिकादीनाम्,  
 अन्नपानयोः रमनेन्द्रियास्वाद्ययोः, अम्बरस्य वस्त्रस्य च, स्त्रियाः  
 कलत्रस्य च, रत्नानां स्वजातिश्रेष्ठानां, द्युतेः कान्तेः, मन्मथोपकरणानां  
 शयनोपधानताम्बूलादीनां च, ज्ञानस्य काव्यनाटकादिज्ञानस्य, इष्टस्य  
 मित्रस्य अभिलषितस्य वन्धोश्च, एतेषामागमः, सम्प्राप्तिः । पौनःपुन्यं  
 द्योतयितुं बहुवचनप्रयोगः । क्रयविक्रये कौशल्यं वाणिज्यं निपुणता ।  
 कृपिनिधिप्राप्तिः, कृपिकर्मणा निधेश्च धनस्यागमः, अर्थात् क्रय-  
 विक्रयाभ्यां कृपिकर्मणा निधिलाभेन च धनागमौ भवेद् इत्युक्तं  
 भवति । वन्यव्याधानिषादधर्मरहितैर्वैरम् । वन्या वनचराः, व्याधा  
 लुब्धकाः, निषादा हीनज्ञानयः, धर्मरहिताः पापण्डादयः, एतैर्वैरं  
 भवति । स्नेहनिमित्ताः शोकाश्च जायन्ते । मित्रायामुभयमपि भवति ।  
 [ ॥ १७ ॥

अथ मन्ददशाकं शार्दूलविक्रीडितेनाह —

सौरीं प्राप्य खरोष्ट्रपक्षिमहिषीवृद्धाङ्गनावासयः

श्रेणीग्रामपुराधिकाजनिता पूजा कुधान्यागमः ।

श्लेष्मेर्थानिलकोपमोहमलिनव्यापत्तितन्द्राश्रमा

भृत्यापत्यकलत्रभर्त्सनमपि प्राप्नोति च व्यङ्गताम् ॥१८॥

इति । सौरीं शनैश्चराम्बन्धिनीं दशां प्राप्य खरोष्ट्रपक्षि-  
 महिषीवृद्धाङ्गनावासयो भवन्ति । खराणामुष्ट्राणां पक्षिणां महिषीणां  
 वृद्धस्त्रीणां च प्राप्तयो भवन्ति । श्रेणीग्रामपुराधिकारजनिता पूजा ।  
 बहुनां समानजानीयानां सम्पातः श्रेणी । तस्यामधिकारो नियुज्यते  
 ग्रामे पुरे वा । श्रेण्यधिकारेण ग्रामाधिकारेण पुराधिकारेण च जनिता  
 पूजा । कुधान्यागमः वैरकड्यामादीनामागमः, एतैर्निमित्तभूतैर्धन-

१. 'नां कामकोडोपकरणानां च शय' . २. 'अ प्राप्तिः च' च ३. 'लताह'-  
 घ. ग. ; 'लान्याह-' घ. ह. ४ 'री द ख. घ. छ. ५. 'मायमुन्नतिहादीना' क.

मित्यर्थः । अनिष्टफलाभ्याह—श्लेष्मेर्ष्यानिलक्रोशमोहमलिनव्यापत्ति-  
तन्त्रीश्रया भवन्ति । श्लेष्मणा कफेन, ईर्ष्याया अश्रमया, अनिलेन  
वातेन, क्रोशेन अस्थानक्रोशेन, मोहेन अज्ञानेन, मलिनेन कुत्सित-  
कर्मणा, चौर्यादिना व्यापत्तिः, उक्तैः कारणभूतैर्जनिता व्यापत्तिश्च ।  
तन्त्री निद्रालस्ययोरन्तरे वर्तते । तस्या लक्षणं—

“हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रियगारमम् ।  
मनोयुद्धप्रमादश्च तन्द्राया लक्षणं त्रिदुः ॥”

इति । श्रमः देहमादः । एते च सम्भवन्ति । मृत्यापत्यकलत्रभर्तृनमपि  
भृत्यैः अपत्यैः कलत्रैर्म्यथ मत्तमनं तर्जनं प्राप्नोति ।  
व्यङ्गतां च व्याध्यादिनाङ्गच्छेदं च प्राप्नोति ॥ १८ ॥

अथ दशाफलाणां विषयविभागार्थं द्वादशा(पला)र्थं च उपशान्तिकथाह—

दशासु शस्तासु शुभानि कुर्व-  
न्त्यनिष्टसंज्ञास्वशुभानि चैवं ।  
मिश्रासु मिश्राणि दशाफलानि  
होराफलं लग्नपतेः समानम् ॥ १९ ॥

इति । शस्तासु दशासु शुभानि कुर्वन्ति इत्यन्वयः । सम्पूर्णा-  
पूर्णाशिरोहिणीमंजुस्वेन शुभानि कुर्वन्ति । अनिष्टमंज्ञास्वशुभानि कुर्वन्ति ।  
अनिष्टमंज्ञासु रिक्तानिष्टफलावरोहिण्यधमासु । मिश्रासु मिश्राणि दशा-

१ 'तन्त्री च श्रमश्च पुने सम्भव' ध ८ २ 'पुताम् प्राप्नोति मृ' ध ३, ४  
'न' य ध ८ ५ 'ण म स्व, 'ण च म ध ८ ६ 'कुत्सन म' ॥ ८ ७ 'ति य । म  
८ 'ताम् अङ्गैरुत्तम च प्रा', ९ 'एव श्रयं श्रयपुतामामिष्टफलानामनिष्टफलानां च  
निर्देश प्रति । उपय, विभाग दर्शयति—' १० 'वम् ।' ध ११ 'सु सर्वे  
प्रहा शुभानि फलान्येव कु क १२. 'न्ति । सम्पूर्णांशो हिमशास्त्रे ध १३ 'य । श्लोके  
यानि शुभान्यभिहितानि तानि च कुर्वन्ति, नेतराणि । अनिष्टमसु शुभान्येव,  
नेतराणि । मिश्रासु दशाफलानि मिश्राणि कुर्वन्ति शुभान्यशुभानि च । पुनश्च प्रतिबुद्धं  
स्वाशयानम् । होरा फ.



१ दशाकालोपयोग्यानां कर्मभोगविनाशविषयाणां चस्तुविशेषाणां पादभौतिकानां  
इत्येतानिर्णयाय ग्रहाणां स्वभूतगुणव्यञ्जकत्वं दर्शयति—

छायां महाभूतकृतां च सर्वे-

ऽभिव्यञ्जयन्ति स्वदशामवाप्य ।

कम्ब्वभिवाय्वम्बराजान् गुणांश्च

नासास्यदृक्त्वक्छूवणानुमेयान् ॥ २१ ॥

इति । सर्वे ग्रहाः स्वदशामवाप्य स्वां महाभूतकृतां छायां च  
अभिव्यञ्जयन्ति इत्यन्वयः । स्वामिति<sup>१</sup> “शिल्पिभूषणयोमरुद्राणां,  
वशिनो भूमिसुतादयः” इति द्युक्तं कुज आग्नेयीं बुधः पार्थिवीं गुरु-  
नाभमीं भृगुराप्यां शनिर्गार्थी च छायां स्वदशकाले पुरुषस्य  
अभिव्यञ्जयन्ति अभिमुखेन यथावद् व्यञ्जयन्ति । अत्र सर्वशब्दा-  
दादित्यचन्द्रावपि गृह्येते । ननु तयोर्महाभूताधिपतित्वं नोक्तम् ।  
नैष दोषः । आदित्यचन्द्रौ वयम्बवात्मकौ प्रसिद्धावेव । अत-  
स्तावपि बह्वयम्भसोरधिपती, न केवलं भौममितावेव । ततश्चाग्नेयीं  
छायां रविकृजावभिव्यञ्जयतः । छायामिति । छाया कान्तिविशेषः ।  
“वर्णमाक्रामति छाया” इत्युक्तलक्षणा छायात्र गृह्यते । तथाचोक्तं  
बाहटेन—

“त्वादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः ।

नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा संग्रभेव च ॥

वातजा रुचिरा श्यामा भस्मरूपा हृतप्रभा ।

विशुद्धरक्ता त्वग्नेयीं दीप्तमा दर्शनप्रिया ॥

शुद्धवैर्हर्षविमला सुस्निग्धा तोयजा शुभा ।

स्थिरा स्निग्धा धनश्यामा शुद्धा श्वेता च पार्थिवी ॥”

१. ‘अथ शरीररूपायादर्शनेन ग्रहदशाज्ञानार्थमिन्द्रियज्ञामाह—छा क; ‘अथ  
दशाकालोपयोग्यानां कर्मभोगविनाशविषयाणां चस्तुविषयाणां पञ्चभूतिविषयाणा-  
मिदंस्तानिर्णयाय ग्रहाणां स्वभूतगुणव्यञ्जकत्वं दर्शयति’— द. २ ‘प्य म’ क.

२. ‘ति कु’; ४. ‘अभिमुखेन’ घ द

इति । छायालक्षणम् आचार्येणापि संहितायामुक्तं—

“छाया शुभाशुभफलानि निवेदयन्ती  
लक्ष्या मनुष्यपशुपक्षिषु लक्षणज्ञैः ।  
तेजोगुणान् बहिरपि प्रतिमासयन्ती  
दीपप्रभा स्फटिकरत्नघटस्थितेव ॥

स्निग्धद्विजत्वङ्मखराम\*केशच्छाया सुगन्धाय महीसमुत्था ।  
तुष्ट्यर्थलाभाभ्युदयान् करोति धर्मस्य चाहन्यहनि प्रवृद्धिम् ॥

स्निग्धा मिता सहरिता नयनाभिरामा  
मौभाग्यमार्दवसुखाम्बुदयान् करोति ।  
सर्वार्थमिद्विजननी जननीव चाप्या  
छाया द्युमा तनुभृतां फलमादधाति ॥

चण्डा †धृष्टा पद्महेमाग्निवर्णा युक्ता तेजोविक्रमैः सप्रतापैः ।  
आग्नेयी च प्राणिनां स्वाज्याय क्षिप्रं सिद्धिं चाञ्छितार्थस्य धत्ते ॥

मलिनपरुपकृष्णा पापगन्धानिलोत्था  
जनयति वधवन्धव्याध्यनर्थार्थनाशान् ।  
स्फटिकमदृशरूपा भाग्ययुक्ताप्युदारा  
निधिरिव गमनोत्था ‡श्रेयसं स्वच्छवर्णा ॥”

इति । कम्बुअग्निवाय्वम्बरजान् गुणान् गन्धरसरूपस्पर्शशब्दलक्षणांश्च  
यथाक्रमं नासास्यदृक्त्वक्श्रवणानुमेयान् अभिव्यञ्जयन्ति । अत्रास्यशब्देन  
जिह्वेन्द्रियं विवक्ष्यते । बुधस्य दशायां बलवद्बुधराशिगतस्यान्यस्य  
दशायां वा बलवद्बुधयुक्तेक्षितस्य दशायां वा नामानुमेयद्रव्यलब्धिः ।

१. ‘व इति ॥, २. ‘ति । तथा कम्बुअग्निवाय्वम्बरजान् गुणांश्चाभिव्यञ्जयन्ति ।”  
भूमेर्गुणो गन्धः । अम्बुगुणो रसः । अग्निगुणो रूपम् । वायुगुणः स्पर्शः । आकाशगुणः  
शब्दः । कथमनुभूयितव्या गुणा इत्यत्राह — नासास्यदृक्त्वक्श्रवणानुमेयानिति ।  
नासाया नास्येन दशा त्वच्चा श्रवणेन चानुमेयान् । बुधस्य’ घ.

\* ‘केशाच्छाया’ इति, † ‘धृष्टा’ इति, ‡ ‘श्रेयसां’ इति मुद्रितसंहितापाठः ।

फलानि कुर्वन्ति । मिश्रासु मध्यामिश्रफलमंज्ञासु । मिश्राणि शुभ-  
फलानि अशुभफलानि च सङ्कीर्णमाणानि कुर्वन्तीत्यर्थः । होराफलं  
लग्नपतेः समानम् । होरा लग्नं तत्फलं तद्दशाफलं लग्नपतेर्दशाफलेन  
समानम् । लग्नपतेः लग्नाधिपग्रहोक्तफलवत् शुभमशुभं मिश्रं वा ।  
एतदुक्तं भवति — लग्नाधिपदशाफलवत् लग्नदशाफलमिति । एवं  
योगारिष्टा उक्ताः । तेषां भङ्गा अमी प्रोक्ताः । तथाच सारावल्यां—

प्रवेशे बलवान् खेटः शुभैर्वा मर्षिरीक्षितः\* ।

† सौम्यादिमित्रवर्गस्थो मृत्युकृत् भवेत् तदा ॥

अन्तर्दशाधिनाथस्य विचलस्य दशा यदा ।

बलिनः स्यात् तदा भङ्गो दशारिष्टस्य तद् ध्रुवम् ॥

शुद्धे च विजितो योऽसौ खेचरः स शुभो यदि ।

दशायां न भवेत् कष्टं ‡ खोद्यादिशुभमस्थिते ॥”

इत्यादि\* । लग्नदशाफलस्य लग्नपतिदशाफलतुल्यत्वे विशेषः पूर्वं  
चरादिषु द्रष्टव्येण प्रदर्शितः । एवं ग्रहाणां लग्नस्य च दशा-  
फलानि संक्षेपेणोक्तानि दद्यात् प्रदर्शितानि । अन्तर्दशानां पृथक्  
फलविशेषानुक्त्या “वर्धमपहत्य ददाति तु स्वमि”त्यग्रापहारोऽपि स्व-  
फलप्रदानस्योक्त्या च अन्तर्दशाफलमपि स्वस्वमूलदशाफलमित्युक्तं  
भवति । तथापि मूलदशान्तर्दशयोराधाराधेयत्वसम्भवाभ्यामन्तर्दशाधिपस्य  
धातुग्रहत्वेऽन्तर्दशाधिपस्य जीवग्रहत्वे च मति धातुकृतो जीवसम्भवो  
वक्तव्यः । विपर्यये जीवधातुर्वक्तव्यः । एवं मूलधातुर्धातुमूलं  
वा मूलजीवो जीवमूलं वा तेषां कर्म वा भोगो वा विनाशो वा भवतीति  
यथालक्षणं विमृश्य वक्तव्यम् ॥ १९ ॥

१. ‘नि फलानि अशुभानि शुभानि च मर्षी’ अ. २. ‘शफलं लग्नदशाफलं एता-  
पतेः लग्ना’ क. ३. ‘य’ । अन्तर्दशाफलस्य लग्नपति’ अ. छ. ४. ‘नि’ क. ५. ‘स’ स.  
६. ‘दि’ । अथ दशाधिपस्य विदोषं दर्शयति— सं’ क

\* ‘मुनिरीक्षितः’ इति, † ‘सौम्यादिमित्रवर्गस्थ’ इति, ‡ ‘खोद्यादिषु च  
संस्थितः’ इति च मुद्रितमाराधनीपाठः ।

पुनरुद्देशनायाह—

\*संज्ञाध्याये यस्य यद् द्रव्यमुक्तं  
कर्माजीवे यस्य यच्चोपदिष्टम् ।  
भावस्थानालोकयोगोद्भवं यत्  
तत्तत् सर्वं तस्य योज्यं दशायाम् ॥ २० ॥

इति । संज्ञाध्याये यस्य यद् द्रव्यमुक्तं, यस्य ग्रहस्य  
यद् द्रव्यं ताम्रादि,

“चन्द्रारोमर्गमोर्ध्वातुर्मूलं किलावर्जशुक्राभ्याम् ।  
जीवो जीवबुधाभ्यां सेपाश्विन्यादि धात्वाद्याः ॥”

इत्याद्यन्यशास्त्रेषु विस्तरेणोक्तं च, अत्र यस्य यद् द्रव्यमित्यनेन  
विगदितम् । तत्सर्वं तस्य दशायां योज्यं योजनीयम् । तथा  
कर्माजीवे च यस्य यदुपदिष्टं, कर्मेति शेषः । भावस्थानालोकयोगो-  
द्भवं च मार्गैर्लगादिभिः स्थानैर्मेषादिभिरालोकेन दृष्ट्या योगेन  
ग्रहयोगेन उद्भूतानि च फलानि तत्तत् सर्वं तस्य दशायां योज्य-  
मिति सम्बन्धः । तथा भावोद्भवं “शूरः स्रग्धो विकलनयनः”  
इत्येवमादि च, तथा स्थानोद्भवं “कुलसमकुलमुख्य” इत्येवमाद  
“प्रथितधतुरोऽष्टन” इत्यादि च, यथालोकोद्भवं फलं “चन्द्रे  
भूपबुधा” इत्यादि, तथा योगोद्भूतानि “०कर्मधतुरादिभिः” इत्यादि  
वक्ष्यमाणानि च दशासु योजनीयानीत्यर्थः । योगकर्तृग्रहाणां बहुत्वे  
तेषां मध्ये यो बलवान् तस्य दशायां योज्यमिति भावः । नाभस्त-  
योगास्तु सकलदशास्त्वपि फलप्रदाः । वक्ष्यति च— “इति निगदिता  
योगाः मार्गं फलैरहि नाभस्तः नियतफलदाश्चिन्त्याश्चैवे समस्त-  
दशास्तपीति ॥ २० ॥

१. ‘च’ ता. घ. २. ‘वफलानि स्थानकानि दृष्टिफलानि योगफलानि वक्ष्य-  
माणानि दशासु ह ३. ‘यं ॥२०॥ घ ह

\* क. ग. अस्य लोकस्य समस्तग्रहाणां भावस्थानां मार्गपञ्च  
अन्यथान सर्वं निरूपयन्त इत्येव ।

दशाकालोपभोग्यानां कर्मभोगविनाशविषयाणां वस्तुविशेषाणां पञ्चभूतिकानां  
इयत्तानिर्णयाय ग्रहाणां स्वस्वभूतगुणव्यञ्जकत्वं दर्शयति—

छायां महाभूतकृतां च सर्वे-

ऽभिव्यञ्जयन्ति स्वदशामवाप्य ।

कम्ब्वस्त्रिवाय्वम्बरजान् गुणांश्च

नासास्यदृक्त्वक्छूत्रणानुमेयान् ॥ २१ ॥

इति । सर्वे ग्रहाः स्वदशामवाप्य<sup>१</sup> स्वां महाभूतकृतां छायां च  
अभिव्यञ्जयन्ति इत्यन्वयः । स्वामिति<sup>२</sup> । ‘शिखिभृन्वपयोमरुद्गणानां,  
वशिनो भूमिसुतादयः’ इति द्युक्तं कुज आग्नेयीं बुधः पार्थिवीं गुरु-  
नाभमीं भृगुराप्यां शनिर्मायवीं च छायां स्वदशाकाले पुरुषस्य  
अभिव्यञ्जयन्ति अभिमुखेन यथावद् व्यञ्जयन्ति । अत्र सर्वशब्दा-  
दादित्यचन्द्रावपि गृह्येते । ननु तयोर्महाभूताधिपतित्वं नोक्तम् ।  
नैष दोषः । आदित्यचन्द्रौ ब्रह्मम्बवात्मकौ प्रसिद्धावेव । अत-  
स्तावपि बह्व्यम्भमोरधिपती, न केवलं भौममितावेव । तद्व्याग्नेयीं  
छायां रविकृजावभिव्यञ्जयतः । छायामिति । छाया कान्तिविशेषः ।  
‘वर्णमाक्रामति छाया’ इत्युक्तलक्षणा छायात्र गृह्येते । तथाचोक्तं  
वाहटेन—

“त्वादीना पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः ।

नाभसी निर्मला नीला सखेहा सप्रभेव च ॥

यातजा रुचिरा श्यामा भस्मरूपा हतप्रभा ।

पिशुद्धरक्ता त्र मेयी दासि भा दर्शनप्रिया ॥

शुद्धवैदर्भ्यविमला सुस्निग्धा तायजा शुभा ।

धिरा स्निग्धा घनश्यामा शुद्धा श्वेता च पार्थिवी ॥”

१. ‘अथ दशरिक्छायादर्शनेन ग्रहदशाज्ञानार्थमिन्द्रवज्रमाह— छाया, ‘अथ  
दशाकालोपभोग्यानां कर्मभोगविनाशविषयाणां वस्तुविशेषाणां पञ्चभूतिविषयाणां-  
मिदन्तानिर्णयाय ग्रहाणां स्वस्वभूतगुणव्यञ्जकत्वं दर्शयति— ८. २ ‘व्य म’ क  
१. ‘ति वृ ; ४. ‘नाभिसमुपेय च द’

इति । छायालक्षणम् आचार्येणापि संहितायामुक्तं—

“छाया शुभाशुभफलानि निवेदयन्ती  
लक्ष्या मनुष्यपशुपक्षिषु लक्षणज्ञैः ।  
तेजोगुणान् बहिरपि प्रतिमासयन्ती  
दीपप्रभा स्फटिकरत्नघटस्थितेव ॥

स्निग्धाडिजत्वङ्नखराम\*केशच्छाया सुगन्धाथ महीसमुत्था ।  
तुष्ट्यर्थलाभाभ्युदयान् करोति धर्मस्य चाहन्यहनि प्रवृद्धिम् ॥

स्निग्धा मिता सहरिता नयनाभिरामा  
मौमाग्यमार्दवसुखाभ्युदयान् करोति ।  
सर्वार्थमिद्धिजननी जननीव चाप्या  
छाया शुभा तनुभृतां फलमादधाति ॥

चण्डा धृष्टा यज्ञहेमाग्निवर्णा युक्ता तेजोविक्रमैः सप्रतापैः ।  
आग्नेयी च प्राणिनां स्याज्जवाय क्षिप्रं सिद्धिं वाञ्छितार्थस्य धत्ते ॥

मलिनपरुपकृष्णा पापगन्धानिलोत्था  
जनयति वधवन्धव्याध्यनर्थार्थिनाशान् ।  
स्फटिकमदृशरूपा भाग्ययुक्ताप्युदारा  
निधिरिव गगनोत्था श्रेयसं सञ्चरवर्णा ॥”

इति । कम्बुअग्निवायव्यस्वरुजान् गुणान् गन्धरसरूपस्पर्शशब्दलक्षणांश्च  
यथाक्रमं नामास्यदृत्स्वकृद्गुणानुमेयान् अभिव्यञ्जयन्ति । अत्रास्यशब्देन  
जिह्वेन्द्रियं विवक्ष्यते । बुधस्य दशायां बलवद्बुधराशिगतस्यान्यस्य  
दशायां वा बलवद्बुधपुक्तेक्षितस्य दशायां वा नासानुमेयद्रव्यलब्धिः ।

१. ‘व इति ॥, २. ‘ति । तथा कम्बुअग्निवायव्यस्वरुजान् गुणांश्चाभिव्यञ्जयन्ति ।  
भूमेर्गुणो गन्धः । अग्निगुणो रसः । अग्निगुणो रूपम् । वायुगुण, स्पर्शः । आकाशगुणः  
शब्दः । कथमनुमेयितव्या गुणा इत्यत्राह — नासास्यदृत्स्वकृद्गुणानुमेयानिति ।  
नासाया आस्येन दत्ता त्वेवा श्रवणेन चानुमेयान् । बुधस्य’ ध.

\* ‘केशाच्छाया’ इति, § ‘छप्या’ इति, ‡ ‘श्रेयसां’ इति मुद्रितसंहितापाठः ।

तथा शुक्रस्य दशायां जिह्वानुमेयगुणानां सम्भवो निर्देश्यः । इत्यादि  
 द्रष्टव्यम् । यस्य जातकमणित, तस्य शरीरच्छायां दृष्ट्वा वर्तमान-  
 ग्रहदशा ज्ञातव्येत्येतदाह— यदा स्वयं सुगन्धः पुरुषो भवति सक्-  
 चन्दनानुलेपनसुरभिद्रव्यवांश्च, तदा तस्य पार्थिवी बुधकृता छाया  
 ज्ञेया । यदा मधुराम्लादिमृष्टरसभोजी, तदा तस्य चन्द्रशुक्रकृताप्या  
 ज्ञेया छाया । यदा च रूपवान् दर्शनीयो भवति तदादित्या-  
 झारकपोरन्यतरकृताग्नेयी छाया ज्ञेया । यदा स्पर्शने मृदुर्भवति  
 स्त्रीस्तनस्पर्शनाद्यभिरतश्च, तदा ज्ञनैश्वरकृता वायवी छाया । यद  
 च वचनं पुरुषस्य कर्णसुम्भकं भवति स्वयं गीतवादित्रश्रोत्रमुख-  
 काव्यकथाव्याख्यानाद्यभिरतश्च, तदा तस्य जीवकृता नाभसी छाया  
 ज्ञेयेति । एवं सर्वे ग्रहाः स्वां स्वां दशां शुभामशुभां वावाप्यं  
 छायां स्वस्वामिकपृथिव्यम्ब्रादिमहाभूतममृत्यां घ्राणरसनाद्यवगतगन्ध-  
 रसाद्यनुमेयां यथोक्तलक्षणां पुरुषेऽभिव्यञ्जयन्ति । तथा तद्ग्रह-  
 दशा वर्तत इत्यवगन्तव्यम् ॥ २१ ॥

देशाकाले फलभोक्तुः पुरपस्वावस्थो दर्शयति—

शुभफलददशायां तादृगेवान्तरात्मा

बहु जनयति पुंसां सौख्यमर्थागमं च ।

कथितफलविगैस्तर्कयेद् वर्तमानां

परिणमति फलोक्तिः स्वप्नन्विन्तास्ववीर्यैः ॥ २२ ॥

इति । शुभफलददशायां पुंसामन्तरात्मा तादृगेवैत्यन्वयः ।

शुभफलदस्य ग्रहस्य दशायां तद्वत्पुरुषस्यान्तरात्मा तादृक्, यादृशो  
 ग्रहः शुभफलं ददाति तादृशः । रविशीतम् चेद् राजसदृशः,

१. 'यां बलवच्छुक्रराशिगतस्य दशायां वा बलवच्छुक्रैश्वर्ययुतदशायां वा जिह्वा' ; २. 'व्यम् ॥ २१०' घ. ३. 'न जटनतैकगणकं व्यक्षमाणाभ्यासी च (?) तदा सूर्यभौमकृतान्नेयी छाया । य' ख. ४. 'अथ दशायामन्तरात्मनः स्वरूपं (शांता)लिन्याह' क. ५. 'च। शु' घ.

क्षितिसुतेश्चेत्तत्सदृशः इत्यादि । बहु सौख्यमर्थागमं च जनयति । तत्सदृशं सौख्यं तत्सदृशमर्थागमं च बहु भूरि जनयति । पौरुष-मुत्पादयतीत्यर्थः । अर्थादेवाशुभफलददशायां तदधमैः सादृश्यं दुःख-मर्थक्षयं बहु जनयतीत्युक्तं भवति । अतएव कथितफलविपाकैः नरादन्तादिनिमित्तधनागमादिभिः कथितैः शुभफलविपाकैः तथा भार्या-पुत्रनिमित्तव्यापदुद्भवादिभिरनिष्टफलविपाकैर्हेतुभिः सूर्यस्य दशां वर्त-मानां तर्कयेत् धूमवर्षेण हेतुनाग्निमत्त्वमवानुमानेन तर्कयेत् कल्प-येदित्यर्थः । किं धूमाग्न्योरिव दशाफलदश्यानि यता व्याप्तिरित्य-ग्राह— परिणमति फलोक्तिरिति । उक्तानां फलानामवश्यभावित्व-मस्तीति तवीर्यैः वीर्यशालिभिः ग्रहैरुक्तानि फलानि परिणमन्त्येव, अवीर्यैः वीर्यशून्यैः ग्रहैरुक्तानि फलानि स्वप्नेषु वा चिन्तासु वा परिणमन्तीत्यत्र विशेषो द्रष्टव्यः । चलवद्भिर्ग्रहैः फलानां साक्षा-दनुभवः परिणमति । चलशून्यैः स्वप्नेन वा मनोराज्येन वा अनुभवः परिणमतीति नियमात् फलानुभवेन ग्रहदश्यानुमानं सम्भवत्येव ॥ २२ ॥

यद्येवं फलानामवश्यानुभवाधीनत्वं नियतं, तर्हि महान् सङ्कटः । मेघलग्नजातस्य धूपभस्मे कुजे लग्नाधिपत्वेन धनवृद्धिकरत्वं मष्टमाधिपत्वेन धनहानिकरत्वं च युगपत् सम्भवत इत्यादिषु कथं निर्गह इत्याह—

एकग्रहस्य सदृशे फलयोर्विरोधे

नाशं वदेद् यदाधिकं परिपच्यते तत् ।

नान्यो ग्रहः सदृशमन्यफलं हिनस्ति

स्वां स्वां दशामुपगताः स्वफलप्रदाः स्युः ॥ २३ ॥

इति । एकग्रहस्य सदृशे फलयोर्विरोधे नाशं वदेदित्यन्वयः ।

१. 'तो नेतृ' २. 'हुमर्भवति' छ ३. 'विणोत्पा' छ ४. 'मदृदशा' - ह. ५. 'यं च यं' छ ६. 'कैर्वर्तमानो दशा तर्कयेत् । कथितफलविपाकैः' म. छ. ७. 'वरादिहे' छ ८. 'ति । वीर्यशा' म. 'त्यर्थ । वीर्यशा' ह. ९. 'हैविपति' छ. १०. 'न्यैर्ग्रहे' स्व. ११. 'पुनरपि फलविशेष चमन्तनिलकेनाह—' छ



एकस्य ग्रहस्य केनापि निमित्तेन वृद्धिकरत्वम्, अन्येन निमित्तेन हानिकरत्वं च सम्भवति चेत्, सदृशो विरोधः । तत्र तयोः फलयोर्नाशं वदेत् । तस्य भावस्य वृद्धेर्हानिर्वा नाशम् अदर्शनं वदेदित्यर्थः । तेन ग्रहेण तस्य भावस्य वृद्धिर्वा हानिर्वा न वक्तव्येति यावत् । एवं परस्परवाधया फलसम्भवामात्रे वक्तव्येऽपि विशेषमाह— यदाधिकं तत् परिपच्यते इति । तयोरेकं प्रति राश्यंशकयोगेक्षणादिभिः कारणैराधिक्यमस्ति चेत्, तत्फलं परिपच्यते दृश्यते इति यावत् । आधिक्येन परिपाकोक्त्या दर्शनेऽपि तारतम्यं वक्तव्यमिति द्योत्यते । एकग्रहस्य फलयोर्विरोधे एवं निर्वाहोऽस्तु । उभयोर्ग्रहयोः सदृशफलयोर्विरोधे कथमित्यग्राह — अन्या ग्रहः सदृशमन्यफलं न हिनस्ति । कुजस्य फलमधर्मनिरतेषु प्रीतिः । अधर्मनिरतेषु वैरस्य फलकर्ता गुरुः न हिनस्ति न नाशयति । द्वयोरपि फलयोः सम्भव एव वक्तव्यः । तत् कथमित्यग्राह— स्वां स्वां दशामुपगताः स्वफलप्रदाः स्युरिति । कुजः स्वदशायामधर्मनिरतेषु प्रीतिं जनयति । गुरुः स्वदशायामधर्मनिरतेषु वैरं जनयति इत्यादि स्वस्वदशाकालभोग्यत्ववशात् सदृशग्रहविरोधेऽपि अविरोधेन फलं वक्तव्यमित्यर्थः । एष न्यायः वस्तुनिर्देशप्रकरणेऽपि । राश्यंशकयोगेक्षणादिभिः वस्तुनां विशेषनिरूपणे स्वरूपवर्णगुणादिषु परस्परविरोधप्राप्तावेवमेव न्याय इति सूच्यते ॥ २३ ॥

इति होराविवरणेऽष्टमोऽध्यायः ॥

१. 'योः फलयोरे' घ. ट. २. 'शामो'; ३. 'वं' क. ४. 'मिरग्र द्वयोरपि फलयोः सम्भव एव वक्तव्यः । तत् कथमित्यग्राह— स्वां स्वां दशामुपगताः स्वफलप्रदाः स्युरिति । कुजः स्वदशायामधर्मनिरतेषु प्रीतिं जनयति । गुरुः स्वदशायां वैरं जनयति इत्यादि वस्तुनां घ. ५. 'ति चात्र द्योत्यते ॥ २३ ॥' घ. ट.

## अथ नवमोऽध्यायः ।

१ दृढकर्मोपाजितस्य दुःखान्तरादिविषयस्य २ शुभाशुभविशेषस्य कालविशेषानुप-  
दिश्येदानीमदृढकर्मनिबन्धनस्य गोचरफलस्वरूपस्य शुभाशुभविशेषस्य कालविशेषान्  
प्रदर्शयितुमष्टकमंगमाह— 'स्वादर्कः' इत्यादिभिः मन्त्रभिः स्तोत्रैः । शनैश्चरसुराशुभौमार्क-  
शुक्रबुधचन्द्रमङ्गलमकरयाष्टकस्य अनन्तरकाले येषु राशिषु स्थितिः, तेभ्योऽष्टम्योऽप्यारभ्य  
राशिद्वादशके परतो ग्रहाणां सप्तानां यत्र यत्र राशौ चारकाले शुभप्रदत्वं भवति, तेषां  
स्थानानां धर्मः समुच्चयस्योऽष्टकवर्गशब्देनोच्यते । अथादिव चारकालेऽनुचरादिषु  
स्थितानामशुभप्रदत्वं शोकं भवति । वक्ष्यति च— "इति निगदितमिष्टं नेष्टमन्यदि"ति ।  
तत्र प्रथममादित्यस्याष्टकवर्गं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

स्वादर्कः प्रथमायचन्धुनिधनद्व्याज्ञातपोधूनगा

वक्रात् स्वादिव तद्वदेव रविजाच्छुक्रात् स्मरान्त्यारिषु ।

जीवाद् धर्मसुतायशत्रुषु दशन्यायारिगः शीतगो-

स्तेष्वेवान्त्यतपरसुतेषु च वृंधाछुक्रात् सवन्ध्वन्त्यगः ॥ १ ॥

इति । तृतीयश्लोकस्थितः शुभशब्दः सिंहावलोकितन्यायेना-  
ग्राप्यनुर्ह्यते । अर्कः स्वात् प्रथमायचन्धुनिधनद्व्याज्ञातपोधूनगाः शुभः  
स्वात् । स्वात् स्वाधिष्ठितराशेरित्यर्थः । एवमुत्तरत्र वक्रादित्यादिषु  
वक्राद्यधिष्ठितराशेरिति द्रष्टव्यम् । प्रथमशब्देन स्वाधिष्ठितराशिर्हच्यते ।  
तदादिषु यथोक्तेष्वष्टसु स्थानेषु गच्छन् शुभः १ शुभप्रदो भवति ।  
तदतिरिक्तेषु तृतीयपञ्चमपष्ठम्येषु गच्छन् अशुभप्रदो भवति  
इत्यनुक्तमप्यवगन्तव्यम् । वक्रात् स्वादिव, भांमाधिष्ठितराशेः स्वो-  
क्तवत् १ । प्रथमायचन्धुनिधनद्व्याज्ञातपोधूनगा इति यावत् । रविजात्

१. 'अथ मरुद' च २. 'य काल' घ. 'य गो' ड. ३. 'शुभाशुभविशेषस्य  
गोचरफलामकस्य काल' ड. ४. 'प्य' च. ५. 'दिम' घ; 'दिभिः स्तो' च.  
६. 'कवर्गस्य' घ. ७. 'तेषु ये' च ८. 'द्वादशराशिषु' च ९. 'नां एतस्य चर' च.  
१०. 'गो' प्रदर्शयते—' घ. ड. च. ११. 'नुचरते' क. घ. ड. च. १२. '६ मपत्र व' ड.  
१३. 'भाशु' क. १४. 'ए शुक्रा' च.

निपूर्वादस्यतेः' लोटि मध्यमपुरुषैकवचनं, निधेहीत्यर्थः । तिर्यग्विश्वे-  
तिर्यग्विश्वीनास्त्रयोदश रेखा ऊर्ध्वनन्दा अध ऊर्ध्वा नव रेखा यथा  
भवन्ति, तथा चक्रं निधेहीति शिष्यं प्रति गुरोरुक्तिः । गिरिगिरिश-  
पदमिति चक्रस्य विशेषणम् । गिरयः सप्त । गिरिशा एकादश ।  
पदशब्देन तिर्यगूर्ध्वयां रेखयोः सम्पात उच्यते । गिरिगिरिश-  
सङ्ख्यानि पदानि यस्येति बहुव्रीहिः । सप्तदशाधिकशतसङ्ख्यैः  
तिर्यगूर्ध्वरेखासम्पातयुक्तमित्यर्थः । (तथाकृते चक्रे?) । तथाकृतस्य  
चक्रस्योर्ध्वं तदूर्ध्वं । लग्नायां राशयः स्युः । अध ऊर्ध्वाः लग्ना-  
दयो द्वादश राशयो भवेयुः । कीदृशराशयः । ग्रहगणेन सहिताः

भावाधितफलं पूर्वं भावाधिपफलं पुनः ।

ग्रहयुक्तेषु वक्तव्यं शिष्टे भावाधिपात् फलम् ॥

इति वचनात् । अत्र चक्रे उपरि कोष्ठद्वादशकं लग्नकक्षेयुक्तं भवति । तस्याधः  
सौरिमुख्यं शनैश्चरादिकं ग्रहगणं कक्ष्याक्रमेणोपरि न्यस्य तस्य लग्नकक्ष्याकोष्ठ-  
द्वादशकस्याधः सप्त कोष्ठद्वादशगणानि सन्ति । तेषामधक्षाने कोष्ठे सौरिं तत्र  
उपरितने गुरुं तत्र उपरितने भौमं तस्यादर्के ततः शुक्रं ततो बुधं तत्र उपरि-  
तने चन्द्रं च न्यस्येत्यर्थः । एवं कृत्वाष्टकवर्गोदितसद्विहितफलभागाष्टके विन्दुरेखाः  
प्रस्तार्या इत्यन्वयः । सद्विहितफलभागाष्टके सत्फलान्युक्तस्यानानि भविताफलानि  
अनुक्तस्यानानि । एवंरूपाणामुक्तानुक्तानां भागानामष्टके सस्वचक्रे स्वचक्रेण सहिते  
स्वस्वकक्ष्याचक्रसहिते । लग्नादिद्वादशराशिषु पादौनचतुर्भागात्मका आदिमा  
अक्षरसंख्यां शुभाशुभप्रमाणा अष्टमभागाः सौरिकक्ष्या । तथा 'द्वितीयाष्टमभागाः  
सुरगुरुकक्ष्या इत्यादि द्रष्टव्यम् । अतः सस्वचक्रे भागाष्टके इत्युक्तम् ।  
विन्दुरेखाः, यत्र सरफलं तत्र विन्दुनिक्षेपः । यत्राहितफलं तत्र रेखा च निक्षेप्या ।  
अत्र प्रस्तारे अर्कस्य स्वकक्ष्यायां स्वाधिष्ठिताद् राशेरारभ्य प्रथमाष्टकानुनिधन-  
द्वाकांशातपोयुक्तेषु विन्दुनिधातव्यः । तृतीयपञ्चमषष्ठयष्टेषु रेखा निधातव्या ।  
यक्रान् म्यादिवेति । यक्रकक्ष्यायां यक्राधिष्ठितराशेरारभ्य यथोक्तानुक्तस्थानेषु विन्दु-  
रेखाः कर्तव्याः । प्रथमन्यास्वपि कक्ष्यासु यथोक्तविन्दुरेखाविन्यासः कर्तव्यः । एवं  
प्रस्तारविधिः । एवं सप्तानां ग्रहाणामपि प्रस्तारः कर्तव्यः । अत्र पृथक्पृथक्कक्ष्यासु  
ग्रहचारेण फले वक्तव्ये कक्ष्याधिपप्रस्तावे कक्ष्यास्वग्रहचाराच्च तत्रत्यपद्वर्गवशाच्च  
नितोक्षकग्रहचाराच्च फलविज्ञेया वक्तव्याः । यलायलविज्ञेयाद् ऊहापोहपटुभिरन-  
धरतमाराधितनिजैष्टदेवतागुरभिरवधानपरिदैवजैरेवमष्टकवर्गविधानेन गोधरफलानि नि-  
यतविषयदर्शान्तर्द्देशफलैः सह यथोक्तकालविज्ञेयेषु निर्देष्टव्यानि ॥१॥ च'क. ग.

चारवशात् सम्प्राप्तैः सूर्यादिभिर्ग्रहैः सहिताः । शिष्टमिष्टस्य सञ्च ।  
शिष्टं ग्रहगणराहितमित्यर्थः । तदिष्टस्य ग्रहस्य सञ्च, क्षेत्रमिति वेदि-  
तव्यम् । फलनिरूपणे राशीनां ग्रहयोगे मति ग्रहेण फलं वक्त-  
व्यम्, ग्रहाभावे राश्यधिपेन फलं वस्तव्यमित्यर्थः । इति पूर्वार्धेन  
चक्रविन्यासः प्रदर्शितः । तत्र चक्रे अध ऊर्ध्वासिनाः लग्नात् प्रभृति  
द्वादश राशयः कल्प्याः । पुनरेकैकत्र राशौ तिर्यक्सिताः पादोनम-  
चतुष्कप्रमाणाः शुभाङ्गादिवाक्यैरवसन्तव्या अष्टाष्टौ कोष्ठाः सम्भवन्ति ।  
अत्राह — तत्रोधः सौरिसुख्यं<sup>१</sup> ग्रहगणप्रदयमापि च कक्ष्याक्रमेण  
प्रस्तार्य<sup>२</sup> स्वस्वचक्रे फलपदभागाष्टके विन्दुरेखा लिख इत्यन्वयः ।  
सौरिसुख्यं ग्रहगणं शनैश्चरसुरगुरुमार्कशुकबुधचन्द्रानित्यर्थः । उदय  
लग्नराशिं च । तस्य<sup>३</sup> चक्रस्याधः लग्नराशिस्येष्टु अष्टसु कोष्ठेष्वित्यर्थः ।  
कक्ष्याक्रमेण नतु वारक्रमेणेत्यर्थः । कक्ष्याक्रमः एतत्तु कालहोराक्रमः ।  
यथोक्तमार्थभटेन —

“सप्तैते होरेष्टाः शनैश्चराद्या पथाक्रमं शीघ्राः ।

शीघ्रक्रमाचतुर्था मरन्ति सूर्योदयाद् दिनपाः ॥”

इति । तस्मादथ प्रथमकोष्ठः शनिरुक्ष्य<sup>४</sup> इत्यादि । अष्टमकोष्ठो  
लग्नरुक्ष्य<sup>५</sup> । एवं कक्ष्याक्रमः सर्वराशिषु ज्ञेयः । तद्वशात्  
प्रस्तार्य, यथोक्तक्रमेण लग्नादिर्राशिकोष्ठाष्टकेषु शनैश्चरभदीन् कल्प-  
येदित्यर्थः । फलपदभागाष्टके इति । फलानां ‘स्वादर्कः’ इत्यादिभि  
रुक्तानां पदे स्थानभूते कोष्ठाष्टके । विन्दुरेखाः विन्दवा रेखाश्च  
विन्दुरेखाः ता लिख, यथोद्दिष्टेषु स्थानेषु विन्दून् लिख, अनुक्त-  
स्थानेषु रेखाश्च लिख । एव विन्दुरेखालेखने कृते चक्रम्विताः  
पण्णमतिकोष्ठाः पूरिता भवन्ति । तद्यथा — स्वादर्क इत्यस्य प्रस्तारः

१ ‘स्य’, २ ‘इ’ ३ ‘स्याथ तस्य च’, ४ ‘क्ष्या द्वितीय गुरुगुरुक्ष्या,  
मृतीयो भौमरुक्ष्या, चतुर्थकोष्ठ’ मूर्य, पञ्चम बुधस्य षष्ठ, षष्ठ बुधस्य, सप्तम  
शुक्रस्य, अष्ट, ५ ‘क्रमः तद्वशात्’, ६ ‘दिविनिष्टको’, ७ ‘स्य ता’, ८ ‘स्वादर्क’  
न्तरगादिमास्य विन्दवः स्थाप्या । अनुक्तेषु इत्यस्य प्रस्तारः — रु

तद्वदेव । शनैश्चरादपि प्रथमायवन्धुनिधनव्याज्ञातपोद्यूनग इति यावत् । शुक्रात् सरान्त्यारिषु त्रिषु शुभः, शिष्टेषु नवस्वशुभः । जीवाद् धर्ममुनायशत्रुषु चतुर्षु शुभः । शीतगोः दशव्यायारिषु चतुर्षु शुभः । बुधात् तेष्वेव दशव्यायारिष्वेव अन्त्यतपस्सुतेषु द्वादशनवमपञ्चमेषु च सप्तसु स्थानेषु शुभः । लग्नात् सवन्ध्वन्त्यगः । तेष्वेवेत्यनुवर्तते । दशव्यायारिषु बन्ध्वन्त्ययोश्च शुभः । एवमष्टचत्वारिंशत्स्थानेषु शुभः, अनुकनेष्वष्टचत्वारिंशत्स्थानेष्वशुभश्च भवति । ननु एवमादित्यचारेणावगन्तव्यानां शुभाशुमानां त्रिंशत्तिथ्यात्मकसौरमासान्तर्गतत्वेन तटाकान्तर्गतमीनवत् कुत्रेदं भवतीत्यनवगमाद् अष्टकवर्गफलोक्तिर्ग्रहीतुमशक्यैव । मन्दः मा मैवं, तदवधारणप्रकारसूचनाय आचार्येण श्लोकस्यान्ते लग्नात् सवन्ध्वन्त्यग इत्युक्तम् । किं तेनेति चेत् । सर्वसौरमासानामन्त्ये लग्ननिमित्तार्कचारशुभाशुमनिर्देश इति धोतायितुं तथोक्तम् । अतो ज्ञायते सर्वराशीनामन्त्ये लग्नकक्ष्येति<sup>१</sup> । ग्रहाणां कक्ष्याक्रमस्तु प्रसिद्धः । कथमिति चेत् । तथाद्वार्यमटेनोक्तं—

“शनैश्चरसुरगुरुभौमार्कशुक्रबुधचन्द्राः ।

सप्तमे होरेक्षाः शनैश्चराद्या यथाक्रमं शीघ्राः ।”

इति । तत्र लग्नकक्ष्या नोक्ता, राशीनां घनभूमध्यादारभ्य आ-  
ग्रह्याण्डकटाहभित्तिव्याप्तत्वनिर्देशेन कुत्र लग्नकक्ष्येति ज्ञानासम्भवः ।  
फलकथनाय लग्नकक्ष्यास्थानमवश्यं वेदितव्यं च । अतस्तन्निर्धारणाय  
लग्नस्यान्ते निर्देशः कृत इति वेदितव्यम् । अतो राशीनामष्टधा  
विभाग पादोनचतुर्भागात्मके प्रथमो भागः शनैश्चरकक्ष्या । द्वितीयः  
सुरगुरुकक्ष्या । तृतीयो भौमकक्ष्या । चतुर्थः सूर्यकक्ष्या । पञ्चमः  
शुक्रकक्ष्या । षष्ठो बुधकक्ष्या । सप्तमश्चन्द्रकक्ष्या । अष्टमः पादोन-  
चतुर्भागात्मको राशिभोगो लग्नकक्ष्येति सर्वेषु राशिषु द्रष्टव्यम् ।  
एवं द्वादशसु राशिषु अष्टधा विभक्तेषु पण्यवतिप्रमाणाः कक्ष्या  
भवन्ति । तत्रार्कः स्वाधिष्ठितराशेरारभ्य यथोक्तराशिषु स्वकीय-]

१. 'पु शु' द. २. 'पु बन्ध्वन्त्ययोश्च शु'; 'पु म' ह. ३. 'ति क' च.  
४. 'लग्नयना' द. ५. 'ति कक्ष्ये' च.

कक्ष्याचारकाले शुभं ददाति, अनुक्तराशिषु स्वकीयकक्ष्याचारकाले-  
ऽशुभं च ददाति । तथा वक्राधिष्ठितराशेरारम्भ यथोक्तराशिष्व्वात्मनो  
वक्रकक्ष्याचारकाले शुभं ददाति, अनुक्तराशिष्वशुभं च ददाति ।  
एवमष्टास्वपि कक्ष्यासु तत्तत्कक्ष्याधिपस्थितराशेरारम्भ यथोक्तराशिषु  
तत्तत्कक्ष्यायां चरन् शुभं ददाति, अनुक्तकक्ष्यास्वशुभं च ददाति ।  
एवं<sup>३</sup> द्वादशसु मासेषु पण्णवतिफलानि कक्ष्याचारवशाद् निर्देश्यानि ।  
तथा चन्द्राष्टकवर्गेण सप्तविंशतिनलत्रात्मके चन्द्रपर्यये किञ्चिद्नसप्त-  
दशनाडिकात्मकचन्द्रकक्ष्याचारवशात् पण्णवतिफलानि निर्देश्यानि ।  
एवमर्कचारवशाच्चन्द्रचारवशाच्च गोचरफलानि कुशाग्रीयधिया यथा-  
स्वकालं तत्रै तत्र वक्तव्यानि । अत्राष्टकवर्गे कक्ष्याचारफलसुखाव-  
बोधाय तैत्प्रस्तारोऽवगन्तव्यः । तद्यथा—

“तिर्यग्विश्वोर्ध्वनन्दं गिरिगिरिशपदं न्यस्य चक्रं तदूर्ध्वं  
लघ्नाद्या राशयः स्युर्ग्रहगणसहिताः शिष्टमिष्टस्य सप्त ।  
तस्याधः सारिमुख्यं ग्रहगणमुदयं चापि कक्ष्याक्रमेण  
प्रस्तार्यै स्वस्वचक्रे” लिख फलपदभागाष्टके विन्दुरेखाः ॥”

अस्यार्थः — तिर्यग्विश्वोर्ध्वनन्दं चक्रं न्यस्य इत्यन्वयः । न्यस्येति

१. 'ति एवमष्टास्वपि कक्ष्यायुक्ते तथा'; २. 'क्त आत्मनो' छ ३. 'वं च द्वा' ग च.  
४. 'त्र व' घ घ ५. 'तत्तत्प्रकारो' छ. ६. 'यैहूनन्दोर्ध्वं' विश्वं गि'; ७. 'मुपरि न्यस्य  
क' । ८. 'यां.' क. ग. घ. च. ९. 'स' क ग; 'स्त्रायव' छ. १०. 'के सप्तदशनाडिका' छ.  
११. 'यं.— तिर्यहनन्दोर्ध्वं' विश्वं गिरिगिरिशपदं चक्रं न्यस्य । न्यस्येति ह्यप्रज्ञं वा  
छोटि परस्परपदमध्यमपुरपैकवचनं वा भवतु । कक्ष्यन्तत्वे राशयो ज्ञेयाः स्युरित्य-  
ध्याहार्येण ज्ञेयशब्देन सम्बन्धः । लघ्नपक्षे त्रिष्वं प्रति विधिः । तिर्यहनन्दोर्ध्वं विश्वं  
तिर्यगरूपा रेखा नय, ऊर्ध्वरूपा रेखास्त्रयोदश च यथाभवन्ति तथा । गिरिगिरिशपद-  
चक्रे, पदशब्देन तिर्यंगूर्जयो रेखायोः सम्पात उच्यते । गिरिष सप्त, गिरिशा  
एकादश । अक्षरसङ्ख्याया मष्टप्रमाणानि पदानि यस्य तद् गिरिगिरिशपदं चक्रम् ।  
पर्यं हृते पण्णवतिकोष्ठानि भवन्ति । तदूर्ध्वं चतस्रोपरितनकोष्ठपञ्चयाम् । लघ्नाद्या  
राशयो ज्ञेया स्युः । मेषादिगवनिषेधार्थं लघ्नाद्या इत्युक्तम् । तेषु केषुचिद् ग्रह-  
युक्तेषु ग्रहाः फलदाः । शिष्टम् इष्टस्य सप्त शिष्टं स्थानम् इष्टस्य ग्रहस्य भवनम् ।  
अतश्चेषु राशयधियाः फलदा इत्यर्थः ।

प्रदर्श्यते - प्रथमायवन्धुनिधनव्याज्ञातपोद्धनग इति उक्तेषु स्थानेषु  
 अर्ककक्ष्यायाम् अर्कक्रान्तराशिमारभ्य विन्दवः स्थाप्याः । अनुक्तेषु  
 तृतीयपञ्चमपष्ठद्वादशेषु चतुर्षु कोष्ठेषु रेखाश्च कर्तव्याः । वक्रात्  
 स्वादिवेति । वक्रकक्ष्यायां यथादर्शितायां वक्रस्थितराशिमारभ्य उक्तेषु  
 स्थानेषु विन्दवः अनुक्तेषु रेखाश्च कर्तव्याः । तद्वदेव रविजादिति ।  
 रविजकक्ष्यायां तथा रविजस्थितराशिमारभ्य उक्तानुक्तस्थानेषु विन्दुरेखा  
 लेखनीयाः । शुक्रात् स्मरान्त्यारिषु इति यथोक्तायां शुक्रकक्ष्यायां  
 शुक्रस्थितराशिमारभ्य सप्तमव्ययपष्ठेषु विन्दवः अनुक्तेषु नवसु रेखाश्च  
 निधानव्याः । जीवाद्धर्मसुतायशत्रुर्षु इति जीवस्थितराशिमारभ्य  
 यथोक्तेषु चतुर्षु विन्दवः अनुक्तेष्वष्टासु रेखाश्च लेख्याः । दश-  
 व्यायारिगः शीतगोरिति चन्द्राक्रान्तराशिमारभ्य यथोक्तेषु चतुर्षु  
 विन्दवः अनुक्तेष्वष्टासु रेखाश्च स्थाप्याः । तेष्वेवान्त्यतपस्सुतपु च  
 बुधादिति बुधस्योक्तेषु सप्तसु स्थानेषु विन्दुन्यासः, अनुक्तेषु पञ्चसु  
 रेखान्यासश्च कर्तव्यः । लग्नात् सबन्ध्वन्त्यग इति । अत्र द्वादश-  
 राश्यात्मकपङ्क्त्यष्टकयुक्ते चक्रेऽन्त्यायां लग्नकक्ष्यायां लग्नादारभ्य  
 यथोक्तेषु पदसु कोष्ठेषु विन्दवो निक्षेप्याः, अनुक्तेषु कोष्ठेषु रेखाश्च  
 निक्षेप्याः । इत्यादित्यस्य यथोक्ताष्टकवर्गप्रस्तारं कृतेऽष्टाचत्वारिंशत्-  
 कोष्ठेषु विन्दवो भवन्ति, अनुक्तेष्वष्टाचत्वारिंशत्स्थानेषु रेखाश्च भवन्ति ।  
 इति पण्णवतिकोष्ठा अपि विन्दुरेखान्यत(म११)योगेन अशून्या भवन्ति ।  
 एवं चन्द्रादीनामप्यष्टकवर्गप्रस्तारः कर्तव्यः ॥ १ ॥

चन्द्राष्टकवर्गं शास्त्रं विष्णोर्विद्वेनाह—

लग्नात् षट्त्रिदशायगः मधनघीघर्मेषु चाराच्छशी

स्वात् सास्तादिषु साष्टमससु रवेः षट्त्रयायघीस्थो यमात् ।

१. 'व्याः । तथा व' ; २. 'पु जी' ३. 'श्च रयाप्याः ।' ; ४. 'पु स्थानेषु सप्तसु  
 विन्दवः, म' ; ५. 'व्याः' ६. 'योरिष्टेषु' ; ७. 'पु पदसु को' , ८. 'प्याः । मादित्यस्य' ;  
 ९. 'साकोष्ठेषु रे' ८. १०. 'गमाह—' रा. ग. घ. छ. च.

धीत्र्यायाष्टमकण्टकेषु च बुधाञ्जीवाद्धनायाष्टमः

केन्द्रस्थश्च सितात्तु धर्ममुखधीत्र्यायास्पदानङ्गः ॥ २ ॥

इति । शशी लग्नात् पट्त्रिदशायगः शुभ इत्यन्वयः । चन्द्रः लग्नकक्षयार्थाः पट्त्रिदशायेषु शुभः, शिष्टेष्वैष्टास्वशुभः । आरादे भौमात् सधनधीधर्मेषु पट्त्रिदशायेषु शुभः, शिष्टेषु पञ्चस्वशुभः । स्वात् सास्तादिषु पट्त्रिदशायेषु शुभः, शिष्टेषु पट्स्वशुभः । रवेः साष्टसप्तसु पट्त्रिदशायेषु शुभः, शिष्टेषु पट्स्वशुभः । यमात् पट्त्र्यायधीस्यः शुभः, अष्टस्वशुभः । बुधाद् धीत्र्यायाष्टमकण्टकेषु शुभः, चतुर्ष्वशुभः । जीवाद् घनायाष्टमः केन्द्रस्थश्च शुभः, शिष्टेषु पञ्चसु अशुभः । सितात्तु तु धर्ममुखधीत्र्यायास्पदानङ्गः शुभः, शिष्टेषु पञ्चस्वशुभः । एवमेकोनश्चाशत्सु शुभः, सप्तपञ्चाशत्स्वशुभः ॥ २ ॥

कुजाष्टकधर्मे' शार्ङ्गलविक्रीडितेनाह—

वक्रस्तूपचयेष्विनात् सतनयेष्वाद्याधिकेपूदया-

चन्द्राद् द्विट्त्रिकलेषु केन्द्रनिधनप्राप्त्यर्थगः स्वाच्छुभः ।

धर्मायाष्टमकेन्द्रगार्कतनयाज्ज्ञात् पट्त्रिधीलाभगः

शुक्रात् पट्व्ययलाभमृत्युषु गुरोः कर्मान्त्यलाभारिषु ॥ ३ ॥

इति । वक्रस्तु इनादारभ्य सतनयेषु उपचयेषु शुभः, शिष्टेषु

\* 'जीवाद् ध्यायायाष्टम' इति मुद्रितपाठः । Vide page 177 Brihadjatakam translated by Swami Vijnanananda. "The sacred books of the Hindus series Vol XII).

१. 'मा लग्नात् चतुर्षु स्थानेषु शुभः एवमुत्तरप्रापि योजनीयम् । आ' ग यां लग्नात् पट्' घ. २. 'पु चतुर्षु स्थानेषु शु' घ. ६ घ. ३. 'प्वशुभः । रवे' घ. ४. भः । एवमुत्तरप्रापि योजनीयम् । आ' ट. च. ५. 'इ स क. ६. 'पु सप्तसु शुभः । अनुक्तं प' द. ७. ८. 'पु पट्सु शु क ९ मः शिष्टेषु च' क. ग. घ. ट. १० 'ताद्' ट. ११ 'गैमाह—' स. ग. घ क.



सप्तस्वशुभः । उदयाद् आद्याधिकेषु उपचयेषु शुभः, शिष्टेषु सप्त-  
स्वशुभः । चन्द्राद् द्वित्रिफलेषु शुभः, अन्येषु नवस्वशुभः । स्वात्  
केन्द्रनिधनप्राप्त्यर्थगः शुभः, अन्येषु पञ्चस्वशुभः । अर्कतनयाद्  
धर्मायाष्टमकेन्द्रगः शुभः, अनुक्तेषु पञ्चस्वशुभः । ज्ञात् पट्त्रिषी-  
लाभगः शुभः, अनुक्तेष्वष्टस्वशुभः । शुक्रात् पट्व्ययलाभमृत्युषु शुभः,  
अनुक्तेष्वष्टास्वशुभः । गुरोः कर्मान्त्यलामारिषु शुभः, अन्येष्वष्टासु  
अशुभः । एवमेकोनचत्वारिंशत्सु शुभः, सप्तपञ्चाशत्स्वशुभः ॥ ३ ॥

ब्रूयाद्वक्त्रे शार्दूलविक्रीडितेनाह—

ब्रूयाद्याष्टतस्सुखेषु भृगुजात् सत्र्यात्मजेप्विन्दुजः

साज्ञास्तेषु यमारयोर्व्ययारिषुप्राप्त्यष्टगो वाकपतेः ।

धर्मायारिसुतव्ययेषु मवितुः स्वात् साधकर्मत्रिगः

पट्स्वायाष्टसुखास्पदेषु हिमगोः साधेषु लग्नाच्छुभः ॥ ४ ॥

इति । इन्दुजः भृगुजात् सत्र्यात्मजेषु ब्रूयाद्याष्टतस्सुखेषु  
शुभ इत्यन्वयः, शिष्टेषु चतुर्ष्वशुभः । यमारयोः साज्ञास्तेषु ब्रूयाद्या-  
याष्टतस्सुखेषु शुभः, अनुक्तेषु चतुर्ष्वशुभः । वाकपतेः व्ययारिषु-  
प्राप्त्यष्टगः शुभः, अनुक्तेष्वष्टास्वशुभः । मवितुर्धर्मायारिसुतव्ययेषु  
शुभः, अन्येषु सप्तस्वशुभः । स्वात् साधकर्मत्रिकेषु धर्मायारिसुत-  
व्ययेषु शुभः, अन्येषु चतुर्ष्वशुभः । हिमगोः पट्स्वायाष्टसुखास्पदेषु  
शुभः, अन्येषु पट्स्वशुभः । लग्नाद् आद्यसहितेषु पट्स्वायाष्टसुखा-  
स्पदेषु शुभः, अन्येषु पञ्चस्वशुभः । एवं चतुष्पञ्चाशत्स्थानेषु शुभः ।  
द्विचत्वारिंशत्स्थानेष्वशुभः ॥ ४ ॥

जीवाष्टवर्गे शार्दूलविक्रीडितेनाह—

दिक्स्वायाष्टमदायवन्धुषु कुजात् स्वात् सत्रिकेप्त्रद्विराः

सूर्यात् सत्रितपस्सु धीस्वनवदिग्गलामारिगो भार्गवात् ।

१. 'मः । सुरशु' इ. २. 'र्ममाह—' ख. ग. घ. ङ. च. ३. 'यमादाय उक्तेषु  
स्थानेषु शुभः, म' क. ग. ङ. च. ४. 'ध्वन्यराशिष्व' क. ग. घ. ङ. ५. 'मनुक्तेषु  
म' छ. ६. 'साधेषु प' ७. 'शरमु शु' घ. ग. ङ. च. ८. 'र्ममाह—' ख. ग.

जायायार्थनवात्मजेषु हिमगोर्मन्दात् त्रिपद्धीव्यये

दिग्धीपट्स्वसुखायपूर्वनवगो ज्ञात् सस्मरश्चोदयात् ॥ ५ ॥

इति । अङ्गिराः कुजाद् दिक्स्वाद्याष्टमदायवन्धुषु शुभः । तथा स्वात् सत्रिकेषु दिक्स्वाद्याष्टमदायवन्धुषु शुभः । सूर्यात् संत्रितपस्तु दिक्स्वाद्याष्टमदायवन्धुषु शुभः । भार्गवाद् धीस्वनवदिग्भाभारिगः शुभः । हिमगोर्जायायार्थनवात्मजेषु शुभः । मन्दात् त्रिपद्धीव्यये<sup>१</sup> शुभः । ज्ञाद् दिग्धीपट्स्वसुखायपूर्वनवगः शुभः । उदयाद् दिग्धी-पट्स्वसुखायपूर्वनवगः सस्मरश्च शुभः ॥ ५ ॥

शुक्राष्टकदर्शने शार्दूलत्रिकीडितेनाह—

लग्नादासुतलाभरन्ध्रनवगः सान्त्यः शशाङ्कात् सितः

स्वात् साज्ञेषु सुखत्रिधीनवदशच्छिद्राप्तिगः सूर्यजात् ।

रन्ध्रायव्ययगो रवेर्नवदशप्राप्त्यष्टधीस्थो गुरोः

ज्ञाद्दीव्यायनवारिगस्त्रिनवपट्स्वन्ध्वागमान्त्यः कुजात् ॥ ६ ॥

इति । शुक्रः लग्नाद् आसुतलाभरन्ध्रनवगः शुभः । शशाङ्काद् आसुतलाभरन्ध्रनवगः सान्त्यश्च शुभः । स्वात् साज्ञेषु आसुतलाभ-रन्ध्रनवसु शुभः । सूर्यजात् सुखत्रिधीनवदशच्छिद्राप्तिगः शुभः । रवेः रन्ध्रायव्ययगः शुभः । गुरोः नवदशप्राप्त्यष्टधीस्थः शुभः । ज्ञाद् दीव्यायनवारिगः शुभः । कुजात् त्रिनवपट्स्वन्ध्वागमान्त्यः शुभः ।

१. 'भ.' । अन्येष्वनुभ । स्वात्' ; २. 'भः, अन्येष्वनुभः । सू' घ. ३. 'येषु शु' ड. ४. 'भः । एवं पट्पञ्चाशत्सु स्थानेषु शुभः । अनुनेष्टाश्ववारिस्थाने-त्यनुभ ॥ ५ ॥' ड. ५. 'गैमाह—' ख. ग. घ. ड. य. ६. 'जः' च ७. भः ॥ मन्दा क. ग. घ. च.

\* 'पुत्राय सान्त्य' इति मुद्रितपाठः । (Vide page 121 Brihad-jatakam translated by Swami. Vijnanananda. "The sacred books of the Hindu" series Vol. XII).

एवं द्विपञ्चाशत्स्थानेषु शुभः । चतुश्चत्वारिंशत्स्थानेष्वशुभः ॥ ६ ॥

मन्दाष्टकवर्गं शार्दूलविक्रीडितेनाह—

मन्दः स्वात् त्रिसुताप्तिशत्रुषु शुभः साज्ञान्त्यगो भूमिजात्  
केन्द्रायाष्टधनेष्विनादुपचयेष्वाद्ये सुखे चोदयात् ।

धर्मायारिदशान्त्यमृत्युषु बुधाच्चन्द्रात् त्रिपङ्गलाभगः

पष्ठान्त्यायगतः सितात् सुरगुरोः प्राप्यन्त्यधीशत्रुगः ॥ ७ ॥

इति । मन्दः स्वात् त्रिसुताप्तिशत्रुषु शुभः, भूमिजात् सा-  
ज्ञान्त्यगः त्रिसुताप्तिशत्रुषु च शुभः । इनात् केन्द्रायाष्टधनेषु शुभः,  
उदयादुपचयेष्वाद्ये सुखे च शुभः । बुधाद् धर्मायारिदशान्त्यमृत्युषु  
शुभः । चन्द्रात् त्रिपङ्गलाभगः शुभः । सितात् पष्ठान्त्यायगतः  
शुभः । सुरगुरोः प्राप्यन्त्यधीशत्रुगः शुभः । अनुक्तेष्वन्यराशिष्वैशुभः ।  
एवमेकोनचत्वारिंशत्सु शुभः, सप्तपञ्चाशत्स्वशुभश्च भवतीति द्रष्टव्यम्  
[॥ ७ ॥

एवं ग्रहाणामष्टकवर्गमैकारमुत्कर्त्वा तत्फलनिर्णयार्थं मालिनीमाह—

इति निगदितमिष्टं नेष्टमन्यद् विशेषा-

दधिकफलविपाकं जन्मिनां तत्र दद्युः ।

उपचयगृहमित्रस्वोच्चगाः पुष्टमिष्टं

त्वपचयगृहनीचारातिगैर्नेष्टसम्पत् ॥ ८ ॥

(इति ।) इति निगदितमिष्टम्, अन्यत्रेष्टमित्यन्वयः । इतीशब्देन

१. 'गैमाह—' घ. छ. च. २. 'पुष्ट' ; ३. 'पुष्टस्व' क. ग. घ. च.  
४. 'पुष्टस्व' घ. छ. च. ५. 'गैविन्याममु' ख. छ. ६. 'पुष्टा' विशेषक्यनाय तदेवा-  
नुवदति—' क. ग. घ. च. तथा तेन फलनिरूपणस्य लक्षणमाह—' छ. ७. 'ति  
प्यादकं' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैरित्यर्थः । निगदितमिष्टं प्रथमाद्यष्टगुणनिघनादि-  
स्थानमिति शेषः । तद् इष्टम् इष्टफलस्थानम् । अन्यद् अनिगदितं तृतीयपञ्चमादि-  
स्थानं नेष्टम् अनिष्टफलमिति सम्बन्धः । ननु सप्तमाध्यायेन घ. च.

‘स्वादर्क’ इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकेरुक्तप्रकारो निगद्यते । निगदित-  
मुक्तम्, इष्टं प्रथमायधन्धुनिधनादि । स्थानमिति शेषः । तदिष्टम्  
इष्टफलम् । अन्यद् अनुक्तं तृतीयपञ्चमादिस्थानम्, नेष्टम् अनिष्ट-  
फलमित्यर्थः । राशिषु द्वादशस्वपि कक्ष्यावशादष्टधा विभागेन  
गतेषु पण्यवतिरुण्डेषु ग्रहाणामष्टकवर्गस्थानेषु ‘स्वादर्क’ इत्यादिना  
यथोक्तानि अष्टचत्वारिंशत् स्थानानि सूर्यस्य शुभफलप्रदानीत्युक्तं  
भवति । एवमन्येषामपि ग्रहाणां स्वैः स्वैः श्लोकेरुक्तानि स्थानानि  
शुभानि । तत्र प्रत्येकं शुभस्थानमङ्ख्या—

“देवो ध्रुवो धिगो विष्णुः क्षमी रामो धिगः क्रमात् ”

इति । अशुभस्थानसङ्ख्या च—

“देवः सुम्भः समा रम्भा नाभिर्विद्वान् ममा क्रमात् ”

इति । ननु मप्तमाध्यायेन जीवितकालो<sup>१</sup> दर्शितः । अष्टमाध्यायेन  
दशान्तर्दशादिभेदजनितेषु जीवितकालविभागेषु<sup>२</sup> ग्रहाणां फलविशेषा  
दर्शिताः । तेषाभिष्टानिष्टा च तत्र दशानां सम्पूर्णारिक्तादिसंज्ञा  
भेदेन प्रदर्शिता । तदनेनाष्टकवर्गेण पुनः कुत्रत्यानीष्टानिष्टानि कथ्यन्ते ।  
सत्यम् । अनेनाष्टकवर्गेणापि जीवितकालमयान्येष्टानिष्टानि कथ्यन्ते ।  
किन्तु दृढकर्मनिमित्तानि फलानि दशान्तर्दशादिभिर्निर्दिष्टयानि ।  
अदृढकर्मनिमित्तानि अष्टकवर्गगोचरफलानि तदविरोधेन तत्र तत्र  
निर्दिष्टयानि । परस्परविरोधे द्विविधान्यपि सम्भवन्ति । परस्पर-  
विरोधे तु दशाफलान्येव प्रचलानि । अपि च काल एव खलु फलानि  
सर्वाण्यपि पाचयति । ॥ च —

“कालो बलीयान् विविधानुभावपङ्कभावेनताद्यवसानशून्यः ।

तस्यानुमेयस्त्रिगुणकमान्तभाजो विभागाश्च खगर्क्षचारिः ॥”

१. ‘लरयानम्’ ; २. ‘लस्थानमिति सम्बन्धः । ननु’ क. ग. ३. ‘लप्रमाणं द’  
क. ग. घ. च. ४. ‘तम्’ क. ग. घ. च. ‘त । तत्र च अ’ द. ५. ‘जाजनितभेदेषु जी’ ;  
६. ‘पु फलानि च अष्टमाध्यायेनोक्तानि । तेषां’ ; ७. ‘आदिसम्पूर्णानां संज्ञा-  
भेदेन’ द. ८. ‘दिनिर्देशद्वारेण दर्शिता । अनेनाष्ट’ घ. च. ९. ‘जानिर्देशद्वारेण द’ क. ग.

अतोऽत्र जननकालग्रहस्थितिविशेषावगन्तव्यानां दशादिफलानां पाक-  
कालस्य तात्कालिकग्रहर्ह्यचारावगम्यत्वेन दशाफलस्य गोचरफलस्य च  
सदासङ्कीर्णता भवत्येव । तत्र दशाफलान्यष्टमाध्याये दर्शितानि ।  
गोचरफलानि तु ग्रहर्ह्यशास्त्रप्रसिद्धान्यत्र संक्षिप्य लिख्यन्ते । तथाचोक्तं  
विद्यामाधवेन—

“पुंसां जन्मादिभावेषु यत् फलं ग्रहचारतः ।

वराहमिहिरेणोक्तं संक्षेपात् तदिहोच्यते ॥

आयभ्रातृद्विपदुपगतौ स्थानमानादिलाभं

वित्ते वित्तक्षयमथ सुहृत्पुत्रगौ क्लेशभीतिम् ।

कामे रोगान् व्यसनगतुलं धर्मगौ सूर्यभौमौ

भौमो मङ्गं दिशति दशमे कर्मसिद्धिं दिनेशः ॥

क्रमेण भोगोदयमर्थहानिं

जयं भयं शोकमरातिभङ्गम् ।

सुखान्यनिष्टं गदामिष्टसिद्धिं

मोदं<sup>१</sup> व्ययं च प्रददाति चन्द्रः ॥

अर्थक्षयं धनमरातिभयं धनाप्तिं

भार्यासुतादिकलहं विजयं विरोधम् ।

पुत्रार्थिलाभमथ विघ्नमशेषसौख्यं

पुष्टिं परामवभयं च करोति चान्द्रिः ॥

नानादुःखं वित्तसमृद्धिं स्थितिनाशं

बन्धुकुलं पुत्रपनाप्तिं रिपुवाधाम् ।

भोगान् रोगान् वित्तसुताप्तिं धनहानिं

स्वानप्राप्तिं दुःखमथ यच्छति जीवः ॥

अखिलविषयभोगं वित्तमिष्टिं विभूतिं

सुखसुहृदमिष्टिं पुत्रलब्धिं विपत्तिम् ।

युवनिजनितवाधां सम्पदं स्त्रीसुखाप्तिं  
कलहमुदयमार्तिं दैत्यमन्त्री विधत्ते ॥

नानारोगशुचं सुखार्थविहर्तिं स्थानार्थभृत्यादिकं  
स्त्रीबन्धवर्थमुखच्युतिं धनसुखैर्भ्रंशं सपत्नक्षयम् ।  
मार्गासक्तिमनल्पदुःखनिचर्यं धर्मप्रणाशमयान्  
दारित्र्यं धनलाममर्थविहर्तिं धत्ते क्रमादर्कजः ॥

द्वादशजन्माष्टमगाः पुंसां दिननाथभौमशनिजीवाः ।  
वित्तक्षयं प्रवासं रोगान् जनयन्ति मरणमूर्तिं वा ॥

इत्थं समस्तजगतामशुभं शुभं च  
सञ्जायते हि निश्चितं ग्रहचारशक्त्या ।  
पूजाम्भुतेप्रणतिभिर्मृदिता प्रहास्ते  
कुर्वन्त्यनिष्टगतयोऽपि जनस्य लक्ष्मीम् ॥”

एवमुक्तानि गोचरफलानि कीदृग्विधजातकस्य पुरुषस्य कीदृशे काले  
कीदृग्रूपाणि सम्भवन्तीति ज्ञानार्थमष्टकवर्गप्रदर्शनं कृतम् । तथाहि—  
मातुलसङ्ख्यदिवसात्मके सौरमन्तरे सूर्यस्य राशिचारात्मका द्वादश  
मासौः । एकत्र मासे पादोनभागचतुष्टयप्रमाणान्यष्टौ खण्डानि ।  
तानि च शनैश्चरादिलग्नान्तानामष्टानां कक्ष्या भवन्तीति पूर्वं प्रद-  
र्शितम् । तत्र एकस्य मेपादिभासस्यादौ पादोनभागचतुष्टयात्मकं  
खण्डं शनैश्चरस्य कक्ष्या । तस्यामादित्याष्टकवर्गप्रस्तारे विन्दुध्वे-  
दिष्टफलं भवति । रेखा धेदिनिष्टफलं भवति । एवमेव जीवादीनां  
कक्ष्यास्वपीष्टानिष्टफलनिर्देशः । तस्मादष्टास्वपि विन्दवः सम्भवन्ति

१ ‘ति’ ग च २ ‘त’ ट ३. ‘वा’ ख ट ४. ‘सा’ । तेष्वेकत्र शुभाष्टप्रमा,  
५. ‘तः सर्वेष्वपि सौरमासेषु प्रथमं पा’, ६. ‘लं रे’, ७. ‘लमर्कचारे वक्तव्यम् । ए’,  
८. ‘पि द्रष्टव्यम् । ततो यत्र राशावष्टास्वपि कक्ष्यासु विन्दुवलत्र चारः शोभनः  
यत्राष्टास्वपि रेखाः स्युः तत्र चारः कष्टफल इत्युक्तं भवति । फलविशेषनिर्णयस्य  
कक्ष्याचारिणो ग्रहस्य कक्ष्याधिपस्य च पञ्चवर्गयोगेक्षणमन्धबन्धवशेन सञ्जायते ।  
फलानि च त्रिविधानि कर्मात्मकानि रोगात्मकानि विनाशरामकानि चेति । तत्र

चेत् तस्मिन् मासेऽर्कचारः शोभनफल एव । अष्टास्त्रपि कक्ष्यासु रेखामम्भश्चेत् सोऽर्कमासः (शून्यः?) कष्टफलो भवति । फलविशेषा-  
 आर्ककक्ष्याधिपयोर्यथोक्तगुणतारतम्येन वक्तव्याः । अर्कस्य रूपप्रधानं  
 कटुरसप्रधानं वा द्रव्यं, शनेस्तु कक्ष्याधिपस्य स्पर्शप्रधानं कषाय-  
 रसप्रधानं वा द्रव्यम् । तस्मादर्कस्य शनैश्चरकक्ष्यायां तयोर्वलाधिक्ये  
 दर्शनीयं स्पर्शसुखप्रदत्वं च पट्टवस्त्रादि भवति । बलवैकल्ये कम्बलादि  
 भवति । एवं च वरविशेषेण वस्तुनिर्देशः । 'चन्द्रारोरगतौ' रि-  
 त्यादिनिर्दिष्टा धातुमूलजीवाश्च ग्रहं राशिभिर्नक्षत्रैश्चावगन्तव्याः । तत्र  
 राशिषु त्रयो द्वेष्टाणाः कर्मभोगविनाशात्मकः क्रमेणावगन्तव्याः ।  
 तेषु त्रिष्वपि द्वेष्टाणेषु त्रयस्त्रयो नवांशकाः चरस्थिरोभयात्मकाः  
 धातुमूलजीवाः भवन्ति । तस्मादेकस्मिन् राशौ कर्मधातुः कर्ममूलं कर्म-  
 जीवा, तथा भोगधातुः भोगमूलं भोगजीवश्च, तथैव नाशधातुः नाशमूलं  
 नाशजीवश्चेति नव भेदाः सम्भवन्ति । तेषां च भेदानां नवप्रद-  
 योगेक्षणादिवशात् प्रत्येकं नव भेदाः सम्भवेषुः । एवमेकाशीतिभेदा  
 वस्तुजातयः । पुनरपि तात्कालिकपञ्चभूतगुणसम्बन्धवशेन विशेष-  
 निर्णयः । ग्रहाणां बलवशेन तत्र तत्रोत्तममध्यमाधमत्वानि च

कर्मात्मकानि कृपिगोरक्षगणिन्यादिसम्पादनाविषयाणि । भोगात्मकानि च त्रिविधास-  
 पानवृत्तगीतमरुचन्दनमणिताम्रतुल्यभवरूपाणि । विनाशात्मकानि च वाक्पादप्यस्तादन-  
 ष्ठेनभेदनोत्सादनादीनि । एषां त्रिविधानामपि कलानामुपयोगीनि पराणि च  
 त्रिविधानि धातुमूलजीवभेदेन । तत्र धातुः धातुशब्दाव्यलोढास्तिर्गलादिभेदेन  
 बहुविधाः । मूलानि च तृणालपगुल्मलतावनस्पतिवानस्पत्यादिभेदेन बहुविधानि ।  
 जीवाश्च जरायुजातजम्बेज्जादिभेदेन बहुविधाः । अत्र राशिषु द्वेष्टाणैः क्रमेण  
 कर्मभोगविनाशभेदावगतिः । द्वेष्टाणेषु त्रिभेदास्त्रिभिर्नवांशैश्चरस्थिरोभयात्मकै-  
 र्यातुमूलजीवावगतिः । तेषां च प्रत्येकं नवग्रहयोगेक्षणवशाच्च नव भेदा भवन्ति ।  
 एवमेकाशीतिभेदा वस्तुजातयः कस्मिन् राशौ सम्भवन्ति । तद्विशेषनिर्णयश्च  
 तत्कालपञ्चभूतोद्यसम्बन्धितवर्णरूपरसगन्धरूपगुणसम्बन्धवशेन नामारयवर्णर-  
 पानुमेयत्वादिना वस्तुनामभिदृष्ट राशिग्रहसम्बन्धाक्षरप्रधानैः सेरस्यति । ग्रहाणामुच-  
 नीषादिवशेन वस्तुनामुत्तममध्यमाधमता च द्रष्टव्या । एवंप्रकारावगन्तव्यानां क. ग.

वक्तव्यानि । ग्रहराशिद्रेकाणादिवर्णेश्वोरादिनामधेयप्रकारेणोपदिष्टवस्तु-  
विशेषाणां नामान्तराणि च विचिन्त्यानि । एवप्रकारावगन्नध्यानां  
वस्तुविशेषाणां सम्पत्तिरिष्टफलं विपत्तिरनिष्टफलम् । “पुनरपि इष्टा-  
निष्टफलनिर्देशविशेषमाह — जन्मिनां तत्र विशेषादधिकफलविपाकं  
दद्युगिति । “प्रथमायवन्धुनिधनद्व्याज्ञातपोधूनग” इति निर्दिष्टानां  
फलानां मम्मवे तत्तद्भावगता विग्रहा वक्तव्याः । प्रथमफले मूर्ति-  
गतानीष्टानि, आयफले लाभगतानीष्टानि इत्यादि तत्तद्भावफलवशेन  
फलपाकं दद्युरित्यर्थः । तथानुक्तध्यानेषु तत्तद्भावगतान्यनिष्टफलानि  
च दद्युः । तथा अरुस्य फलनिरूपणे आत्मप्रभाप्रवितृचिन्ताविषयाणि  
इष्टानिष्टानि वक्तव्यानि । चन्द्रस्य मनोज्ञनन्यादिविषयाणि, कुजस्य  
सत्त्वमहजादिविषयाणि, बुधस्य वचनविषयाणि, गुरोः ज्ञानसुखसन्तति-  
विषयाणि, शुक्रस्य कलत्रभोगविषयाणि, शनैश्चरस्य दुःखदास्यादि-  
विषयाणि, इष्टानिष्टफलानि निर्दिष्टव्यानीत्यर्थः । पुनरपीष्टानिष्टफलानां  
पुष्ट्यगुष्टिचिन्ताविषयं दर्शयति — उपचयगृहमित्रस्वोद्यगा ग्रहा इष्टं पुष्टं  
दद्युः । तथा अनुचयगृहनीचारातिगैर्ग्रहेनेष्टसम्पत् । अनिष्टानां  
प्राचुर्यं मयतीत्यर्थः । अत्राष्टक्रमेण फलपाकमयनिरूपणे संवत्स-  
रस्य पण्यरत्यंशे पादोनभागचतुष्टयप्रमाणे समये सूर्यस्य कक्ष्या-  
वशादेक फलं परिपच्यते । तत्रैव सवत्सरपण्यवत्यंशममये चन्द्रस्या-  
ष्टक्रमेण सप्तविंशतिदिनात्मकचन्द्रभगणस्य पण्यरत्यंशाः प्रायः सप्त-  
दशनाडिकाप्रमाणास्त्रयोदश मम्मयेषु । ततः सूर्यस्य हि कक्ष्याफल-  
भागकाले चन्द्रस्य त्रयोदशफलानि जायन्ते । तथा चन्द्रस्य एक-  
फलपाककाले सप्तदशनाडिकाप्रमाणे चत्वारो राशयः सप्त च काल-  
होराः सम्भवन्ति । इतिः कालविशेषैः सन्ति दशाकल्पानां वाचाविता

१ ‘पञ्चमोऽध्यायमाह—’ घ च. २ ‘पाकका’ छ.

\* इत उपरि ‘मनु श्रीवन्नि’ति पूर्वपक्षायपि क स घ. च पुष्ट्याप्यानि  
भिन्नानि एताममानार्थंज्ञानि च इत्यस्ते ।



चन्द्रमास्तु पोषयिता । 'इष्टान्युद्योच्चादौ क्षेत्रे कष्टानि चास्तनीचादौ'  
 इत्यादिवचनवशेन परम्परानुगुणैर्यथासम्भवं प्रत्यब्दमासद्युनिशाराशि-  
 कालहोरागतानि धनलाभधनहानिवस्त्रसिद्धिवस्त्रहानिसुखासनपतनभय-  
 भोजनमैथुनादिफलानि ग्रहगोचरसम्भवानि अष्टकवर्गेण सम्यग् वि-  
 चिन्तनीयानि । तथा पूर्वमायुर्दायोक्तानि फलानि च वक्ष्यमाणेन  
 'भावाद् भवनभनाथगुणैर्विचिन्तनीयमि'ति श्लोकोत्तरार्धेन सूचितया  
 नक्षत्रनाथदशयां ग्रहाणां शुभाशुभानि दशाफलानि स्वदशायां  
 स्वापहारे स्वाच्छिद्रापहारे च तदन्तर्गतापहारेषु च यथोक्तानि योज-  
 यितव्यानि । तथा कर्माज्जीवाध्यायादिभिः प्रदर्शितानि कर्माज्जीवयोग-  
 फलस्थानफलभावफलैस्वरूपाणि नैसर्गिकफलानि जन्मिनां पुरुषाणां  
 जननादिमरणावधिकालोपभोग्यानि ग्रहविशेषबलावगम्यानि ग्रहाणां  
 यथोक्तेषु कालेषु प्राधान्येन योजयितव्यानि ग्रहाणां कालविशेषाश्च  
 "स्वदिवसेसमहोरामासगैः कालवीर्यम्" इत्यादिषु सूत्रिता ग्राह्याः ।  
 एवमुक्तप्रकाराणि दशाफलानि दृढकर्मोपार्जितानि गोचरफलान्यदृढ-  
 कर्मोपार्जितानि कादाचित्कानि । नैसर्गिकफलानि दृढादृढकर्मोपार्जितानि  
 प्रायिकाणि त्रिविधान्यपि फलानि सम्यग् विचार्य परस्पराविरोधेन  
 संयोज्य यथाफलं यथानिर्दिष्टं यथासम्भवं यथाकालं च कुशाग्रधिया  
 सावत्सरेण सावत्सरसूत्रोक्तगुणशालिना सम्यगाराधितगुरुचरणप्रमादौ-  
 धिगतसकलवम्प्रदायरहस्येन सत्यवादिना कामक्रोधाद्यनभिभूतेन सूर्य-  
 भक्तेन सतताराधितविद्यावृद्धेन पृच्छकाय शुभदिवसतिथिनक्षत्रसमया-  
 रब्धप्रश्नाय साधुवृत्ताय शुभाशुभममयजिज्ञासवे करतलामलकवत् सु-  
 व्यक्ततया निर्देष्टव्यानीति अध्यायान्तोपदिष्टेनानेन श्लोकेन द्योतितं  
 भवति । ननु, श्रीपतिना जातकपद्धतौ—

“पाकं द्वादशधा वदन्ति यवना दिग्भेदमिदं पुन-

र्माणिन्याः खलु वादरायणमुनिस्तं चाष्टधा प्रोक्तवान् ।

१. 'शिहो', २. 'या शुभाशुभफलसम्भववादिन्या ग्रहाणां स्वदशायां स्वापहारे  
 स्वाच्छिद्रापहारे च यथोक्तानि दशाफलानि योज' ; ३. 'दृढादृढफलस' ;  
 ४. 'न विनीतेन पृ'-क.

पद्मेदं खलु भिद्धमेनविबुधास्तं देवलाद्याः पुन-  
भैदरब्धिमितैरुदारधिपणः श्रीविष्णुगुप्तास्त्रिभिः ॥

पाकं द्विभेदं पुनराह सत्यस्तच्छास्त्रदृष्ट्या कथयाम्यशेषान् ।”

इति पाको द्वादशधा प्रदर्शितः । तत् कथमत्र त्रिविधत्वेनोच्यते ।  
सत्यम् । आचार्यस्तु फलपाकं त्रिविधमेव मन्यते तदन्तःपातिरवा-  
दन्पेषां भेदानाम् ॥ ८ ॥

इति हेमविवरणे नवमोऽध्यायः ॥

## अथ दशमोऽध्यायः ।

अथ सर्वपुराणानामर्थमूलस्याद् अर्थाजिनमाधत्तं पुराणस्य नैसर्गिकं स्वभावं  
दर्शयितुं कर्माजीवमाह । तथा दशान्तर्दशाभेदैरुक्तमोषाजितकर्मविपाकसमयम्  
अष्टकर्मोपादकर्मोपाजितकर्मविपाकसमयं च प्रदर्श्य तदधिकरणानां शुभाशुभफलानां

१. ‘सप्तमाष्टमाभ्यां उक्तमोषाजितानि दशाफलानि, नवमेनाष्टकर्मोपाध्यायेन  
अष्टकर्मोपाजितानि गोचरफलानि च प्रदर्श्ये इदानीं द्वादशकर्मोपाजितानि  
नैसर्गिकफलानि प्रदर्शयितुमावश्यते । ननु

“नैसर्गिकः स्यात् प्रथमोऽथ भेदो दशाकर्मव्यस्तु पुनर्हितीयः ।

अन्तर्दशाभ्यः कथितस्तृतीयः प्रोक्तश्चतुर्थोऽपि दशाभिधानः ॥

स्याद्राशिखंडः खलु पञ्चमोऽथ षष्ठ्यध्याय भावफलार्थभेदः ।

योगाभिधानः खलु सप्तमोऽपि स्यादष्टमो इन्द्रियलाभिधानः ॥

प्रोक्तोऽष्टवर्गो नवमो मुनीन्द्रहोरादिवर्गो दशमो ग्रहाणाम् ।

प्रत्येकमायगुणिनाफलैः स्यादेकादशो मधुनमोजनाद्यैः ॥

स्याद् द्वादशः सत्त्वशरीरधातुः स्वरूपभेदैः कथितोऽथ तज्ज्ञैः ।”

इति द्वादशधा फलपाकः, तत्कथमत्र त्रिविधत्वेनोच्यते । सत्यम्, आचार्यस्तु पाकं  
त्रिविधमेव मन्यते तदन्तःपातिरवादिदन्पेषां भेदानाम् । तेषां ख ट. २. ‘तुं प्रथमं  
कर्माजीवं दर्शयति ह-

१. ‘काकम्बरूपैः कथि’ ; २. ‘कः । मत्वाचार्यस्तु वि’ , ३. ‘याम् । तथा’ ;

४. ‘तत् तत् तत्’ ह-

पुरुषव्यापारसाध्वेषु पुरुषार्थेष्वन्तर्मावात् पुरुषार्थेषु च धर्मकामयोरभ्यर्थमूलत्वाद्  
अर्थपुरुषार्थस्य प्राधान्यादर्थोऽतिनिमित्तानां व्यापाराणां स्वरूपज्ञानं प्रति कर्माजीवा-  
ध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं परवशादागन्तुकस्यार्थस्यासिं लक्षयति—

अर्थाप्तिः पितृजननीसपत्नमित्र-

भ्रातृस्त्रीभृतकजनाद् दिवाकराद्यैः ।

होरेन्द्रोर्दशमगतेर्विकल्पनीया

भेन्द्रर्कास्पदपतिगांशनाथवृत्त्या ॥ १ ॥

इति । होरेन्द्रोः दशमगतैः दिवाकराद्यैः कृतात् पितृजननी-  
सपत्नमित्रभ्रातृस्त्रीभृतकजनाद् अर्थाप्तिर्विकल्पनीया इत्यन्वयः । होरेन्द्रोः  
लग्नाच्चन्द्राच्च दशमगतेन दिवाकरेण पितृः अर्थाप्तिः । पितृधनं  
लभ्यत इत्यर्थः । लग्नात् दशमस्थे चन्द्रे जननाधनलाभः । अत्रे-  
न्दोरपि दशमभावस्य इन्दुपङ्क्तिर्गमस्वन्धे सति जननाधनलाभो भ-  
वतीति वक्तव्यम् । एवमन्येषामपि षड्वर्गसम्बन्धनापि बलाधिकत्वे  
यागफलं द्रष्टव्यम् । तथा लग्नाच्चन्द्राच्च दशमस्थे सौम मपत्ना-  
दर्थाप्तिः । सपत्नशब्देन सहजशत्रवः पितृव्यतत्पुत्रादय उच्यन्त ।  
शुभे दशमस्थे मित्रभ्यः । अर्थान्मातुलादिभ्यः अर्थाप्तिः । गुरौ  
दशमस्थे भ्रातृभ्यः । शुक्र दशमस्थे स्त्रीभ्यः भार्यामगिन्यादिभ्यः ।  
मन्दे दशमस्थे भृतकजनाद् भृत्यभ्यो दातेभ्यो वा धनलाभो भव-  
तीति वक्तव्यम् । चतुषेपादेन स्वव्यापारसम्भवस्यार्थस्याप्तिमाह—  
भेन्द्रर्कास्पदपतिगांशनाथवृत्त्येति । अर्थाप्तिरिति सम्बन्धः । भं च  
इन्दुश्च अर्कश्च भेन्द्रर्काः, तेषामास्पदपतिगांशः स्वाधिष्ठितराशेर्दशमै-  
राशिनार्थेनाधिष्ठितो नवांश इति यावत् । तस्य भेन्द्रर्कास्पदपतिगांशस्य  
या नाथः तस्य वृत्त्या वक्ष्यमाणया अर्थाप्तिर्भवति । भेन्द्रर्काणां  
तदास्पदपतीनां तदंशनाथानां च चलाचलनिरूपणेन अर्थाप्तये पुरुष-

१. 'पितुं' प्रहर्षिणीमाह—भ' क. २. 'कयो', ३. 'सम्यग्प्रत्यय' छ.

४. 'या' भ' क. ग. घ. च. ५. 'मना' घ. च. ६. 'ति प्रोक्तानां त' द.

व्यापारः कर्माजीवो वक्तव्य इत्युक्तं भवति । अत्र केचित्—  
लग्नार्कश्चाङ्गानां या बलवांस्तस्यैवास्पदपतिगांशनाथवृत्त्या धनं वक्तव्य-  
मितीच्छन्ति । तदयुक्तम् । यस्माच्छ्लोकेऽस्मिन् बलग्रहणं नास्ति ।  
(तस्मादेव ज्ञायते ।?) तस्मात् सर्वेभ्य एव । पुरुषस्य बहुप्रकार धना-  
गमदर्शनादिति । तथाच मार्गिः—

‘उदयादिन्दुतो वापि ये ग्रहाः दशमस्थिताः ।  
ते सर्वेऽर्थप्रदा ज्ञेयाः स्वदशासु यथादिताः ॥  
लप्रार्करात्रिनाथेभ्यो दशमाधिपतिर्ग्रहः ।  
यस्मिन्नत्रांशे कृत्कालं वर्तते तस्य यः पतिः ॥  
तद्वृत्त्या प्रवदेद् धित्तं जातस्य बहवो यदा ।  
भवन्ति धित्तदास्तेऽपि स्वदशासु विनिश्चिताः ॥”

इति ॥ १ ॥

भेदकस्य द्वापतिगांशनाथपूजिषिज्ञानकान्दिश्रमेणाह—

अक्रांश तृणकनकोर्णभेषजाद्यै-

श्वन्द्रांश कृपिजलजाङ्गनाश्रयाश्च ।

धात्वग्निप्रहरणसाहसैः कुजांशे

साम्यांशे लिपिगणितादिकाव्यशिल्पैः ॥ २ ॥

इति । अर्कांशे तृणकनकोर्णभेपजाद्यैरर्थाग्निः । अर्थानिमित्तं कर्म भवति । तृणं होमसाधनगवादिभवनभरणाच्छादनाद्यौपयोगिकम् । कनकं मुख्यलोहोपलक्षणम् । ऊर्णं मृगादिलोमजनितवस्तु । भेपजं विविधौषधद्रव्यविशेषः । आदिशब्देन यथोक्तोपकारकद्रव्यान्तराणि । एतान्निमित्तभूतैः प्रत्येकक्रियादिद्वर्गभिरर्थसिद्धिकरं कर्म वक्तव्यमित्यर्थः । चन्द्रांशे कृपिजलजाङ्गनाश्रयाच्च । कृपिः नदीवर्षदि-

सलिलसम्पाद्यग्रीष्मादिजननं कर्म । जलजाः जलमम्भवमत्स्यशङ्खपद्म-  
चौकादयः । अङ्गनाश्रयः अङ्गनानां पतित्वेन वा परिचारकत्वेन वा  
अन्येन वा येनकेनचिन्निमित्तेन संश्रयः । एतैर्निमित्तभूतैः कर्मभि-  
रर्थसिद्धिर्भवति । धात्वग्निप्रहरणसाहसैः कुजांशे । धात्वग्निप्रहरण-  
साहसैः, धातवो द्विविधाः धाम्या अधाम्याश्च । तत्र धाम्याः कांस्य-  
ताम्रवज्रसीसकनकरजतादयः । अधाम्या मृत्पाषाणहरितालमनाशिला-  
दयः । अग्निः धमनोपकरणान्निग्रहं गृह्यते । प्रहरणानि आयुधानि धनु-  
र्वेदशिक्षाद्युपकरणानि । साहसं हिताहितानपेक्षं कर्म रज्जुचरणा-  
काशखेलनादि । एतद्विषयैः कर्मभिरर्थसिद्धिर्भवतीत्यर्थः । सौम्यांशे  
लिपिगणितादिकाव्यशिल्पैः लिपिः पुस्तकलेखनादिविषया । गणितादि,  
गणितमष्टाधिकारिकं लौकिकगणितम् । आदिशब्देन ग्रहचारग्रहण-  
समागमगणितादयः । काव्यं लोकोत्तरवर्गननिपुणकविकर्म । शिल्पानि  
चित्रलेखनादीनि । एतन्निमित्तैः कर्मभिरर्थसिद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

जीवस्य द्विजविबुधागमादिधर्मैः

शुक्रांशे मणिरजतादिगोमहिष्यैः ।

सौरांशे श्रमवधभारनाचशिल्पैः

कर्मेसाध्युपितसमानकर्मसिद्धिः ॥ ३ ॥

अंशे इत्यनुवर्तते । जीवस्यांशे द्विजविबुधागमादिधर्मैः ।  
द्विजस्यैवर्णिकाः तेषां धर्माः, अध्ययनाध्यापनादयः । विबुधा देवाः,  
तद्विषया धर्माः मन्त्रार्जपार्चननमस्कारादयः । आगमाः मीमांसादयः ।  
आदिशब्देन देवस्वाधिकागदयः । एतद्विषया धर्मा आगमादिधर्माः ।  
एतन्निमित्तैः कर्मभिरर्थसिद्धिर्भवति । शुक्रांशे मणिरजतादिगोमहिष्यैः ।  
मणयो रत्नानि वैदूर्यादीनि । रजतादयः रूप्यम् । आदिशब्देन  
अन्येऽपि सीमादयो गृह्यन्ते । गोशब्देन क्षीरघृतप्रवाना गवादय उक्ताः ।

१. 'तैर्निमित्तैः' ड. २. 'समूतैः' क' ग' घ ३. 'योऽंशे द्वि' घ, च ४. 'काव्यांशे' ड.  
५. 'रस्य ध' क. ग. घ. ड. च. ६ 'देवाच' घ. ७. 'रविशृतपूत' ड.

महिष्यं मरिषं माधु । युगशकटादिकृपीबलोपकरणमिति यावत् ।  
एतन्निमित्तभूतः कर्मभिरर्थमिद्विर्भवति । सौरींशे श्रमवघभारनीच-  
शिल्पैः । श्रमोऽध्वगमनशिलाभेदनादिविषयः । वघैः कक्षाभिघातः ।  
कर्मकरणमान्द्ये कर्माध्यक्षप्रयोजित इति यावत् । भारो वीचवादि-  
वहनम् । नीचाशिल्पानि ऋत्तरणदारुतक्षणादीनि । अनृतवचनमोपणादि-  
कौशलं च नीचाशिल्पानि । एतद्विषयैः कर्मभिरर्थमिद्विर्भवति । चतुर्थ-  
पादेन उक्तानि निगमयति— कर्मेशाध्युषितममानकर्मसिद्धिः । कर्मे-  
शाध्युषितः आस्पदपतिगांक्षः तत्त्वमानेन तदुचितेन तन्नायोचितेनेति  
यावत् । कर्मणा तृणकनकोणेत्याद्युक्तस्वरूपेण । मिद्विरर्थसिद्धिः ।  
अत्र कर्मेशाध्युषितेति विशेषणोक्ता विशेष्यस्यांशरुस्यानुक्त्या । 'विशेषण-  
मात्रप्रयोगे विशेष्यस्य प्रविषत्तिरिति' न्यायेन कर्मेशाध्युषितान्न-  
वांशरुद् बलाप्रियये सति कर्मेशाध्युषितेन राशिनापि कर्माजीवो  
यक्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

कर्मेशाध्युषितनवांशनायाना तारकालम्बितिवशादपि विशेष्यमाह—

मित्रारिस्वगृहगतैस्ततस्ततोऽर्था-

रुद्रुत्थे घलिनि च भारंकरे स्ववीर्यात् ।

आयस्थरुदयघनाश्रितैश्च नौग्यैः

साञ्चिन्त्यं बलसहितैरनेकधा स्वम् ॥ ४ ॥

इति । मित्रारिस्वगृहगतैः कर्माजीवरुद्रुत्थैः ततस्ततः अर्था  
भवन्ति । कर्मेशाध्युषितनवांशनाये मित्रगृहस्थं यथोक्तकर्मभिः मित्र-  
गृहादर्था भवन्ति, रुद्रुत्थे रुद्रगृहादर्था भवन्ति, स्वगृहगतैः

१. 'रस्य घ क ग घ ट च २ 'घद्यामि ट. ३. 'घाना नि' क ग घ च  
४ 'घपत्र ग घ च ५ 'ति । कर्मेशाध्युषितममानकर्मसिद्धिरित्यत्र नपांनकप्रहण  
नामि, प्रहणस्यास्यर्थाशङ्क्य । नवांशा इत्यादिशङ्काः । तथाच गार्ग्ये — एतत्कर्माधिपते  
यस्मिन् नवांशे घनेते प्रह । 'पातमयेन' तत्तुल्यवर्मेण निदिश्यादित्येन ॥ ३ ॥ , ६ 'दं  
प्रहार्निष्याह—' क. ७ भारंकरे न्य' घ. ८ 'वनप्र ट

स्वगृहादेवार्था भवन्ति । भास्करे तुङ्गस्थे बलिनि स्ववीर्यादर्थो भवन्ति । तुङ्गगते बलवति च स्ववीर्यात् स्वशक्त्या अर्था भवन्ति । तुङ्गशब्देन मध्यन्दिनस्थितिरपि भास्करस्य स्ववीर्यादर्यागमे हेतुरिति धोत्यते । आपस्यैरुदयधनार्थैः सौम्यैश्च अनेकधा स्वं साञ्चिन्त्यमित्यन्वयः । लाभार्तैरुदयगतैर्धनगतैश्च अनेकप्रकारेणार्थागमः साञ्चिन्त्यैः । शरीरिणामनशने मरणसम्भवाजीवनकाले शरीरवृत्तेरवश्यं भावित्वमस्ति । तथाचोक्तं—

“समृगोरगसारङ्गं सपक्षिपशुमानुपम् ।

आ भध्याह्वात् कृताहारं मयतीह जगन्नयम् ॥

नातैः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।

यत्र नैवोद्यमः प्रातर्मोजनं प्रति दृश्यते ॥”

इति । तस्मादाजीवस्यावश्यमाविर्नः केन कर्मणा निष्पत्तिरित्यास्मिन्नध्याये निरूपितम् । तत् कर्म सम्यगवधार्य तदनु रूपेण प्रोक्तानि दशाफलानि गोचरफलानि च यथाकालं योजयितव्यानीति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

इति होराविवरणे दशमोऽध्यायः ॥

१. 'दु आरमश' क. ग. २. 'न्यः' । येन प्रकारेण धनार्जनमाकाङ्क्षति तेन प्रकारेणाप्यवादेवाप्रोक्ष्यार्थः । अत्र गार्भिः—“धनदा जन्म समये मिश्रारिस्वगृहोपमा । यस्य तस्य धनं दधु मिश्रारिस्वगृहोद्वयम् ॥ धनदो भास्करो यस्य तुङ्गे बलसमान्वितः । भवेज्जन्मनि (यावत्)स्य स्याद् विसमा मोक्षमार्जितम् ॥ लाभार्थेऽलमगैः सौम्यैरेव येनैव कर्मणा । धनार्जने प्रायेणते नावसान् मयमनुते ॥ इति । ग. क. ३. 'तिपा' द. ४. 'ना' घ ५. 'जे कर्माजीवो द' क. घ.

## अथैकादशोऽध्यायः ।

अत्र द्दकर्मोपाजितफलविशेषप्रदर्शकान् योगान् दर्शयितुमारम्भमाणः प्रथमं  
पापग्रहाणां स्वतुङ्गस्थितिफलविशेषमन्यमतेनाह—

प्राहुर्यवनाः स्वतुङ्गैः

क्रूरैः क्रूरमतिर्महीपतिः ।

क्रूरैस्तु न जीवशर्मणः

पक्षे क्षित्यधिपः प्रजायते ॥ १ ॥

इति । यवनाः स्वतुङ्गैः क्रूरैः क्रूरमतिः महीपतिः भवतीति  
प्राहुरित्यन्वयः । वक्ष्यमाणेषु राजयोगेषु ग्रहाणामुच्चादिवलाधिक्ये  
सति जातस्य राजभावः सम्भवति । तत्र क्रूरग्रहाणामुच्चगतत्वे क्रूरात्मा  
नृपतिर्जायते इति यवनाचार्या वदन्ति । अर्थाच्छुभग्रहाणामुच्चगतत्वे  
धर्मात्मा नृपतिरित्यपि यवनानां मतम् । मिश्रैरुच्चगतैर्मिश्रस्वभावश्च  
भवति । तथाच तद्वाक्यं—

“(पार्यैः पा)पमतिः स्यात् स्वोच्चगतैर्धर्मवित्तवान् सौम्यैः ।

व्यामिश्रैर्मिश्रगतिः पृथ्वीशो जायते मनुजः ॥”

इति । अत्र जीवशर्मणो मतमाह—जीवशर्मणः पक्षे तु क्रूरैः क्षित्यधिपः  
न प्रजायत इत्यन्वयः । क्रूरग्रहाणामुच्चगतत्वेन प्रकृष्टकार्यत्वं वा  
राजप्रतिरूपकत्वं वा भवत्येव, साक्षाद्राजत्वं न जायत इति जीव-  
शर्मणो मतम् । पापफलसूचकानां क्रूराणां पुण्यफलभूतसकललोक-  
बन्धत्वादिलक्षणराजत्वप्रतिपादनशक्तिः कथं घटत इति जीवशर्मणो  
मतम् । तथाच तद्वाक्यं -

१. ‘दादक’ क. ग. घ. २. ‘मं यवनानां जीवशर्मणश्च मतप्रदर्शनार्थं  
वैतालीयेनाह—’ क. ३. ‘आदिग’ द. ४ ‘बलत्वे’ ख. ५ ‘आदिग’ द.



“पापैरुच्चगतैर्जाता न भवन्ति नरा नृपाः ।

किन्तु वित्ताधिकास्ते म्युः क्रोधिनः कलहप्रियाः ॥”

इति । यवनाः पुनरेवं मन्पन्ते—द्विविधाः खलु राजानः क्रूरा-  
त्मानो धर्मात्मानश्चेति । तत्र शुभग्रहवलाधिक्ये जातानां क्रूरात्मत्वं  
न घटते । अतः क्रूरग्रहवलाधिक्यसम्भवे राजयोमे जाताः क्रूरा-  
त्मानो भवन्तीति । आचार्यस्याप्येतदेवाभिप्रेतमित्युत्तरत्र व्यज्यते ।  
अननैव स्वल्पजातकेऽभिहितं च —

“त्रिप्रभृतिभिरुच्चैर्नृपवंशभवा भवन्ति राजानः ।

पञ्चादिभिरन्य(तयोः कुलो)द्भवाश्च तद्वत् त्रिकोणगतैः ॥”

इति ॥ १ ॥

अथ द्वात्रिंशद्वाजयोगान् घसन्ततिलक्षणाद्—

वक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैस्त्रिभिश्च

स्वोच्चेषु षोडश नृपाः कथितैकलक्षे ।

द्व्यकाश्रितेषु च तथैकतमे विलक्षे

स्वक्षेत्रगे शशिनि षोडश भूमिपाः स्युः ॥ २ ॥

इति । स्वोच्चेषु वक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैः त्रिभिश्च कथितैक-  
लक्षे षोडश नृपाः स्युरित्यन्वयः । नृपाः नृपयोगा इत्यर्थः ।  
मेपरवाँ कर्कगुरौ तुलामन्दे मकरभाँमे च मति एषां चतुर्णा-  
मेकतमे लक्षे चत्वारो राजयोगाः । त्रिभिष्येति । वक्रार्कजार्कैः,  
वक्रार्कगुरुभिः, वक्रार्कगुरुभिश्च त्रिभिस्त्रिभिरुच्चगतैरेकतमस्योदये सति  
द्वादश राजयोगाः एवं षोडश राजयोगाः सम्भवन्ति । तथा  
शशिनि स्वक्षेत्रगते मति द्व्यकाश्रितेषु च एकतमे विलक्षे षोडश

भूमिपाः स्युरित्यन्वयः । त्रैकाश्रितेषु द्वयोरुच्चगतयोः चकार्कजार्क-  
गुरुणां मध्ये द्वयोरुच्चाश्रितयोः अथवैकास्मिन्नुच्चाश्रिते सति उच-  
गतस्यैकस्योदये सति च षोडश राजयोगा भवन्ति । द्वयोर्द्वयो-  
रुच्चगतयोरैकस्यादये मति द्वादश राजयोगाः, एकैकस्योच्चगतस्योदये  
चत्वारः । स्वधेऽपि शशिनीति षोडशस्यपि योजनीयम् ॥ २ ॥

अथुना चतुश्चरात्रिंशद्राजयोगानमुच्यते—

वर्गोत्तमगते लग्ने चन्द्रे वा चन्द्रवर्जितैः ।

चतुराद्यैर्ग्रहेर्दृष्टे नृपा द्वाविंशतिः स्मृताः ॥ ३ ॥

लग्ने वर्गोत्तमगते चन्द्रे वा वर्गोत्तमगते चन्द्रवर्जितैः चतुराद्यैः  
ग्रहैः दृष्टे द्वाविंशतिः नृपाः स्मृता इत्यन्वयः । चतुराद्यैरिति चतुर्भिः  
पञ्चभिः षड्भिर्वा ग्रहेर्दृष्टे द्वाविंशती राजयोगा भवन्ति । तत्र  
षड्भिर्दृष्टे एकः, पञ्चभिर्दृष्टे षट्, चतुर्भिर्दृष्टे पञ्चदश । एवं द्वा-  
विंशतिर्वर्गोत्तमगते लग्ने सति भवन्ति । तत्र लग्ने चन्द्रेण दृश्यमाने  
न योगभङ्गः, किन्तु पश्यतां मध्ये स न गण्यते । स तु पश्यतु  
या न वा । अन्यैश्चतुरादिभिर्ग्रहेर्दृष्टे योगा भवन्ति । तथा चन्द्रे  
वर्गोत्तमगते चतुराद्यैर्दृष्टेऽपि द्वाविंशती राजयोगा भवन्ति । तस्मादत्र  
चतुश्चरात्रिंशद्राजयोगा उक्ताः परमार्थेनैतद् योगद्वयमेव वर्गो-  
त्तमगते चन्द्रे चतुराद्यैर्दृष्टे एकः लग्ने द्वितीयः । सङ्ख्यादर्शनं  
गणितप्रदर्शनार्थम् । अत्र वर्गोत्तमे गणितं क्रियते । तदैतेषामेव  
योगानां चतुष्पञ्चदशिक(योगां)शतद्वयं भवति । एवं चन्द्रयोगानां  
सेकीकृतेऽष्टाविंशत्यधिकपञ्चशतानि भवन्ति । वर्गोत्तममाश्रानिर्देशात्  
तदाश्रयराशिभेदकता भेदा अत्र नापेक्ष्यन्ते ॥ ३ ॥

अथ शिखरिण्या पञ्च राजयोगानाह—

यमे कुम्भेऽर्केऽजे शशिनि गवि तैरेव तनुगै-

र्नृयुक्सिंहालिख्यैः शशिजगुरुचक्रैर्नृपतयः ।

यमेन्दू तुङ्गेऽङ्गे सवितृशशिनौ षष्ठभवने

तुलाजेन्दुक्षेत्रैः ससितकुजजीवैश्च नरपौ ॥ ४ ॥

यमे कुम्भे अर्के अजे शशिनि गवि च स्थिते सति तैरेव तनुगैस्तेष्वेकस्मिँल्लग्नस्थे सति इत्यर्थः । नृपृक्सिंहालिस्थैः मिथुन-सिंहवृश्चिकस्थैः शशिजगुरुवक्रैः नृपतयः त्रयो राजयोगा भवन्ति । अत्र पदभिर्ग्रहैर्यथोक्तराशिस्थितयोः । तत्र मन्दरविचन्द्राणामुदय-स्थितिभेदेन स त्रिविधो भवति । अतस्त्रयो राजयोगाः स्युः । अत्र \*मेपस्थेऽर्के बुधस्य मिथुनस्थित्यसम्भवात् केचिदेवं व्याचक्षते— यमे कुम्भेऽर्केऽजे गवि शशिनि तैरेव तनुगैः तेषामेकस्मिन् लग्न-गते सति त्रयो राजयोगाः । नृपृक्सिंहालिस्थैः शशिजगुरुवक्रैः तैरेव तनुगैः त्रयो योगा इति । यमेन्दू तुङ्गे, यमेन्दू मन्दचन्द्रौ तुङ्गे उच्च अङ्गे लग्ने । यमेन्दोरुच्चगतयोरेक(तमे)तरस्मिन् लग्नगते सती-त्यर्थः । सवितृशशिनौ षष्ठभवने कन्यायां च यदि भवतः, तुला-जेन्दुक्षेत्रैः ससितकुजजीवैश्च नरपौ द्वौ राजयोगौ भवत इत्यर्थः । अयं योगः सप्तभिरपि ग्रहैर्यथोक्तराशिस्थितैः सम्भवति । स च लग्न-भेदात् द्विविधो भवतीति द्योतयितुं नरपावित्यत्र द्विवचनं कृतम् ॥ ४ ॥

अथ शिपरिण्या राजयोगत्रयमाह—

कुजे तुङ्गेऽर्केन्द्रोर्ध्वनुपि यमलग्ने च कुपतिः

पतिर्भूमेश्चान्यः क्षितिपुतविलग्ने सशशनि ।

सचन्द्रे सौरेऽस्ते सूरपतिगुरौ चापधरगे

स्वतुङ्गस्थे भानाबुदयमुपयाते क्षितिपतिः ॥ ५ ॥

कुजे तुङ्गे मकरस्थे अर्केन्द्रोर्ध्वनुपि स्थितयोः यमलग्ने यमस्य

१. 'मे रा' ट. २. 'रयुः यमेन्दू' ३. 'ङ्गे' ४. ट. च. ५. 'ते स' ६.

मन्दस्य उदये कुपतिः राजयोगो भाति । तयःच वादरायणः—

“लग्ने सौरस्तुङ्गे भौमश्चन्द्रादित्यौ चापं प्राप्तौः”

इति । अत्र केचित्— यमलग्न इत्यत्र राशिविशेषानुक्त्या मकर-  
स्यापि यमलग्नत्वसम्भवादाचार्येण मन्दभौमसहितस्य मकरस्य लग्नत्वं  
विवक्षितमिति व्याचक्षते । तेषां माण्डव्यवचनं प्रमाणम् । तद्यथा—

“आदित्यश्च निशाकरश्च भवतो घाणासनार्धे यदा  
सार्धं भास्करिणा स्ववीर्यमहितः प्राप्तौ मृगं मङ्गलः ।  
प्राप्नोति प्रमदं द्विं यः स सुकृती क्षमापालचूडामणि-  
स्रस्यन्ति प्रतियोगिनो रणमुखे यस्मात् कृतान्तादिष ॥”

इति । अत्रैव चन्द्रे कुजेन मह मकरस्थिते लग्नगतेऽपि राजयोग  
इत्याह— सशशिनि क्षितिसुतविलम्बे अर्के धनुषि स्थिते अन्यश्च भूमेः  
पतिः अन्यो राजयोग इत्यर्थः । अत्र वादरायणः—

“सूर्यश्चापे मेन्दुभौमस्तुङ्गं प्राप्तौ लग्ने वा स्यात्”

इति । सचन्द्रे सौरे अस्तस्थिते<sup>१</sup> सुरपतिगुरौ चापधरगे स्वतुङ्गस्थे  
भानौ उदयमुपयाते क्षितिपतिर्भवतीत्यन्वयः । मेषार्कोदये तुलास्थे  
चन्द्रे मन्दे च, धनुःस्थिते सुरगुरौ च मति राजयोगो भव-  
तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ क्षितिरिष्या राजयोगद्वयमाह—

वृषे सेन्दौ लग्ने सविनृगुरुतीक्ष्णांशुतनयैः

सहज्जायाखस्थैर्भवति नियमान्मानवपतिः ।

मृगे मन्दे लग्ने सहजरिषुधर्मव्ययगतैः

शशाङ्काधैर्जातः पृथुगुणयशाः पुङ्ग्लपतिः ॥ ५ ॥

१. 'स यस्य सु' घ ट. च. २ 'ते चापधरगे सुरपतिगुरौ स्थिते तुङ्गस्थे  
भानौ' ट.

इति । सेन्दौ वृषे लग्ने सुहृज्जायाखस्थैः सवितृगुरुतीक्ष्णांशु-  
तनयैः नियमान्मानवपतिर्भवतीत्यन्वयः । चन्द्रार्कमन्दैर्मूलत्रिकोणस्थैः  
चन्द्रोदये मत्तमस्थे गुरौ च सति नियमाद् अमंग्रयेन राजा भव-  
तीत्यर्थः । मन्दे मृगे लग्ने शशाङ्काद्यैः सहजरिपुधर्मव्ययगतैः जातः  
पृथुगुणयशः । पुङ्गलपतिर्भवति<sup>१</sup> । मकरस्थमन्दोदये मीनचन्द्रे मिथुन-  
कुजे कन्यापुधे चापगुरौ च सति प्रसूतः पुङ्गलपतिर्भवति, पुङ्गला  
मनुष्याः तेषां पतिः राजेत्यर्थः । अत्र शशाङ्काद्यैरित्युक्तम् । शुक्रः  
क गच्छतु इत्युच्यते यथासङ्ख्यं पञ्चमस्थानस्याविद्यमानत्वात् ।  
शुक्रस्य चन्द्रोदः पञ्चमत्वादनवकाशः । तेन शुक्रार्कौ यत्रकुत्रापि  
स्थिताविति<sup>२</sup> ॥ ६ ॥

अथ शिखरिण्या राजयोगत्रयमाह—

हये सेन्दौ जीवे भृगमुखगते भूमितनये

स्वतुङ्गस्थौ लग्ने भृगुजशशिसिताश्चापि नृपती ।

सुतस्थौ वक्रार्की गुरुशशिसिताश्चापि हिवुके

बुधे कन्यालग्ने भवति हि नृपोऽन्योऽपि गुणवान् ॥ ७ ॥

सेन्दौ जीवे हये धनुषि स्थिते, भूमितनये भृगमुखगते, स्व-  
तुङ्गस्थौ भृगुजशशिसिताश्चापि स्वतुङ्गस्थे भृगुजे स्वतुङ्गस्थे शशिसिता वा  
तयोर्धुगपत् तुङ्गस्थित्यभावाद् एकस्मिन्नुच्चगते लग्ने सतीत्यर्थः ।  
अत एवाह— अत्र नृपती । अत्र द्वौ राजयोगाविति यावत् ।  
बुधे कन्यालग्ने स्थिते सति वक्रार्की सुतस्थौ मकरस्थौ गुरुशशि-  
सिताश्चापि हिवुके धनुषि स्थिताश्चेदन्योऽपि गुणवान् नृपो भवतीति  
सम्बन्धः ॥ ७ ॥

१. 'तिरित्य' घ. २. 'सन्' वृषे च' द. ३. 'ति ॥ हये' घ. छ. घ. ४. 'ति ॥  
हये' ख ग. ५. 'स्थे ल' छ. ६. 'अत्र' क द. ७. 'न्धः ॥ इ' ख. ग. घ. द. च.

अथ क्षिप्रशिण्या राजयोगप्रथमाह—

क्षपे सेन्दौ लग्ने घटमृगमृगेन्द्रेषु सहितै-

र्यमारार्कैर्योऽभूत् स खलु मनुजः शास्ति वसुधाम् ।

अजे भूजे मूर्तौ शशिशृङ्गगते चामरगुरौ

सुरेज्ये वा लग्ने धरणिपतिरन्योऽपि गुणवान् ॥ ८ ॥

सेन्दौ क्षपे लग्ने यमारार्कः घटमृगमृगेन्द्रेषु सहितैः योऽभूत्  
स खलु मनुजः वसुधां शास्तीत्यन्वयः । मीनचन्द्रोदये कुम्भमन्दे  
मकरमांसे सिंहाके च सति यो जातः स राजेत्यर्थः । खलुशब्दो  
वाक्पालङ्कारे । भूजे अजे मूर्तौ अमरगुरौ शशिशृङ्गगते च सति  
धरणिपतिः भूपतिः, अथवा शशिशृङ्गगते सुरेज्ये लग्ने भूजे अजे  
च अन्योऽपि गुणवान् धरणिपतिर्भवतीति तत्र द्वौ राजयोगौ ॥ ८ ॥

अथुना राजयोगं विद्युम्भालयाह—

कर्किणि लग्ने तत्स्थे जीवे चन्द्रसितज्ञैरायं प्राप्तैः ।

मेघगतेऽर्के जातं विद्याद् विक्रमयुक्तं पृथ्वीनाथम् ॥ ९ ॥

कर्किणि लग्ने जीवे तत्स्थे कर्कटकस्थे, चन्द्रसितज्ञैरायं प्राप्तैः  
वृषस्थिरिति यावत्, अर्के मेघगते च जातं विक्रमयुक्तं पृथ्वीनाथं  
विद्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ स्वागत्या १) राजयोगप्रथमाह—

मृगमुखेऽर्कतनये तनुसंस्थे

क्रियकुलीरहरयाऽधिपयुक्ताः ।

१. 'तिमंशवि । अ' क. ग. घ. ङ. च. २. 'भूमेनाथम्' क. ग. घ.  
३. 'शशिपोपालम्' ङ.

मिथुनतौलिसहितौ बुधशुक्रौ

यदि ततः पृथुयशाः पृथिवीशः ॥ १० ॥

इति । अर्कतनये मृगमुखे तनुसंस्थे सति क्रियकुलीरहरयो-  
ऽधिपयुक्तौ यदि ततः पृथुयशाः पृथिवीशो भवतीत्येको<sup>१</sup> योगः<sup>२</sup> ।  
तयार्कतनये मृगमुखे तनुसंस्थे बुधशुक्रौ मिथुनतौलिसहितौ यदि  
मिथुनस्थौ तौलिस्थौ वा यदि ततोऽपि पृथिवीश इति योगद्वयम् ।  
बुधशुक्रपौरेककाले मिथः पञ्चमनवमस्थित्यभावात् । अतो मृगमन्दोदये  
मिथुनस्थौ बुधशुक्रौ अथवा तौलिस्थाविति योगद्वयकल्पनात्र  
कर्तव्या । युवतिर्तौलिसहितौ बुधशुक्राविति वा पाठः । तयार्कतनये  
मृगमुखगते तस्मिन्नेव तनुसंस्थे क्रियकुलीरहरयोऽधिपयुक्ता युवति-  
तौलिसहितौ बुधशुक्रौ यदा (भवति?) तदा पृथिवीशो भवति पृथु-  
(गुण?)यशाश्चेत्येको योगः ॥ १० ॥

अथ राजयोगमनुष्ठुभाह—

स्वोच्चसंस्थे बुधे लग्ने भृगौ मेपूरणाश्रिते ।

मजीवऽस्तं निशानाथे राजा मन्दारयाः सुते ॥ ११ ॥

बुधे स्वोच्चसंस्थे लग्ने, भृगौ मेपूरणाश्रिते मिथुनस्थे, निशा-  
नाथे मजीवे अस्तं मन्दारयोः सुते स्थितयोर्जातो राजा भवति ।  
अर्थात् सूर्यस्य गिहस्तिग्निप्युक्ता भवति ॥ ११ ॥

१. 'युवतितौ' ; २. 'शः । अ' ए. ३. 'मृगतेम' ड. ४. 'नराः युवति-  
तौलिमहितौ बुधशुक्रौ यदि ततः पृथुयशाः पृथिवीशो भवति । मिथुनतौलिमहिता-  
विति वा पाठः । तदर्थे तु अर्कतनये मृगमुखे तनुसंस्थे बुधशुक्रौ मिथुनतौलि-  
सहितौ यदि मिथुनस्थौ तौलिस्थौ वा यदि ततोऽपि पृथ्वीशो इति योगद्वयम् ॥ १० ॥ स.  
५. 'को राजयो' घ. ६. 'गः । बुध' घ ७. 'अथवाकं' ड. ८. 'दाविति वो' घ, ड.  
९. 'स्या ॥ १० ॥ स्वी' घ.

उक्तेऽनेकेषु योगैराजपुत्रजातोऽपि राजा भवति । वक्ष्यमाणेषु राज-  
वंश्येषु । तद् वस्तुक्रान्तो माग्निनामाह—

अपि खलकुलजाता मानवा राज्यभाजः

विमुत नृपकुलोत्थाः प्रोक्तभूपालयोगैः ।

नृपतिकुलसमुत्थाः पार्थिवा वक्ष्यमाणै-

र्भवति हि नृपतुल्यस्त्वभूपालपुत्रः ॥ १२ ॥

इति । प्रोक्तभूपालयोगैः खलकुलजाता मानवा अपि राज्यभाजो  
भवन्ति, नृपकुलोत्थाः विमुत । नृपकुलान्वानां राज्यप्राप्तिरवश्यम्भाविनी-  
त्यर्थः । वक्ष्यमाणैः भूपालयोगैः नृपतिकुलसमुत्थाः पार्थिवा भवन्ति ।  
राजकुलजाता एव राजानो भवन्ति । तेषु वक्ष्यमाणेषु योगेषु  
अभूपालपुत्रो नृपतुल्यो भवति ॥ १२ ॥

अथावाङ् राज्ययोगा इति वक्ष्यमाणैर्माग्निनामाह—

उच्चत्रिकोणमैर्बलमंस्थै-

स्त्याद्यैर्भूगतिवंशजा नरेन्द्राः

पञ्चादिभिर्गन्धर्वजजाता

हानैर्वित्तयुता न भूमिपाः स्युः ॥ १३ ॥

इति । उच्चैः बलमंस्थैः उच्चत्रिकोणैः भूगतिवंशजा नरेन्द्रा  
भवन्ति । त्रिभिश्चतुर्भिश्च उच्चैर्गन्धर्वजैश्च पञ्चादिभिर्गन्धर्वजजाता  
अपि नरेन्द्रा भवन्ति । हानैर्गन्धर्वैः हानैः भूगतिवंशजैः, पञ्चम्यो हानै-  
रगन्धर्ववंशजा अपि वित्तयुता भवन्त्येव न भूमिपा भवन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

१, २ 'त्वा' च ३ 'ता' राजसमा अर्धपुनः ।

\* 'स्वोद्यम्यगुह्यत्रिकोणमर्थे' इति मुद्रितपुस्तकपाठाद्रीक्यते वृत्तमुत्पद्य भवति ।



अथान्मान् राजयोगान् विद्युन्मालयाह—

लेखास्थेऽर्केऽजेन्दौ लग्ने भौमे स्वोच्चे कुम्भे मन्दे ।

चापं प्राप्ते जीवे राज्ञः पुत्रं विद्याद् भूमेर्नाथम् ॥ १४ ॥

इति । अजेन्दौ लग्ने - अर्के लेखास्थ इति । अजस्थ इन्दु-  
रजेन्दुः तत्र लग्नस्थिते सति लग्नराशौ यत्रकुत्र स्थित इत्यर्थः ।  
अर्के लेखास्थे उदयलेखास्थिते, अर्धोदयकाल इति यावत् । अत्र  
मेपस्थेऽर्के चन्द्रे च सति मेपलग्ने अर्कस्यार्धोदयकाले जात इत्युक्तं  
भवति । भौमे स्वांश्चे मकरस्थे, मन्दे कुम्भे, जीवे चापं प्राप्ते च  
जातं राज्ञः पुत्रं भूमेर्नाथं विद्यादित्यन्वयः ॥ १४ ॥

अन्यं राजयोगं विद्युन्मालयाह—

स्वर्क्षे शुके पातालस्थे धर्मस्थानं प्राप्ते चन्द्रे ।

दुश्चित्काङ्क्षप्राप्तिप्राप्तैः शेषैर्जातः स्वामी भूमेः ॥ १५ ॥

इति । स्वर्क्षे पातालस्थे शुके, वृषभे तुलायां वा चतुर्थ-  
स्थाने इति यावत् । चन्द्रे धर्मस्थानं प्राप्ते शेषैर्दुश्चित्काङ्क्षप्राप्तिप्राप्तिः  
यथायोगं तृतीयलग्नलाभस्यैर्जातः भूमेः स्वामी भवतीति मन्वन्धः ।  
अन्यकुलजो धनवान् भवति ॥ १५ ॥

सौम्ये वीर्ययुते तनुपंस्ये

वीर्याढ्ये च शुभे शुभयाते ।

धर्मोर्योपचयेष्वथ शेषै

धर्मात्मा नृपजः पृथिवीशः ॥ १६ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ १६ ॥

१. 'सौम्ये वीर्ययुते तनुपंस्ये वीर्याढ्ये शुभे शुभयाते च सति शेषैर्धर्मा-  
योपचयेषु स्थितैश्च जातो नृपजः नृपतिकुलजो धर्मात्मा पृथिवीशो भवतीत्यन्वयः ।  
अन्यकुलजो धनवान् भवतीत्यर्थः' क. घ. ङ. च.

अन्यं राजयोगं वंशान्येनाह—

वृषोदये मूर्तिधनारिलाम्भैः

शशाङ्कजीवार्किसितैर्नृपोऽपरः ।

मुख गुरौ खे शशितिग्मदीधिति

यमोदये लाभगर्तैर्नृपोऽपरैः ॥ १७ ॥

इति । वृषोदये वृषलग्ने मूर्तिधनारिलाम्भैः क्रमेण शशाङ्क-  
जीवार्किसितैरपरः नृपो भवति । 'उच्चत्रिकोणगैस्त्र्यार्धैरिति पूर्व-  
मुक्तस्याप्यस्य योगस्य गोचरीषर्दन्यायेन पुनरुपादानं पूजार्थमिति  
द्रष्टव्यम् । शशाङ्कजीवार्कपुनर्नृप इति वा पाठः । तत्रापरैरादित्या-  
ङ्गारकबुधशुक्रैर्लाभसैरिति । यत्र कृत्र राशौ लग्नगते, गुरौ मुखे, खे  
शशितिग्मदीधिति खे दशमे चन्द्रार्कौ, यमोदये मन्दोदये च सति  
अपरैर्ग्रहैः लाभगर्तैर्नृपो राजा भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथान्यद्वाजयोगद्वयं वसन्ततिलकेनाह—

मेपूरणायतनुगाः शशिमन्दजीवा

ज्ञारौ धने सितरवी हिबुके नरेन्द्रः ।

वक्रासितौ शशिसुरेड्यसितार्कसौम्या

होरासुखास्तशुभखासिगताः प्रजेशः ॥ १८ ॥

इति । मेपूरणायतनुगाः शशिमन्दजीवाः, धने ज्ञारौ, अथवा  
हिबुके सितरवी यदि तदा नरेन्द्रो भवतीत्यर्थः । वक्रासितौ शशि-  
सुरेड्यसितार्कसौम्याः क्रमेण होरासुखान्तशुभखासिगताः यदि भवन्ति  
तदा प्रजेशो भवतीत्यर्थः । वक्राभितामिति पृथङ्निर्देशस्तयोरुभयोरपि  
होरासिति द्योतयितुं कृत इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

१. 'वार्कसुतेर', २. 'वैसुतेर' ३. 'व्यम् । यत्र' ख ग. ४. 'ति । अन्य-  
मुल्लो धनराश्र भवति ॥ क; 'ति ॥ मे' घ. द. च. ५. 'यं । अत्र व' ख. घ. छ. च.

एवमुक्त्वा राजयोगानां फलानामवालंभ्यतयाह—

कर्मलग्नगतपाकदशायां

राज्यलब्धिस्थवा प्रबलस्य ।

शत्रुनीचगृह्यातदशायां

छिद्रसंश्रयदशा परिकल्प्या ॥ १९ ॥

इति । कर्मलग्नगतपाकदशायां राज्यलब्धिर्भवति इत्यन्वयः । कर्मगतो लग्नगतश्च तयोर्वोगं कर्तुं ग्रहेष्वन्यतमयोः बलाधिकस्य पाकदशायाम् अन्तर्दशायां राज्यलब्धिर्भवति । अत्र राजयोगामावेऽपि कर्मगतस्य वा लग्नगतस्य वा पाकदशायाम् अथवा कर्माधिपस्य वा लग्नाधिपस्य वा पाकदशायां जन्मिनां स्वध्वगृहाधिपस्य प्राप्तिरित्यनुसन्धेयम् । अथवा प्रबलस्य जन्मकाले यः प्रबलो ग्रहः तस्य पाकदशायां राज्यलब्धिर्भवति ।

“तुलायां दशमे भागे स्थिते कमलबोधने ।

अपि राजकुले जातो भिक्षाश्रेणापजीवति ॥”

इत्यादीनामन्यशास्त्रोक्तानां राजयोगापवादानां सामान्यकारणं शत्रुनीचगतत्वमेवेति तानुक्त्या शत्रुनीचगतानां ग्रहाणां दशापाककालमुपदिशति— शत्रुनीचगृह्यातदशायां छिद्रमंश्रयदशा परिकल्प्या । शातयतीति शत्रुः । शातनं तनूकरणम् । ततो भौमादीनां क्रिणोच्छेदकर्ता सूर्योऽपि मौढ्याप्रस्थायां शत्रुर्गच्छत्युच्यते । सूर्यप्राप्तस्य सैन्यः शत्रुजितस्य वा शत्रुपद्वर्गं प्राप्तस्य वा नीचगृहं यातव्यं वा नीचराशिं प्राप्तस्य वा ग्रहस्य पौरुषकाले छिद्रमंश्रयदशा परिकल्प्या । छिद्रं छिद्रप्रहारिभिः शत्रुभिरन्विष्यमाणमनर्भूलमवस्थान्तरं छिद्रश्चेदनेोच्यते । तस्य संश्रयदशा प्राप्त्यवस्था राज्यग्रंथ इति यावत् ।

१. ‘दर्शयति’ — ‘य’ रा. ग. घ. ङ. च. २. ‘क’ क. ग. घ. ङ. च.

३. ‘स्वस्वता’, ४. ‘चारका’ -.

अथवा— छिद्रदशा अनर्थवद्बलावस्था । संश्रयदशा अनर्थबाहुल्येन बलाधिकस्यान्यस्य संश्रयावस्था । अत्र छिद्रसंश्रयशब्देन अंशप्राप्तिरनर्थमहिष्णुनया बलवदन्यराजमंश्रयश्च विवक्ष्यत इति परिकल्प्येति पदेन द्योत्यते । परितो विचिन्त्य कल्पनं परिकल्पनम् । शत्रुनीच-गृहपातदशायां पूर्वावस्थापरिहाणिभेदत्येव । तत्रात्यन्तं अंशो वा अनर्थबाहुल्यं वा अनर्थशमनायान्याश्रयो वा ग्रहाणां बलावलवशेन निरूप्य वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

गुरुबुधसितलग्न सप्तमस्येऽर्कपुत्रे

वियति दिवसनाथे भोगिनां जन्म विद्यात् ।

शुभवलयुतकेन्द्रैः क्रूरमर्त्यश्च पापै-

र्ब्रजति शबरदस्युस्वामितामर्थभाक् च ॥ २० ॥

गुरुबुधसितलग्ने अर्कपुत्रे सप्तमस्ये च भोगिनां जन्म विद्यादित्यन्वयः । गुरौ बुधे मिते च लग्नस्ये मति मन्दे सप्तमस्ये च भोगिनां भोगवतां राजतुल्यानामित्यर्थः । अत्र योगे गुरुबुधयोः शनेश्च त्रयाणां दिग्बलसम्भवात् कीर्तिमन्तः सुखिनो जायन्त इत्यर्थः । तथा गुरुलग्न, सप्तमस्ये मन्दे, वियति दिवसनाथे च भोगिनां जन्म विद्यात् । अत्र बुधसितयोगलग्नगतत्वं न विवाक्षितम्, असम्भवात् । अतो दिग्बलयुक्ता गुरुशनिद्वया योषफलप्रदा इति द्रष्टव्यम् । शुभवलयुतकेन्द्रैः क्रूरमर्त्यः पापैश्च शबरदस्युस्वामितां ब्रजति । केन्द्रैः शुभवलयुक्तैः पापैः क्रूरमर्त्यश्च शबरदस्युनां नीचानां स्वामितां

१. 'निरनर्थप्राप्तिर' व घ ट च २ 'यैः' । अथ च गार्गिः— 'लग्नगः कर्मगो वा स्वादयशः प्रबलो ग्रहः । य स्वात् म्यान्तार्दशाकाले राज्यदः प्रबलो यदि ॥ नीचारिगृहमंशस्य दशाया प्रबलस्य च । च्युतिर्धननिर्हिनस्य तज्जोशः परमश्रयात् ॥ ' इति ॥ १९ ॥ अथ भोगिना शबरदस्युस्वामिना च जन्मजान् मालिन्याह— गु' ३ 'घ ॥ इति । गु क घ. 'जन्मपुत्रे स' घ ५ 'गुरुबुधयोर्' ट. ६. 'यतैः शुभ क्षेत्रैर्बलयुक्तैरिति यावत् । पा' घ

व्रजति अध्यक्षतां व्रजति, अर्थभाक् च भवति । शुभग्रहैर्बलयुक्तैः  
केन्द्रगतैरिति कैश्चिद् व्याख्यातम् । तच्चायुक्तम् । यस्माद् मार्गिः—

“पापक्षेत्रगतैः पापैः केन्द्रस्थैः सौम्यराशिभिः ।  
सवलैर्यस्य जन्म स्यादसौ वै दस्युनायकः ॥”

इति ॥ २० ॥

इति होराविवरणे एकादशोऽध्यायः ॥

### अथ द्वादशोऽध्यायः ।

विशिष्टजनसम्भवान्तर्गत् एव कादाचित्कान् राजयोगानुत्तयेदानीं नमःस्य-  
ग्रहजानितान् नियतविषयानाकृतिसङ्ख्याश्रयदलमेवास्तुर्विधान् नामसयोगान् निर्दि-  
शति । तत्र प्रथमं तेषां सङ्ख्याविभागमौपच्छन्दसिकेनाह—

नवदिग्बसवस्त्रिकाग्निवेदै-

गुणिता द्वित्रिचतुर्विकल्पजाः स्युः ।

यवनैस्त्रिगुणा हि पट्छती सा

कथिता विस्तरतोऽत्र तत्समासः ॥ १ ॥

इति । द्वित्रिचतुर्विकल्पजा नामसयोगाः सङ्ख्याया त्रिकाग्नि-  
वेदैर्गुणिता नवदिग्बसवः स्युरिति सम्बन्धः । द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां  
च विकल्पेन जाता द्वित्रिचतुर्विकल्पजाः । द्वयोराकृतिसङ्ख्यायो-  
र्विकल्पेन जाता योगाः त्रिकेण गुणिता नव सप्तविंशतिः स्युः ।  
त्रयाणामाकृतिसङ्ख्याश्रयाणां विकल्पजा योगाः अग्निगुणिता दिशः

त्रिंशत् स्युः । चतुर्णामाकृतिसङ्ख्याश्रयदलानां विकल्पजा योगाः  
 वेदगुणिता वमयः द्वात्रिंशत् स्युः । अत्र सप्तविंशतौ सङ्ख्यायोगाः  
 सप्तेति वक्ष्यति । अतो विंशतिराकृतिवियोगाः सप्त सङ्ख्यायोगाश्च ।  
 सप्तविंशतिभिः सहैव त्रिंशत् । अतस्त्रय आश्रययोगाः । त्रिंशद्भिः  
 सहैव द्वात्रिंशत् । अतो द्वौ दलयोगौ । एवं सम्भूय द्वात्रिंश-  
 नामसयोगा भवन्ति । एतेषु योगेषु राशिभिर्ग्रहैश्च पृथक् पृथक्  
 विकल्पमानेषु सङ्ख्याबाहुल्यं भवतीति यवनानां मतेनाह —  
 यधनैः सा त्रिगुणा पटञ्जली कथिता । ते नामसयोगाः सा इत्यनेन  
 परामृश्यन्ते । निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकार्थतामापादयन्ति सर्व-  
 नामानि पर्यायेण च तल्लिङ्गमुपाददत इति पटञ्जलीमतस्त्रीलिङ्गेन सेति  
 निर्देशः कृतः । पटञ्जली पणां शतानां समाहारः पटञ्जली, सा  
 त्रिगुणा अष्टादशशतानि । यवनाचार्यैः ते द्वात्रिंशन्नामसयोगाः वि-  
 स्तरेण फलविशेषैः सहैति यावत् । अष्टादश शतानि कथितानि ।  
 हिः प्रविद्धौ । अत्र तत्समासः । अत्र तेषां समासः संक्षेपाद्  
 द्वात्रिंशदेव कथ्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

तेन्नामसयोगानाह—

रज्जुर्मुमलं नलं चराद्यैः

सत्यस्त्वाश्रयजानिहाह योगान् ।

केन्द्रैः सदसद्युतैर्दलाख्यौ ,

सकसर्पौ कथितौ पराक्षरेण ॥ २ ॥

इति । इह सत्यस्तु चराद्यैः ग्रहयुतैः रज्जुः मुसलं नलम्  
 आश्रयजान् योगानाद्येत्यन्वयः । इह नामसयोगेषु चराद्यैः चरस्यैः  
 सर्वैर्ग्रहैः रज्जुः, स्मिरय्यैः मुसलम्, उभयस्यैः नलम् इति आश्रयजान्  
 आश्रयभूतैश्चरादिभिर्जातान्त्यर्थः । सदसद्युतैः केन्द्रैः दलाख्यौ सक-

‘सर्पौ पराशरेण कथितावित्यन्वयः । केन्द्रैः शुभयुतैर्दलाख्यः स्रग्योगः,  
‘अशुभयुतैर्दलाख्यः सर्पयोगः, इति द्वौ दलयोगौ । एवमाश्रययोगा-  
‘ख्यः । दलयोगौ च द्वौ’ । वक्ष्यमाणेष्व्वाकृतिसङ्ख्यायोगेष्वन्तर्भाव-  
‘ऽप्येषामवश्यमाविफलप्रदत्वप्रदर्शनाय प्रथमं निर्देशः कृत इति वेदि-  
तव्यम् ॥ २ ॥

एतान् योगान् प्रत्यन्येषां मते वक्ष्यति—

योगा व्रजन्त्याश्रयजाः समत्वं

यवाब्जवज्राण्डजगोलकाद्यैः ।

केन्द्रोपगप्रोक्तफलौ दलाख्या-

वित्याहुरन्ये न पृथक्फलौ तौ ॥ ३ ॥

इति । आश्रयजा योगा यवाब्जवज्राण्डजगोलकाद्यैः समत्वं  
व्रजन्तीत्यन्वयः । केन्द्रपणपरापोह्निमानाममङ्करेण चरादित्वप्रसङ्गात्  
समत्वमाश्रयजानामाकृतिजैरित्यन्ये आहुः । तथा दलाख्यावपि  
केन्द्रोपगप्रोक्तफलौ केन्द्रोपगप्रोक्तैर्योगैस्तुल्यफलौ पृथक्फलौ न भवत  
इति चान्ये आहुः । एवमन्येषां मते आश्रयदलयोगा सन्तीति  
भावः ॥ ३ ॥

आकृतियोगानाह—

आसन्नकेन्द्रभवनद्वयगैर्गदाख्य-

स्तन्वस्तगैस्तु शकटं विहगः खचन्ध्वोः ।

१. ‘द्वौ । अत्र कैश्चिद् व्याख्यातं चरराशिचतुष्के यदा सर्वे महा भवन्ति  
तदा रज्जुर्नाम योगः, एवं स्थिरराशिचतुष्के शुभत्वं, द्विद्विभारचतुष्के मलम् ।  
तथापुनर्यम् । यस्माद् गार्ग्यः— “एवौ द्वौ वा द्वयः सर्वे संयुक्ता यदा महैः ।  
चरयोगस्तदा रज्जुः सेव्यानां जन्मनो भवेत् ॥ स्थिरधेनुस्तु नाम मानिनां जन्म-  
कृन्तृणाम् । द्विद्विभावे नराख्यं तु घनिर्गं परिकीर्तितम् ॥” इति । तथाच मन्त्रः—  
“चरराशिमैर्ग्रहेन्द्रै रज्जुः स्थिरराशिमै र्गदा मुपलभ्यते । द्विद्विभारमैर्गैर्गो भवति नलो  
मुनिभिरुद्दिष्टः ॥” इति । व’ ; २. ‘तमुपजातिष्याह—’ ; ३. ‘य च न्तानिलकेनाह—’  
क. ४. ‘गेपु श’ घ.

शृङ्गाटकं नवमपञ्चमलग्नसंस्थै-

र्लग्नान्यगैर्हलमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ४ ॥

इति । आमनन्नेन्द्रमवनद्वयगैः गदाख्यो योग इति तज्ज्ञाः प्रवदन्ति इत्यन्वयः । लग्नमुखगतैः मुखोत्तगतैः अस्तदशमगतैः दशमलग्नगतैश्च ग्रहैर्गदाख्यो योग इत्यर्थः । लग्नसप्तमगतैः शकटम् । दशमचतुर्थगतैश्चिद्दशः । नवमपञ्चमलग्नसंस्थैः शृङ्गाटकम् । लग्नान्यगैः धनत्रिकोणे सहस्रत्रिकोणे द्विचक्रत्रिकोणे वा स्थितैर्ग्रहैर्हलसंज्ञो योग इति तद्विदो वदन्ति ॥ ४ ॥

अथ वज्रादियोगान् वैतालधेनाह—

शकटाण्डजवच्छुभाशुभैर्वज्रं तद्विपरीतगैर्यवः ।

कमलं तु विमिश्रसंस्थितैर्वापी तद् यदि केन्द्रवाद्यतः ॥ ५ ॥

इति । शकटाण्डजवच्छुभाशुभैर्वज्रम् इत्यन्वयः । शकटवत् तन्व-  
स्तगैः शुभैः, विद्वगवत् खवन्धुस्थैरशुभैश्च वज्रं नाम योगः ।  
तद्विपरीतगैर्यवः मृदवधुस्थैः शुभैस्त्वन्वस्तगैरशुभैश्च यवो नाम योग  
इत्यर्थः । विमिश्रसंस्थितैः कमलं तन्वस्तखवन्धुभिः चतुर्भिरपि शुभा-  
शुभयुतः कमल कमलयोगः । तत् केन्द्रवाद्यतो यदि वापीत्यन्वयः ।  
केन्द्रवाद्यतः केन्द्रादन्यत्र पणपरेषु चतुर्षु, अथवा आपोक्लिमेषु चतुर्षु  
स्थितैः शुभाशुभैर्वापी नाम योगो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सूर्याण्युत्थमयने शुभशुक्रयोः स्थितसम्भवात् कथमेवमुक्तमित्यत्राह—

पूर्वशास्त्रानुसारं मया वज्रादयः कृताः ।

चतुर्थमयने सूर्याञ्जसितौ भवतः कथम् ॥ ६ ॥



इति । मया पूर्वशास्त्रानुसारेण वज्रादयः कृता इत्यन्वयः । पूर्वशास्त्रानुसारेण पूर्वैरुक्तानि शास्त्राणि दृष्ट्वा तदनुसारेणेत्यर्थः । सूर्याच्चतुर्थभवने ज्ञसितौ कथं भवतः । तस्मात् तथोक्तयोगानाम् असम्भवेऽपि पूर्वशास्त्रेषु दृष्टा योगाः पूर्वशास्त्रबहुमानान्मयोक्ताः । अत्र 'कथमित्यन्ते निर्देशादक्षरसङ्ख्यया "मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः" इत्युक्तस्य मन्वन्तरप्रमाणस्य सूचनात् पूर्वस्मिन् मन्वन्तरे बुधशुक्रयोः परिधिप्रमाणचलनेन तथापि सम्भाव्यं, पूर्वाचार्या न वृथा वदन्तीत्याचार्यस्याभिप्रायो द्योत्यते । तथाच पूर्वशास्त्रवचनं प्रति बराहमिहिरेण संहितायामुक्तम्—

“आश्लेषार्धाद् दक्षिणमुत्तरमयनं तथा धनिष्ठाद्यम् ।

पूर्वं कदाचिदासीद् यत् प्रोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥

साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत् ।

(अध्या० ३. श्लो० १, २)

इति । कालान्तरायत्तम्यायनचलनस्य सञ्जावदर्शनेनातिबहुकालान्तरायत्तं बुधशुक्रयोः परिधिचलनमपि सम्भाव्यमिति पूर्वाचार्यमतनिरासोऽत्र न कृतः, किन्तु तत्प्रदर्शनमेव कृतमिति द्रष्टव्यम् । आचार्येणान्यत्रापि पूर्वाचार्यमतविषयमात्मीयमतं प्रदर्शितम् । तथाहि—

“ज्योतिषमागमशास्त्रं विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम् ।

स्वयमेव विकल्पीयतुं किन्तु बहूनां मतं वक्ष्ये ॥”

इति<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

पूर्वमप्यतनकालीनबुधशुक्रचारवशास्त्राभसयोगेषु केषाञ्चिदसम्भवेऽपि पूर्वशास्त्रप्रामाण्येन तत्प्रदर्शनमभिधाय पुनरपि प्रकृतमनुमरति—

कण्टकादिप्रवृत्तैस्तु चतुर्गृहगतैर्ग्रहैः ।

यूपेषु शक्तिदण्डारूपा होगधैः कण्टकैः क्रमात् ॥ ७ ॥

१. 'कृताः। परि' घ. २. 'ति।' य यूगप्रयोगचतुष्टयननुष्टुभमाह— क' क.

३. 'यं प्रोक्तं कालेषु' क.

इति । कण्टकादिप्रवृत्तैः चतुर्गृहगतैः ग्रहैः यूपेषुशक्तिदण्डाख्या  
योगा भवन्तीत्यन्वयः । कण्टकमात्रस्य प्रवृत्तैः चतुर्षु राशिषु स्थितै-  
र्ग्रहैः यूपादयो भवन्ति । यः कुत्रेत्य शङ्कायामाह— होमाद्यैः षण्टकैः  
क्रमादिति । होरादितो यूपः, सुखादिन इषुः, सप्तमादितः शक्तिः,  
दशमादितो दण्ड इति यावत् ॥ ७ ॥

अथ नारादियोगपञ्चमनुष्ठमाह—

नौकूटछत्रचापानि तद्वत् सप्तर्क्षसंस्थितैः ।

अर्धचन्द्रस्तु नावाद्यैः प्रोक्तादन्यर्क्षसंस्थितैः ॥ ८ ॥

इति । तद्वत् सप्तर्क्षसंस्थितैः ग्रहैः नौकूटछत्रचापानि भवन्ति ।  
तद्वदिति यूपादिवदित्यर्थः । लग्नादारभ्य सप्तर्क्षसंस्थितैर्ग्रहैः नौयोगः ।  
तथा सुखादितः कूटः । सप्तमादितश्चतुष्टयम् । दशमादितश्चापयोगः ।  
नावाद्यैः प्रोक्तादन्यर्क्षसंस्थितैस्तु अर्धचन्द्रो नाम योगो भवति ।  
प्रोक्तादन्यर्क्षसंस्थितैरिति । प्रोक्तात् षण्टकाद् अन्यत्र षणपरादिसप्त-  
र्क्षसंस्थितैः, अथवापोष्टिमादिसप्तर्क्षसंस्थितैर्ग्रहैरर्धचन्द्रो नाम योगः  
सम्भवति ॥ ८ ॥

अथ समुद्रचक्राष्टयोगानुष्ठमाह—

एकान्तरगतैरर्थात् समुद्रः पद्मगृहाश्रितैः ।

विलग्नादिस्थितैश्चक्रमित्याकृतिजसङ्ग्रहः ॥ ९ ॥

इति । अर्थात् प्रभृति एकान्तरगतैः पद्मगृहाश्रितैः ग्रहैः  
समुद्रो भवतीत्यन्वयः । घनस्थानमारभ्य एकान्तरस्थितैः लग्नाद्  
युग्मराशिषुत्कास्थितैरिति यावत् । एवंस्थितैर्ग्रहैः समुद्रारूपो योगः ।  
विलग्नादिस्थितैरेकान्तरगतैः पद्मगृहाश्रितैः चक्रं भवतीत्यन्वयः । लग्ना-

१. 'तुर्गृहगतैर्' ख. २. 'दितः प्रवृत्तश्चतुर्गृह' तैर्ग्रहैर्दण्ड' क घ. छ. ३. 'द्वय  
नौ' ख. ग. घ. 'नि। अत एवाष्टप्रकारः ॥' क, 'ति ॥ प' ख. ग. घ. 'घनाद् यु' घ.

घोजराशिभूतस्थितैर्ग्रहैश्चक्रनामा योगो भवति । इत्याकृतिजसङ्ग्रहः  
एवमाकृतिजानां योगानां सङ्ग्रहः संक्षेपः । एतेषां योगानां राशि-  
ग्रहविशेषजनितवेचित्र्यवशाद् विस्तरोऽपि वेदितव्य इति द्योतयितुं  
सङ्ग्रह इत्युक्तम् ॥ ९ ॥

एवमाकृतिजानां विंशतिमुक्त्वा सङ्ख्यायोगैस्तत्तत्कं शालिन्याह—

सङ्ख्यायोगाः सप्त सप्तर्क्षसंस्थै-

स्वापायाद् पल्लुकी दामिनी च ।

पाशः केदारश्च शूलो युगं च

गोलं चान्ये पूर्वमुक्तान् विहाय ॥ १० ॥

इति । सप्तर्क्षसंस्थैः एकापायात् सप्त सङ्ख्यायोगा भवन्ती-  
त्यन्वयः । एकापायात्, “ल्यटलोपे पञ्चमी” एकापायं विधायेत्यर्थः ।  
तत्र सप्तर्क्षसंस्थेरेको योगः । तत्र एकापायेन पङ्कशरथैः द्वितीयः ।  
तत्र एकापायेन पञ्चर्क्षैः तृतीय इत्यादि । योगानां नामानि  
क्रमेणाह — सप्तर्क्षसंस्थैर्ग्रहैर्वल्लुकी । पङ्कशरथैर्दामिनी । पञ्चर्क्षसंस्थैः  
पाशः । चतुर्क्षसंस्थैः केदारः । त्रिराशिसंस्थैः शूलयोगः । द्विराशिसंस्थैः  
युगम् । एकर्क्षसंस्थैर्गोलयोग इत्यर्थः । अत्रान्येषां मतमाह— अन्ये  
पूर्वमुक्तान् विहाय सङ्ख्यायोगा इति वदन्ति । पूर्वमुक्तेषु पञ्च-  
विंशतियोगेषु सप्तसु स एव ग्राह्यः । तेषामेकस्यापि लक्षणाभावे  
सङ्ख्यायोगा ग्राह्या इति वदन्ति । ‘अन्यान् पूर्वमुक्तान् विहाये’ति  
वा पाठः ॥ १० ॥

उक्तानां द्वाविंशद्योगानां क्रमेण कथन्याह—

ईर्ष्युर्विदेशनिरतोऽध्वरुचिश्च रज्ज्वां

मानी धनी च मुसले बहुकृत्यसक्तः ।

व्यङ्गस्थिरार्धनिपुणो नलजः सगुत्यो

भोगान्वितो भुजगजो बहुदुःखभाक् स्यात् ॥११॥

इति । रज्यां रज्जुयोगे जातः, ईर्ष्युः ईर्ष्यशीलः, निदेश-  
निरतः अन्यदेशगामी, अधरुचिश्च भवति । गुप्ते मानी गर्वितः,  
घनी, बहुकृत्यमक्तः चतुर्भारम्भगर्भश्च भवति नलजः नलयोग-  
जातः व्यङ्गः अङ्गैरुत्पद्युक्तः, स्मिरः, र्धनिपुणश्च भवति । आह-  
निपुण इति वा पाठः । सगुत्यो भोगान्वितः । सगुयोगे जातः भोगा-  
न्वितः भोगैः सन्चन्दननित्यादिभिरन्विता भवति । भुजगजः बहु-  
दुःखभाक् स्यात् । भुजगजः सर्पयोगजातः बहुदुःखभाक् स्याद्  
बहूनि दुःखानि लभते ॥ ११ ॥

एषा फलदाने विशेषमाह—

आश्रयोक्तास्तु विफला भवन्त्यन्यविमिश्रिताः ।

मिश्रा यैस्ते फलं दद्यामिश्राः स्वफलप्रदाः ॥१२॥

इति । उक्तषु योगेषु आश्रयोक्तानामन्येषां च युगपच्छुद्ध-  
सम्भवे आश्रयोक्ता विफला भवन्ति । अन्यविमिश्रिता इति हेतु-  
गर्भ विशेषणम् । यैर्मिश्रास्ते योगाः फलं दद्याः । अन्ययोगफलमेव  
भवति । अमिश्राः स्वफलप्रदाः । अन्ययोगैरमिश्रा एव आश्रय-  
योगाः स्वफलं प्रयच्छन्ति ॥ १२ ॥

अथ गदादियोगफलं वस्तुनातिक्रमाह—

यज्वार्यभाक् सततमध्वरुचिर्गद यां

तद्वृत्तिभुक् शम्भजः मरुजः कुन्दारः ।

दूतोऽटनः कलङ्कट्ट विहगो प्रतिष्ठः

शृङ्गाटक चिरसुखी कृपिकृच्छलाख्ये ॥ १३ ॥

इति । गदायां यज्जा यजनशीलः, अर्थभाक् सततं धनयुतः,  
अध्वरुचिश्च भवति अध्वरुगमनशील इति यावत् । अर्थरुचिरिति  
वा पाठः । शकटजः तद्वृत्तिशुक् तद्वृत्त्या शकटवृत्त्या जीवति  
भारादीनां वाहनेन वहनेन वा जीवति । सरुजः रोगी, कुदारः  
कुत्सितभार्यश्च भवति । विहगे दूतः सन्देशहरः, अटनः गमनशीलः  
कलहकर्ता च प्रदिष्टः । शृङ्गाटकयोमे चिरसुखी चिरकालसुखी ।  
हलाख्ये कृषिकृत् कृषिकर्ता भवति ॥ १३ ॥

अथ वज्रादिकलं वसन्ततिलकेनाह—

वज्रेऽन्त्यपूर्वसुखितः सुभगाऽतिशूरः

शौर्यान्वितोऽप्यथ यवे सुखितो वयोन्त्ये ।

विख्यातकीर्त्यामितसौख्यगुणश्च पद्मे

वाप्यां तनुस्थिरसुखो निधिकृन्न दाता ॥ १४ ॥

इति । वज्रयोगे अन्त्यकाले पूर्वकाले च सुखितः, सुभगः  
सर्वजनवल्लभः, अतिशूरश्च भवति । अथ यवयोगे शौर्यान्वितः,  
वयोन्त्ये सुखितश्च भवति । पद्मयोगे विख्यातकीर्तिः प्रसिद्धयशाः,  
अमितसौख्यः अमितगुणश्च भवति । वाप्यां वापीयोगे तनुस्थिर-  
सुखः तनु अल्पं स्थिरं सुखं यस्य सः । अल्पसुखं बहुकालं  
भवतीत्यर्थः । निधिकृद् भूमावर्षस्थापनशीलः । दाता नच दान-  
शीलो न भवति च ॥ १४ ॥

अथ यूपादिकलं वसन्ततिलकेनाह—

त्यागात्मवान् क्रतुवैर्यजते च यूपे

हिंसांऽथ गुप्यधिकृतः शरकृच्छराख्ये ।

नीचोऽलमः सुखधनैर्वियुतश्च शक्तौ

दण्डे प्रियैर्विरहितः पुरुषोऽन्त्यवृत्तिः ॥ १५ ॥

इति । युगे युपयोगे त्यागात्मवान् त्यागवान् आत्मवांश्च, क्रतुवरैर्यजते च । अथ शराख्ये हिंस्रः हिंसाशीलः, गुप्त्याधिकृतः कारागृहक्षकः, शरकृत् शरसम्पादकश्च भवति । शक्तौ योगे नीचः अलमः मन्दः, सुखधनवियुक्तश्च भवति । दण्डे योगे प्रियैर्विरहितः अभीष्टजनैर्विपुक्तः, पुरुषः पौरुषयुक्तः, अन्त्यवृत्तिः अन्त्यवयसि वृत्ति-युक्तश्च भवति । अन्त्यवृत्तिरित्यत्र उपनिषद्वाक्यविचारको वा शूद्रवृत्ति-रिति वा केचिद् व्याचक्षते ॥ १५ ॥

अथ नायादियोगफलं वसन्ततिलकेनाह—

कीर्त्या युतश्चलमुखः कृपणश्च नौजः

कूटेऽनृतः प्लवनबन्धनपश्च जातः ।

छत्रोद्भवः स्वजनसौख्यरतोऽन्त्यसौख्यः

शूरस्तु कर्मुकभवः प्रथमान्त्यसौख्यः ॥ १६ ॥

इति । नौजः नौयंगजातः कीर्त्या युतः, चलमुखः, कृपणश्च भवति । कूटे कूटयोगे जातः अनृतः सन्त्यरहितः, प्लवनबन्धनपश्च प्लवन जस्तुरणादिक बन्धनं कारागारं याति रक्षतीति प्लवनबन्धनपः । अनृतश्च प्लवनबन्धनपश्च भवतीत्यर्थः । छत्रोद्भवः छत्रयोगे जातः स्वजनसौख्यरतः बन्धूनां सुखं करोति अन्त्यवयसि सौख्यवांश्च भवति । कर्मुकभाः चापयोगे जातस्तु शूरः, प्रथमवयसि अन्त्य-वयसि च सौख्यवान् भवति ॥ १६ ॥

अथाध्वंशद्विद्योगफलं वसन्ततिलकेनाह—

अर्धेन्दुजः सुभगकान्तवपुः प्रधान-

स्तोयालये नरपतिप्रतिमस्तु भोगी ।

चक्रे नरेन्द्रमकुटद्युतिरञ्जिताङ्घ्रि-

वीणोद्भवश्च निपुणः प्रियगीतनृत्तः ॥ १७ ॥

इति । अर्धेन्दुजः अर्धचन्द्रयोगे जातः सुभगकान्तवपुः सु-  
भगकान्तशरीरः, प्रधानः स्वजनप्रधानश्च भवति । तोयालय तु ममृद्र-  
योगे तु नरपतिप्रतिमः भोगी च भवति । चक्रे चक्रयोगे नरेन्द्र-  
मकुटद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः चक्रवर्ती भवति । आकृतियोगफलान्युक्तानि ।  
सङ्ख्यायोगफलान्याह— वीणोद्भवः वीणायोगे जातः निपुणः सर्व-  
कर्मसु कुशलः, प्रियगीतनृत्तश्च भवति ॥ १७ ॥

अथ दामिन्यादियोगफलं वमन्ततिलकेनाह—

दातान्यकार्यनिरतः पशुपश्च दाम्नि

पाशे धनार्जनसुशीलसुभृत्यबन्धुः ।

केदारजः कृपिकरः सुबहूपभोज्यः

शूरः क्षतो वधरुचिर्विधनश्च शूले ॥ १८ ॥

इति । दाम्नि दामयोगे दाता, अन्यकार्यनिरतः, पशुपः  
पशुपालश्च भवति । पाशयोगे धनार्जनसुशीलसुभृत्यबन्धुः धनार्जनः  
धनापादकः सुशीलः शोभनशीलः सुभृत्यः सुबन्धुश्च भवति । धना-  
र्जनविशील इति वा पाठः । केदारजः कृपिकरः, अथ एव सुबहूप-  
भोज्यश्च । शूले शूलयोगे शूरः, क्षतः व्रणवान्, वधरुचिः वध-  
प्रियः, विधनश्च भवति ॥ १८ ॥

अथ युगादिफलं (ग्रहविहरी)प्याह—

धनविरहितः पाषण्डी वा युगे त्वय गोलके

विधनमलिनो ज्ञानापेतः कुशिल्यलसोऽटनः ।

इति निगदिता योगाः सार्धं फलैरिह नामसा

नियतफलदाश्चिन्त्या ह्येते समस्तदशास्वपि ॥ १९ ॥

इति । युगे योगे धनविरहितः, पापण्डी वा पापण्डवान्  
त्रयीमार्गच्युत इत्यर्थः । अथ गोलयोगे विषनमलिनः, ज्ञानापेतः  
ज्ञानरहितः, कुशिल्पी कुत्सितशिल्पी, अलसः मन्दः, अटनः । इति  
नामसा योगाः फलैः सार्धं निगदिताः । एते नियतफलदा असन्दिग्ध-  
फलप्रदाः समस्तदशास्वपि चिन्त्याः । एते योगाः केचिदशुभाः  
केचिच्छुभश्च । शुभदशायामप्यशुमानि कुर्वन्ति, अशुभदशायां शुमानि  
कुर्वन्ति । यतो नियतफलदा अतः समस्तदशास्वप्येतान् योगाना-  
लोच्यैव फलानां निर्देशः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

इति होराविचरणे नामसयोगाख्यो द्वादशोऽध्यायः ।

### अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

“सृष्ट्वा महेन्द्रान् निदधे तुल्यायामेकत्र सूर्यानपरत्र चन्द्रम् ।

प्रजापतिः स्वैरमतोलयत् तान् विशिष्ट आसीद्विमरश्मिभागाः ॥”

इत्यादिवचनप्रतिपादितमाहारम्यस्य मनोरूपतया सर्वफलानुभाक्कस्य चन्द्रस्य  
अवश्यभाषिकत्वान् योगानाह—

अधमसमवरिष्ठान्यर्ककेन्द्रादिसंस्थे

शशिनि विनयवित्तज्ञानधीनैपुणानि ।

अहनि निशि च चन्द्रे स्वेऽधिमित्रांशके वा

सुरगुरुसितदृष्टे वित्तवान् स्यात् सुखी च ॥ १ ॥

१. 'भविष्यत्' २. 'ह । तत्र प्रथममर्ककेन्द्रादिसंस्थे चन्द्रमसि जातस्य  
स्वल्पज्ञानार्थं सादृशविश्लेषेणाह—अ' क.



इति । अर्ककेन्द्रादिसंस्थे शशिनि विनयवित्तज्ञानधीनैपुणानि अधमसमवरिष्ठानि भवन्तीत्यन्वयः । विनयः शिक्षा श्रुतातिरेकजनिता मनःशान्तिरित्यर्थः । वित्तं धनधान्यादिमम्पत् । ज्ञानं तत्कालसमुचितज्ञानम् । धीनैपुणं बुद्धिकौशलम् । एतानि चत्वार्यपि अर्कस्य केन्द्रस्थे चन्द्रे अधमानि अल्पानि, पणपरस्थे समानि मध्यमानि, आपो-क्लिमस्थे वरिष्ठानि उत्कृष्टानि भवन्ति । अत्र चतुर्णां फलानां क्रमेण चतुर्षु केन्द्रादिषु विशेषेणाधमसमवरिष्ठत्वं द्रष्टव्यम् । अर्कस्थितराशिसद्वितीयातृतीयेषु विनयस्य अधमसमवरिष्ठत्वं, तथा अर्कात् चतुर्थपञ्चमपष्ठेषु स्थिते चन्द्रे वित्तस्य अधमसमवरिष्ठत्वं, सप्तमादिषु ज्ञानस्य, दशमादिषु धीनैपुणस्य अधमसमवरिष्ठत्वम् । चन्द्राश्रितवर्गघशेन तद्विशेषाश्च वक्तव्याः । स्वे अधिमित्रांशके वा स्थिते चन्द्रे अहनि निशि च सुरगुरुसितदृष्टे वित्तवान् सुखी च स्वादित्यन्वयः । स्वे स्वांशके सुरगुरुसितदृष्टे अहनि सुरगुरुदृष्टे निशि मितदृष्टे च वित्तवान् सुखी च भवति । यत्र कुत्रचित् स्वनवांशे मित्रनवांशे वा स्थितश्चन्द्रः दिवा गुरुदृष्टश्चेत् तथा रात्रौ सितदृष्टश्चेत् तदा जातो वित्तवान् सुखी च भवतीत्यर्थः । अत्राहनि नाश च चन्द्रे स्वांशकेऽधिमित्रांशके वा यथासङ्ख्यं सुरगुरुसितदृष्टे इति केचिद् व्याचक्षते । तदयुक्तं, यस्माद् गार्गिः —

“स्वांशेऽथवाधिमित्रांशे सुस्थितो दिवसे शशी ।  
गुरुणा दृश्यते तत्र जातो वित्तसुखान्वितः ॥  
निश्येवं भृगुणा दृष्टः शशी जन्मनि शस्यते ॥”

इति ॥ १ ॥

योगान्तरमाह—

सौम्यैः स्मरारिनिधनेष्वधियोग इन्दो-  
स्तरिमश्रमूपरुचिदक्षितिपालजन्म ।

सम्पन्नसौख्यविभवा हतशत्रवश्च

दीर्घायुषो विगतरोगमयाश्च जाताः ॥ २ ॥

इति । इन्दोः स्मरारिनिघनेषु सौम्यरधियोगो भवतीत्यन्वयः । यत्र बुधश्चित् स्थिताच्चन्द्रात् मत्तमपट्टनिघनेषु स्थितः सौम्यः बुधगुरुशुक्रः, त्रिभ्यपि पृथक्स्थितैर्वा बुधगुरुशुक्रः अधियोगो नाम योगः । अत्र केचित् पट्टमसनाष्टमानां सौम्यग्रहत्रयस्याध्यानादशून्यतायामधि-योगो व्याख्यातः । तथाप्युक्तम् । यस्माच्छ्रुतकीर्तिः—

“निघनं दूनं पट्टं चन्द्रम्यानाह् यदा शु(भग्रहे?)र्धुत्तम् ।

अधियोगः संगोक्तो व्यासकृतैः मत्तधा पूर्वः ॥

पापः पापरेवं मिश्रमिथस्तर्धवांक्तः ।”

इति । तस्मिन् चमूपमचिवक्षितिपालजन्म भवति । तस्मिन् योगे शुभग्रहेषु हीनघनेषु चमूपस्य जन्म, मध्ययलेषु सचिवस्य जन्म, पूर्णयलेषु क्षितिपालस्य जन्म भवति । तथाच चादरायणः—

“शशिनः सौम्याः पट्टे दूने वा निघनमस्थिता वा स्युः ।

जातो नृपतिर्ज्ञेयो मन्त्री वा दण्डनायको वापि ॥”

इति । तत्र जाताश्चमूपसचिवक्षितिपालाः सर्वेऽपि सम्पन्नसौख्यविभवाः हतशत्रवः दीर्घायुषः विगतरोगमयाश्च भवन्ति ॥ २ ॥

अथ सुनभान्दियोगचतुष्टयं शार्दूलविकीर्तितेनाह—

हित्वाकं सुनभानभाधुरुधुताः स्वान्त्योभयस्यैर्ग्रहैः

शीतांशोः कथितोऽन्यथा तु बहुभिः केमद्रुमोऽन्यैस्त्वसौ ।

केन्द्रे शीतकरेऽथवा ग्रहयुते केमद्रुमो नेपथ्ये

केचित् केन्द्रनवांशकेषु च वदन्त्युक्तिप्रसिद्धा न ते ॥३॥

इति । अर्कं हित्वा ग्रहैः शोतांशाः स्थान्त्योभयस्थैः सुनभा-  
नमाधुरधुरा भवन्तीत्यन्वयः । अर्कं वर्जयित्वा अन्यैः पञ्चभिर्ग्रहैः  
पृथगा युक्तैर्वा चन्द्रस्य धनस्थितैः सुनभायोगः । व्ययस्थितै-  
रनभायोगः । उभयत्र व्यये धने च स्थितैर्धुरधुरायोगः । इति त्रिधा  
योगाः स्युः । अत्र योगत्रयेऽप्यादित्यो यदा द्वितीये द्वादशे वा  
भवति तदा न योगभङ्गकृत् । किन्तु ये गकर्तृणां (मध्येन) गण्यते ।  
अन्यथा तु केमद्रुमः बहुभिः कथित इत्यन्वयः । अन्यथा चन्द्रस्य  
धनस्थाने व्ययस्थाने च पृथगार्जितैरन्यैः पञ्चभिर्ग्रहैः शू.ये सतीत्यर्थः ।  
चन्द्रस्योभयतो ग्रहाभाव केन्द्रद्रुम इति बहुभिराचार्यैरुक्तम् । अथवा  
अन्यैस्तु शतिकरे केन्द्रे ग्रहयुते असौ केमद्रुमः नेष्यते । चन्द्रस्य  
केन्द्रे ग्रहाः सन्ति चेत् केमद्रुमा न भवतीत्यन्येषां मतम् । केचित्  
केन्द्रनवांशकेषु ग्रहयुतेषु च केमद्रुमो न भवतीति वदन्ति । ते उक्ति-  
प्रसिद्धा न । ते तथावादिनः चन्द्रकेन्द्रांशकेषु ग्रहयुतेषु केमद्रुमाभाव-  
ज्ञादिनः उक्तिप्रसिद्धा न भवन्ति । अत्र चन्द्रस्य केन्द्रराशिषु ग्रह-  
योगे सति केमद्रुमाभाव आचार्यस्याभिप्रेत इति अथवेत्युक्त्वा पक्षा-  
न्तरकथनेन द्योत्यते । अत्र केचित् चन्द्रस्य लग्नकेन्द्रस्थितावपि  
केमद्रुमाभावं योजयन्ति । तदसत् । चन्द्रयोगेषु लग्नस्थानपेक्षितत्वात् ।

१. 'स्युः । अन्यथा' ; २. 'मय ग ह घ. ङ च ३. 'प्राय इ' व. घ. 'चा'  
ग घ च. ५ 'त्' । अत्र केचित् केन्द्रे शतिकरेऽथवा ग्रहयुते इत्यत्रैवं व्याचक्षते—  
केन्द्रे जन्मलग्नात् केन्द्रे शतिकरे चन्द्रे वा ग्रहयुते भीमादिरहितघोरपि चन्द्राद्  
द्वादशस्थानयोः केमद्रुमो न भवति । चन्द्रकेन्द्रे ग्रहयुते चन्द्रमसोऽपि ग्रहयोगो-  
ऽन्तर्भवति । शतिकरे ग्रहयुते वेत्येवमनर्थकं स्यात् । तथाच गार्ग्यैः—

“ध्वयार्थकेन्द्रगच्छन्द् विना भातुं न चेद् ग्रहः ।

कश्चिद्वा स्यात्त चन्द्रेण लग्नात् केन्द्रगतोऽथवा ॥

योगः केमद्रुमो नाम तदा स्याद् दय गार्हिताः ।

भवन्ति निन्दिताचारा दग्निमयदु खिन्नाः ॥”

इति । एवं केन्द्रे शतिकरेऽथवा ग्रहयुते केमद्रुमाद्यम् अन्ये नेच्छन्ति । यथाहमिहिरः  
पुनरिच्छत्येव । यस्मादन्धया केमद्रुम इत्युक्त्वा परमतमुक्तम् । तथाचानेन स्वराज्यादके-

“(रवि)वर्जमन्तगैरभा चन्द्राद् द्वितीयगोः सुनभा ।

उभयस्थितैर्धुरधुरा केमद्रुमसंज्ञिते अन्यः ॥”

ताराग्रहैः पञ्चभिरेव सुनभानमाधुर्युग इति वक्तव्ये हित्वार्क-  
मित्युक्त्या अर्कस्याप्येवं ताराग्रहैः पञ्चभिरेव वामि वेति उभय-  
च(येँरी)ति योगत्रयमन्यश्चात्रोक्तमस्तीति सूच्यते ॥ ३ ॥

अथ सुनभानभाधुरपुराणा विमृतामङ्ग्योमिन्द्रात्रयाह—

त्रिंशत् मरूपा सुनभानभाय्याः

पष्टित्रयं धैरुधुराः प्रभंदाः ।

इच्छाविकल्पैः क्रमशोऽभिनीय

नीते निवृत्तिः पुनरन्यनीतिः ॥ ४ ॥

इति । सुनमानमाख्याः सरूपाः(?) त्रिंशद् भवन्तीत्यन्वयः । एकैकैर्ग्रहैः पञ्च, द्वाभ्यां द्वाभ्यां दश, त्रिभिस्त्रिभिश्च दश, चतुर्भिश्चतुर्भिः पञ्च, पञ्चभिरेकः, एतेकैर्त्रिंशत् सुनमाः एकत्रिंशदनमाश्च भवन्ति । तथा सुनमायोगैरनमायोगैश्च युगपत् सम्भरद्भिः पष्टित्रयं धौरुधुराः प्रभेदा भवन्ति । तत्प्रकारमाहोत्तरार्धेन— इच्छामिकल्पैः क्रमशः अभिनीय नीति निशुक्तिः पुनरन्यनीतिरित्यन्वयः । अत्रोक्त-योगसङ्ख्यानामानयनं गणितपाट्या व्यज्यते ॥ ४ ॥

**सथाच सत्य:-**

"सुभातभायोगो धुरधुरः<sup>(१)</sup> चन्द्रस्य स्थितान् देवताम् ।

प्राक् पृष्ठो अश्वेन्द्रभयगतैस्तेषु रत्नवज्रम् ॥

केमद्रुमोऽत्र यो । .. संज्ञितोऽन्यत्र ।"

इति । केचिन्न्यासकृतेषु वदन्ति । यत्रयत्र राशौ यत्राक्षितमग्निमिति नवाक्षके चन्द्रमा  
भवति, तत्र राशेर्द्वितीयराशौ तारग्रहौ भवति चेत् सुनभा द्वारक्षेऽनभा उभय  
स्थितैर्धुरधुरा । चन्द्रन्यासनाशितो द्वितीयद्वादशौ तारग्रह(विरहितौ यदि) केम-  
द्रमाख्यः । तथाच जीवन्तर्मा—

“यदुराशिमन्ते शोताशौ नपाशौ जन्मनि स्थितः ।

सद्वृत्तायस्थितैर्योग सुनभास्य प्रवर्धतिव. ॥

द्वादशैरामा जेया अर्द्धाद्भिर्द्वादशस्थितै ।

प्रोक्तो ध्रुवपरायोगोऽन्यथा केमद्वयः स्मृतः ॥”

इति । तारा' क 'व् द्वित्याकामेति । ता' ग

मुनभादीनां फलान्याह—

स्वयमधिगतवित्तः पार्थिवस्तत्समो वा

भवति हि मुनभायां धीधनख्यातिमांश्च ।

प्रभुरगदशरीरः शीलवन् ख्यातकीर्ति-

विषयसुखसुवेपो निर्वृतश्चानभायाम् ॥ ५ ॥

इति । मुनभायां जातः स्वयमधिगतवित्तः, पार्थिवो वा, सत्समः पार्थिवसमो वा, धीधनख्यातिमांश्च भवति हि । अत्र धन-  
शब्देन कुलधनमुच्यते । अनभायां जातः प्रभुः कर्तुमकर्तुमन्यथा-  
कर्तुमपि शक्तः, अगदशरीरः, शीलवान्, ख्यातकीर्तिः, विषय-  
सुखसुवेपः, निर्वृतश्च भवति । अत्र निर्वृतशब्देन—

“सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।

उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तुतैव भूः ॥”

इत्यत्रोक्तलक्षणस्वरूपः सदातनः सन्तोष उच्यते ॥ ५ ॥

अथ धुरुधुराक्रमद्वययोः फलं वदन्ततिलकेनाह—

उत्पन्नभोगमुखभाग् धनवाहनाढ्य-

स्त्यागान्वितो धुरुधुराप्रभवः सुभृत्यः ।

केमद्वुमे मलिनदुःखितनीचनिस्स्रवः

प्रेष्यः खलद्वच नृपतेरपि वंशजातः ॥ ६ ॥

इति । धुरुधुराप्रभव उत्पन्नभोगमुखभाग् उत्पन्नैरिष्टकाललब्ध-  
भोगैः सुखं मज्जमानः, धनवाहनाढ्यः, त्यागान्वितः दानशीलः,  
सुभृत्यः शोभनभृत्यश्च भवति । केमद्वुमयोर्गे नृपतेर्वंशजातोऽपि  
मलिनदुःखितनीचनिस्स्रवः मलिनः दुःखितः नीचः निस्स्रवश्चेति कर्म-  
धारपसमाप्तः, प्रेष्यः, खलद्वच भवति ॥ ६ ॥

अत्र सुनभादिषु योगेषु योगकर्तृणा ग्रहाणा पृथक् फलविशेषान् वसन्त  
तिलकेनाह—

उत्साहशौर्यधनसाहसवान् महीजे  
सौम्ये पट्टः सुवचनो निपुणः कलासु ।  
जीवेऽर्थधर्मसुखभाङ् नृपपूजितश्च  
कामी भृगौ बहुधनो विपयोपभोक्ता ॥ ७ ॥

इति । महीजे योगकर्तरि उत्साहशौर्यधनसाहसवान् भवति ।  
सौम्ये योगकर्तरि सति पट्टः प्रत्युत्पन्नमतिः, सुवचनः, कलासु  
निपुणश्च गीतराद्यादिषु निपुणः सूक्ष्मदृष्टिश्च भवति । जीवे योग-  
कर्तरि सति अर्थधर्मसुखभाङ्, नृपपूजितश्च भवति । भृगौ योग-  
कर्तरि सति कामी, बहुधनः, विपयोपभोक्ता च भवति ॥ ७ ॥

अथ शनैश्चरे योगकर्तरि जातस्य रूपं उपविवाप्रयाह—

परविभवपरिच्छदोपभोक्ता  
रवितनये बहुकार्यकृद् गणेशः ।  
अशुभकृदुडुपोऽहि द्रव्यमूर्ति-  
र्गलिततनुश्च शुभोऽन्यथान्यदूह्यम् ॥ ८ ॥

इति । रवितनये योगकर्तरि सति परविभवपरिच्छदोपभोक्ता  
परेषा विभवं परि-च्छदं चोपभोक्तुं शीलमस्येति तथा, बहुकार्यकृद्,  
गणेशः गणानां नाथश्च भवति । एतानि ग्रहाणां पृथक्फलानि सुनभादि-  
योगविशेषफलानि तत्सामान्यफलैः पूर्वमुक्तैः सह सुनभादियोगमम्पादक-  
ग्रहवशेन यथासम्भवं योनायितव्यानि । अथोक्तेषु चान्द्रयोगेषु चन्द्रस्य

शुभाशुभत्वं विशेषेण निरूपणीयमिति श्रुद्ग्राहिकया दर्शयति । अहि  
दृश्यमूर्तिः गलिततनुश्च उडुपः अशुभकृद् भवतीत्यन्वयः । चन्द्रस्य  
पक्षयोरुभयोरपि दिवसेषु रात्रिषु च दृश्यमूर्तित्वम् अदृश्यमूर्तित्वं च  
इद्वाराकयोऽन्यत्र क्रियात् क्रियति काले सम्भवति । तत्राहनि दृश्य-  
मूर्तिरुडुपः अशुभकृद् भवति, गलिततनुश्च । अपरपक्षगतः क्षीयमाणः  
अहनि दृश्यमूर्तिश्चेदत्यन्तमशुभकरो भवति । अन्यथा शुभः । अन्यथा  
पूर्वपक्षे रात्रौ पूर्णमाणतनुः दृश्यमूर्तिश्चेदत्यन्तं शुभकरो भवति ।  
अन्यदूहम् । उक्तविपर्ययश्च तदर्थः । अक्षरपक्षे अहन्यदृश्यश्चे-  
च्छुभकरः, पूर्वपक्षे अहनि दृश्यमानोऽपि नात्यन्तमशुभः, अपरपक्षे  
रात्रादृश्योऽपि अशुभः, पूर्वपक्षे रात्रादृश्योऽपि मध्यफलः, इत्यादि  
युक्तिवशात् स्वयमूहमित्यर्थः ॥ ८ ॥

चान्द्रयोगान् लग्नानपेक्षान् यथाचारमुपदिश्येदानीं लग्नचन्द्रयो सामान्यं  
यसुमद्योतं च सन्ततिलकेनाह—

लग्नादतीव वसुमान् वसुमाञ्छशाङ्कात्

सौम्यग्रहैरुपचयोपगतैः समस्तैः ।

द्वाभ्यां समोऽल्पवसुमांश्च तदूनताया-

मन्येषु सत्स्वपि फलेष्विदमुत्कटेन ॥ ९ ॥

इति । लग्नाद् उपचयोपगतैः समस्तैः सौम्यग्रहैः अतीव  
वसुमान् भवतीत्यन्वयः । शशाङ्कादुपचयोपगतैः समस्तैस्त्रिभिरपि  
सौम्यग्रहैः वसुमान् भवतीत्यर्थः । लग्नदुपचयैः शुभरतीव वसु-  
मयोगः, चन्द्रादुपचयैर्गुणयोग इति विज्ञेयां दृष्टव्यः । उपचय-  
स्थाभ्यां द्वाभ्यां समः, मध्यमसुमयोग इत्यर्थः । तदूनतायां अल्प-  
वसुमान् । द्वित्वादूनतायां उपचयैर्नैवेन शुभेनाल्पसुमयोगो भव-

तीत्यर्थः । अथदिव लग्नचन्द्रयोरुपचयेषु शुभग्रहशून्येषु धनशून्यो भवतीति द्रष्टव्यम् । अन्येषु फलेषु दशफलेषु गतचरफलेषु योग-  
फलेषु च धनमिद्विकतेषु वा धननाशक्रेषु वा सत्स्वपि इदम् अत्रोक्तं  
लग्नचन्द्रयोरुपचयनिमित्त फलम् उत्कटेन अवाध्यन्वेन भवत्येवे-  
त्यर्थः । अन्येष्वसत्स्वपीति वा पाठः । तत्रान्येषु फलेष्वसत्स्वशोभ-  
नेष्वपि इदं फलम् उत्कटेन बाहुल्येनाशुभमभिभूय शुभमेव फलं  
प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति होराविवरणे चान्द्रयोगस्तयोदशोऽध्यायः ॥

### अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ प्रहाराभितरेतरयोगफलं शार्दूलविह्वीहितेनाह—

तिग्मांशुर्जनयत्येन्दुसहितो यन्त्राश्मकारं नरं  
भौमेनाघरतं बुधेन निपुणं धीकीर्त्तिसौख्यावितम् ।  
क्रूरं वाक्पत्तिनान्यकार्यनिरतं शुक्रेण रङ्गायुधै-  
र्लब्धस्वं रविजेन धातुकुशलं भाण्डप्रकारेषु वा ॥ १ ॥

इति । इन्दुसहितः तिग्मांशुः यन्त्राश्मकारं नरं जनयती-  
त्यन्यथः । यन्त्राश्मकारं यन्त्राणि स्वस्तिकवस्तिनेत्रादीनि भेषज-  
यन्त्राणि, स्त्रयंषदकशङ्कादीनि कालयन्त्राणि, तुलापटीमुखाणि  
बलोद्धरणयन्त्राणि, सामान्येन कर्मोपकरणानि यन्त्राणि, तथा अश्मोनि  
कुशलिदोनि करोति कर्मपाप्यानि करोति सम्पादयतीति

१. 'ति य' ट. २. 'मे त्रयोद' च. ३. 'लमाह—' म. ग. घ. ट. य.  
४. 'श्मादीनि क' च.



यन्त्राश्मकारः । तथाविधं जनयतीति सम्बन्धः । भौमेनाघरतं दुष्कर्मणि प्रीतियुक्तं जनयति । बुधेन सहितः निपुणं धीकीर्तिसौख्यान्वितं जनयति । बुधस्य मौढ्ये सत्पि योगबलेन एवंगुणयुक्तं तिग्मांशुर्जनयतीति सम्बन्धः । वाक्पतिना सहितः क्रूरम् अन्यकार्यनिरतं च जनयति । शुकेण सहितः रज्जायुधैः लब्धस्व रङ्गप्रयोज्यैः कर्मभिरायुधव्यापारैश्च लभ्यमानार्थं जनयति । रविजेन सहितः धातुकुशलं भाण्डप्रकारेषु वा कुशलम् । धातुपु—

“ब्रह्मताम्राबुभावेतौ त्रिसप्तांशकसंयुतौ ।

अग्निना धाम्यमानौ तु कांस्यत्वमुपगच्छतः ॥”

इत्याद्युक्तेषु धातुविषयेषु कर्मसु कुशलम् । अथवा भाण्डप्रकारेषु धात्वादिभिर्निष्पादितेषु घटपटपुस्तकादिषु द्रव्यविशेषेषु कुशलम् । अत्रापि तत्कर्मसु कुशलमित्यर्थः ॥ १ ॥

एवम् अर्कसम्भवेषु पटसु द्विमहयोगेषु चन्द्रस्य शिष्टान् द्विमहयोगान् कार्दूलविक्रीडितेनाह—

कूटस्व्यासवकुम्भपण्यमशिवं मातुः सवक्रः शशी

सज्ञः प्रश्रितवाक्यमर्थनिपुणं सौभाग्यकीर्त्यन्वितम् ।

विक्रान्तं कुलमुख्यमस्थिरमर्तिं वित्तेश्वरं साङ्गिरा

यस्त्राणां ससितः क्रयादिकुशलं सार्किः पुनर्भूतम् ॥२॥

इति । सवक्रः शशी कूटस्व्यासवकुम्भपण्यं मातुरशिवं जनयति । कूटशब्देन “अथौपनिषादिकमधर्मिष्ठेषु चलिष्ठेषु प्रयुज्यते” इत्यादिभिः कौटल्यादिस्मृत्युक्त उपनिषत्प्रयोग उच्यते । तादृशप्रयोगसम्पादितमारणोच्चाटनादिकरं धातुजातमित्यर्थाद्भूम्यते । तद्यस्त्रियथ आसना मद्यविशेषाश्च कुम्भाश्च (पण्यं) विक्रेयद्रव्यं यस्य स

तथाविधं, तथा मातुरग्निं व्यसनकरं च जनयतीति सम्बन्धः ।  
सञ्ज्ञश्चन्द्रः प्रथितनाम्यम् अर्थनिपुण सौभाग्यकीर्त्यन्वित जनयतीति  
सम्बन्धः । प्रथितशब्देन अमप्रधानत्वमुच्यते । साङ्गिराश्चन्द्रः निकान्त  
कुलमुत्पद्यन् अस्थिरमतिं पितृेश्वरं च जनयति । अस्थिरमतिम् अस्मात्  
स्थिरो नास्तीति अस्थिरः, अतिस्थिरमतिमित्यर्थः । अस्थिरशब्दस्य  
अनुत्तमशब्दादिवन्नञ्समासो वेदितव्यः । अन्यथा चञ्चलमतिरिति  
व्याख्यानं,

“अतिमतिरतिविमरवलः सहस्रमासेषु जीवितं विद्यात् ।”

“किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे चन्द्रकेन्द्रे बृहस्पतौ ।

गजयूयसहस्राणि निहन्त्येतेऽपि केसरी ॥”

इत्यादिभिर्नचनैर्न्यशास्त्रेषु प्रसिद्धस्य गजकेशरियोगस्य आयुरादि-  
फलप्रदत्वेन प्रायशोऽनुभूयमानस्य बहुभिराचार्यैरुक्तानि मनोरूपस्य  
चन्द्रस्य ज्ञानरूपेण गुरुणा योगे त्वप्रतिहतमनःस्यैर्यसम्पादनीयानि  
फलानि के शरणं त्रजन्तु । समितः वसाणां क्रयादिदृशलं जन-  
यति । सार्किकः पुनर्भूयते जनयति । द्विरूढा पुनर्भूः । केषुचिद्  
देशेषु प्रथमस्य भर्तृरपाये तस्या विधवायाः स्त्रियाः पुनरन्योऽपि  
पार्णि गृह्णातीत्याचारोऽस्ति । ततः द्वयोः कालयोर्द्वौ स्त्री पुनर्भू-  
रित्युच्यते । तस्याः सुतमित्युपलक्षणं जाराद्युपभुज्यमानायाः स्त्रियां  
जातस्यापि सुतस्य ॥ २ ॥

अथ कुजस्य विष्टानां चतुर्णां द्विप्रदयोगानां कृतानि साधनानि—

मूलादिस्नेहकृत्स्नैर्व्यवहरति वणिग् वाटुयेच्छा ससौम्ये

पुर्यध्यक्षः सजीवे भवति नरपतिप्राप्तविचो द्विजो वा ।

गोपो मल्लोऽय दक्षः पर्युवतिरतो द्यूतकृत् सामुरड्ये

दुःखर्तोऽमत्यसन्धः ससद्वित्तनये भूमिजे निन्दितश्च ॥३॥

१ 'मै पुनर' च २ 'या तात सुत इत्यादि योजनायम् ॥ २ ॥' ख,  
'यो जा' घ. ड. ३. 'गानाह—' छ. ४. 'न्याह—' स ग घ. घ.

इति । भूमिजे ससौम्ये सति जातः वणिक् मूलादिस्नेह-  
कूटैर्व्यवहरति । वणिग् वाणिज्यवृत्तिः । मूलादिभिः मूलेन  
नाळेन पत्रेण पुष्पेण फलेन निर्गमेन चल्कलेन चेत्यर्थः । स्नेहैः  
तैलघृतवसामज्जामिथुतुर्विधैरपि, कूटैः पूर्वोक्तलक्षणैः, सौम्यस्य वचन-  
रूपत्वात् कूटरसत्यवचनैरपि । व्यवहरति व्यवहारान् वाणिज्य-  
विपर्यकार्याणि करोति । तथा बाहुयोद्धा मर्द्वैश्च भवतीत्यर्थः ।  
सजीवे भूमिजे ज्ञानसत्त्वयोगवलेन पुर्यध्यक्षः नरपतिप्राप्तवित्तः द्विजो  
वा भवति । नरपतिप्राप्तवित्तः राजसकाशात् प्राप्तवित्त इत्यर्थः ।  
द्विजो वा एकस्यैरसः पुत्रोऽन्यस्य दत्तपुत्रः कृत्रिमपुत्रो वा भवति ।  
अत्र कुलद्वये पृथग् जन्मजन्माधिकारयोः सम्भवाद् द्विज इत्यु-  
पचर्यते । नरपतिः प्राप्तवित्तो द्विजो वेति वा पाठः । भौमे सासुरेव्ये  
गोपः, मल्लः, दक्षः क्षिप्रकारी, परयुवतिरतः परदारगमनप्रियः,  
धूतकृद् धूतादिकलहकर्ता च भवति । भूमिजे ससवित्तमये दुःखार्तः  
असत्यसन्धः अपरमार्थप्रतिज्ञः निन्दितः कुत्सितश्च भवति ॥ ३ ॥

अथ दुषस्य शिष्टार्न् श्रीन् द्विग्रहयोगान् शादूलविक्षीडितेनाह—

सौम्ये रङ्गचरो बृहस्पतियुते गीतप्रियो नृत्तविद्

वाग्मी भूगणपः सितेन मृदुना मायापटुर्लङ्घकः ।

सद्विद्यो धनदारवान् बहुगुणः शुकेण युक्तं गुरौ

ज्ञेयः श्मश्रुकरोऽसितेन घटकृद् दातान्नकारोऽपि वा ॥४॥

इति । सौम्ये बृहस्पतियुते सति जातः गीतप्रियः, नृत्तविद्  
रङ्गचरो भवति । शैलूषादिवद् रङ्गवृत्त्या जीवतीत्यर्थः । सितेन  
युक्ते सौम्ये वाग्मी व्यवहारकुशलः, भूगणपः भूमिः क्षेत्रं गणः  
समूहः तद्रक्षको भवति । श्वेत्रेषु कृपिकर्मणा समुदायपालकत्वेन च

१. 'जादिभिः' स. ग. द. च. २. 'वाणि क' क. ३. 'योगसत्यवलेन' द.  
४. 'ते । भौ' स. च. ५. 'प्रोतः, च' च. ६. 'नृ दि' छ. ७. 'विग्रह' च. ८. 'नाह—'  
स. ग. च. छ. च. ९. 'वशाः शु' छ.

जीवतीत्यर्थः । उभयोर्बलाधिक्ये भूपतिः सेनापतिर्वा भवतीति च  
 द्योत्यते । सौम्ये मृदुना मन्देन युक्ते मायापटुः लङ्घकश्च भवति ।  
 मायापटुः मायाकुशलः, लङ्घकः शास्त्रीयवृत्तेर्लङ्घ्यते । अतिक्रमकर्ता  
 भवतीत्यर्थः । उत्तरार्धेन गुरोरुक्तशिष्टौ द्वौ द्विग्रहयोगावाह— गुरौ  
 शुक्रेण युक्ते सति सद्यः धनसारवान् बह्वगुणश्च भवति । गुरौ  
 असितेन युक्ते शश्वुकरः घटकृद् दाता अन्नकारोऽपि वा ज्ञेयः ।  
 शश्वुकरः नापितकर्मकुशलः घटकृत् कुम्भकारः तयोर्व्यापारेषु कुशल  
 इत्यर्थः । जुगुप्सितकर्मकुशल इति यावत् । अपिवा दातृन्नकारः  
 दानशीलः तत्रापि विशेषादन्नकारः । अन्नदानकर्मतत्पर इत्यर्थः ।  
 अत्र जुगुप्सितयोः पूजितयोश्च कर्णोर्धुगपदुक्त्या गुरुसौरियोंगस्य  
 फलविशेषो दर्शितः । तदुक्तमन्यत्र—

“सम्पदो गुरुसंयोगे क्षणयोगे विपत्तयः ।

वाच्यो ग्रहाणां हि तयोयोगे तु फलसङ्करः ॥”

इति ॥ ४ ॥

अथ गुरुस्योपनिष्टमेकं द्विग्रहयोगं पुनिरुक्त्याह—

असितसितसमागमेऽल्पचक्षु-

युवतिजनाश्रयमम्प्रवृद्धवित्तः ।

भवति च लिपिपुस्तचित्रवेत्ता

कथितफलैः परतोऽपरे विकल्प्याः ॥ ५ ॥

इति । अमितस्य मितस्य च समागमे मति अल्पचक्षुः  
 युवतिजनाश्रयमम्प्रवृद्धवित्तः । अर्थाद् युवतिर्नान्ययुवतिरिति द्रष्टव्यम् ।  
 तादृशाश्रयेण घनवृद्धिर्भवतीत्यर्थः । लिपिपुस्तचित्रवेत्ता भवति च ।  
 लिपीनां नागरादिवृद्धिविलिपीनां पुनस्तानां चित्रकर्मणश्च वेत्ता

भवति । एवमेकविंशतिद्विग्रहयोगा उक्ताः । एतैरेव त्रिग्रहयोगस्यापि फलान्युपदिशति — कथितफलैः परतोऽपरे विकल्प्या इति । परतः अपरे योगाः कथितफलैः विकल्प्या इत्यन्वयः । चतुरादिग्रहयोगफलस्य उत्तराध्याये वक्ष्यमाणत्वाद् द्विग्रहयोगेभ्यः परस्ताद् अपर इति त्रिग्रहयोगा एव गृह्यन्ते । ते च कात्स्न्येन पञ्चत्रिंशद् भवन्ति । तेषु प्रथममर्केन्दुभौमैरेको योगो भवति । तत्फलानि कथितफलैरेव विकल्प्यानि इति मन्वन्धः । कथमिति चेद् अत्रार्केन्दुभौमयोगो अर्केन्दोर्योगफलमुक्तम् । अर्कभौमयोरपि योगफलमुक्तम् । तथेन्दुभौमयोरपि योगफलमुक्तम् । एवमुक्तैस्त्रिभिर्द्विग्रहयोगफलैर्मेलितैरेकं त्रिग्रहयोगफलं वाच्यम् । एवमेवान्यानि चतुस्त्रिंशत् त्रिग्रहयोगफलानि कल्पनीयानीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति होराविवरणे द्विग्रहाद्या योगाश्चतुर्दशोऽध्यायः ॥

### अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथ चतुरादिग्रहयोगफलैः सार्द्धविक्रीडितेनाह—

एकस्थैश्चतुरादिभिर्धलपुतैर्जाताः पृथग्वीर्यगैः

शाक्याजीवकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थिवन्याशनाः ।

माहेयज्ञगुरुक्षपाकरसितप्राभाकर्शनैः क्रमात्

प्रव्रज्या बलिभिः समाः परजितैस्तत्त्वामिभिः प्रच्युतिः ॥१॥

इति । बलपुतैरेकस्थैः चतुरादिभिर्जाताः पृथग्वीर्यगैः माहेयज्ञगुरुक्षपाकरसितप्राभाकर्शनैः क्रमात् शाक्याजीवकभिक्षुवृद्धचरका

१. 'न्यादिज्ञ' क ग. छ घ; 'न्युदितानि—' क घ. २. 'ति चतु' द. घ.

३. 'क्रमाह—' घ. छ. च.

निर्ग्रन्थिवन्याशनाश्च भवन्तीत्यन्वयः । एकस्यैकराशिस्थितैः चतुरादि-  
भिः चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिर्वा बलयुतैर्वलवद्धिः जाता उक्ते-  
ष्वन्यतमा भवन्ति शाक्यादिष्वन्यतमा भवन्ति । तत्र विशेषमाह —  
पृथग्वीर्ययुक्तैः माहेयादिभिः शाक्यादय इति । भौमेन शाक्यो  
भवति । शाक्याश्चाजीवकाश्च मिश्रवश्च घृद्धाश्च चरकाश्चेति द्वन्द्वः । नि-  
र्ग्रन्थयो वन्याशनाश्च निर्ग्रन्थिवन्याशनाः । सर्वत्र बहुवचननिर्देशन  
प्रग्रज्याकारकग्रहाणां राश्यंशकादिबलावलवशात् तत्तत्प्रग्रज्यास्यपि  
कर्मभोगविनाशद्रेकाणवशेन द्रेकाणान्तर्गतघातुमूलजीवद्योतकांशकवशेन  
च प्रग्रज्याभेदा वक्तव्याः । तत्र भौमेन बलाधिकेन शाक्यश्चतुर्दिशहि-  
भेदेषु बौद्धेष्वेकतमो वाच्यः । बुधेन आजीवका वाच्यः । आजी-  
वकाः प्राणात्मयादिन आर्हताः पिच्छहस्ता उच्यन्ते । तथा आजीवो  
वृत्तिः । आजीवन्तीत्याजीवकाः देहवृत्त्यर्थं सर्वेषां द्विगवचनकारिणः  
अध्यात्मकुशलमानिनो गुरुशब्दवाच्याश्च गृह्यन्ते । गुरुणा बलाधिकेन  
मिश्रवः परमहंसकुटीचकादयः । क्षपाक्षस्य बलाधिक्ये घृद्धाः  
शैतवैष्णवाद्यागमकुशलाः स्वयं दीक्षिता जटाधारिणः परेषां मन्त्रोप-  
देष्टार उच्यन्ते । शुक्रम्य बलाधिक्ये चरका योगाभ्यामकुशला मुद्रा-  
धारिणश्चिकित्सानिपुणाः पापण्डमेदा उच्यन्ते । शनेर्बलाधिक्ये निर्ग्रन्थयः  
अवधूताः —

“वर्णधर्माश्रमानारसर्वयन्त्रणवर्जितः ।

अवधूतः खेष्टचारी क्षेपो ज्ञानपरायणः ॥”

इत्युक्तलक्षणाः प्रवाजका उच्यन्ते । आदित्यस्य बलाधिक्ये वन्या-  
शनाः वनरागिनो मुनयः । ण्णां मत्तविधानां प्रवाजकानां सर्वेषामपि  
क्षेत्रनभूमिनिर्गेषत्वं माधारणो धर्मः । अत्र चतुरादिशब्देन चतुर्षा-  
दिदशमार्तः सप्तभिर्मार्तरपि क्रमेण शाक्यादयः प्रग्रज्याविशेषा

निर्धारणीया इति द्योत्यते । पृथग्वीर्यगैरित्यत्र पृथक्शब्देन मौमादी-  
नामेकैकस्यापि यथोक्तचतुरादिस्थानगतस्य ज्ञाक्यादिप्रव्रज्याप्रवर्तक-  
त्वं सूचितम् । वक्ष्यति च — “नवमभवनसंस्थे मन्दगोऽन्यैरदृष्ट”  
इति । व्यादीनां बलवच्चे विशेषमाह — प्रव्रज्या बलिभिः समा इति ।  
बलिभिः बलपुक्तैः । प्रव्रज्यायोगकारकेषु द्वौ ग्रहौ बलवन्तौ चेद् द्वे  
प्रव्रज्ये भवतः, त्रयश्चेत् तिस्र इत्यादि । “स्वां स्वां दशामुपगताः  
स्वफलप्रदाः स्युः” इतिवचनादेको ग्रहो बलवान् स्वदशाकाले स्वां  
प्रव्रज्यां ददाति । पुनरपरोऽपि बलवानस्ति चेत् सोऽपि स्वदशाकाले  
स्वां प्रव्रज्यां ददाति । पुनरन्योऽपि बलवान् प्रव्रज्याकारकोऽस्ति  
चेत् तस्यापि स्वदशायां स्वकीयां प्रव्रज्यां भवति । एवं प्रव्रज्या-  
कारकेषु यावन्तो बलवन्तः सन्ति तैः समाः समसङ्ख्याः प्रव्रज्या  
भवन्ति । परजितैः तत्स्वामिभिः प्रच्युतिः । प्रव्रज्यास्वामी ग्रहः  
परेण ग्रहेषु द्वे पराजितो यदि भवति तदा प्रव्रज्यायाः प्रच्युतिः अंशो  
भवति । स्वगृहात् पूर्वं प्रव्रज्यया प्रच्युतः पश्चात् प्रव्रज्यामार्गादपि  
अष्टौ भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ प्रव्रज्यायोगस्यापवादं वैतालीयेनाह —

रविलुप्तकरैरदीक्षिता

बलिभिस्तद्गतभक्तयो नराः ।

अभियाचितमाग्रदीक्षिता

निहतैरन्यनिरीक्षितैरपि ॥ २ ॥

इति । रविलुप्तकरैः ग्रहैः नरा अदीक्षिता भवन्तीत्यन्वयः ।

१. ‘रन्योऽपि’ घ. २. ‘यां’, ३. ‘ज्यां ददाति । ए’ घ. च. ४. ‘हेन  
यु’ च. ५. ‘यैः । अथ चतुरादीनामेकराजिगतानां मध्याद् द्वौ ग्रहयोः बलपुक्ता  
भवन्ति, ते च पराजितास्तदा (एवम्?) अवश्यमेव प्रव्रज्यामाग्राभितो प्रियं ॥ १ ॥’ क  
६. ‘दमाह —’ घ. छ. च. ’

प्रव्रज्याकारकैर्ग्रहैः मौढ्यं प्राप्तैः प्रव्रज्यादीक्षाणामप्राप्तिरित्यर्थः । बलिभिस्तद्गतभक्तयो भवन्ति । बलिभिः प्रव्रज्याकारकाणां ग्रहाणां मौढ्याद् दीक्षाप्रदत्त्वाभावेऽपि उच्चादिबलसम्भवे तद्गतभक्तयः स्वयमदीक्षिता अपि दीक्षायां दीक्षितेषु च भक्तियुक्ता भवन्तीत्यर्थः । निहतरन्यनिरीक्षितैर्ग्रहैरभियाचितमात्रदीक्षिता भवन्ति । निहतैः बलाधिकेन विजितैः चतुरादीनामेकराशिस्थितौ ग्रहयुद्धस्य सम्भवाद् ग्रहयुद्धे विजितैः । उच्चादिबलसम्भवेन दीक्षाप्रदत्त्वे विद्यमानेऽपि जाता अभियाचितमात्रदीक्षिता एव भवन्ति । दीक्षा कर्तव्येत्यभियाचनमात्रमेव भवति, न दीक्षाप्राप्तिरित्यर्थः । तथा अन्यनिरीक्षितैरपि । प्रव्रज्याकारकाणां ग्रहाणाम् अन्यग्रहेण निरीक्षितत्वे सति च दीक्षाश्रद्धैव भवति, न दीक्षाप्राप्तिरिति यावत् । अत्र प्रव्रज्यायोगेषु सत्स्वैरपि रविलुप्तकरत्वेन वा युद्धपराजयेन वा अन्यनिरीक्षणेन वा ग्रहाणां दीक्षाप्रदत्त्वाभावेऽपि तत्तदीक्षामूलभूतेष्वागमेषु एकत्र वा द्वयोर्वा बहुषु वा बलवद्ग्रहवशेनाभिनिवेशः तदुक्तकर्मकुशलता च सम्भवतीति तद्गतभक्तयः अभियाचितमात्रदीक्षिता इत्येताभ्यां द्योत्यते ॥ २ ॥

प्रव्रज्याविषये योगान्तरे द्वाविम्याह —

जन्मेशोऽन्यैर्यद्यदृष्टोऽर्कपुत्रं

पश्यत्यार्किर्जन्मपं वा बलोनम् ।

दीक्षां प्राप्नोत्यार्किदृष्टाणसंस्थे

मौमाक्यंशे सौरदृष्टे च चन्द्रे ॥ ३ ॥

इति । जन्मेशो ग्रहोऽन्यैरदृष्टोऽर्कपुत्रं पश्यति यदि दीक्षां प्राप्नोति

१. 'दि' । दीक्षा कर्त' च. २. 'मय' मन्व' घ. ३. 'लु' र' घ. ट. च.  
४. 'शाम्ना' घ. ट. ५. 'रमाह —' घ. ट. च. ६. 'रि' ट.



इत्यन्वयः । अन्यैर्ग्रहैरदृष्टो जन्माधिपतिरर्कपुत्रं पश्यति यदि तदा जातः प्रव्रज्यां प्राप्नोतीत्यर्थः । शनैश्चरजन्मपयोर्यो बलवान् तत्सम्बन्धिनी प्रव्रज्या भवतीत्यर्थः । वा अथवा आर्किरन्यैरदृष्टो बलीनं जन्मपं बलहीनं जन्माधिपं पश्यति यदि तदा जातोऽपि प्रव्रज्यां प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चन्द्रे आर्किदृक्काणमंसेः भौमावर्यशे सौरदृष्टे सति च दीक्षां प्राप्नोति । चन्द्रे मन्दद्रेक्काणे मन्दस्य कृजस्य वा नवांशे स्थिते मन्देन दृश्यमाने च सति प्रव्रज्यादीक्षां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ प्रव्रज्यायोगविशेषं मालिन्याह —

सुरगुरुशशिहोरास्वार्किदृष्टासु धर्मे

गुरुरथ नृपतीनां योगजस्तीर्थकृत् स्यात् ।

नवमभवनसंस्थे मन्दगेऽन्यैरदृष्टे

भवति नरपयोगे दीक्षितः पार्थिवेन्द्रः ॥ ४ ॥

इति । आर्किदृष्टासु सुरगुरुशशिहोरासु धर्मे गुरुर्यदि भवति तदा नृपतीनां योगजः तीर्थकृत् स्यादित्यन्वयः । सुरगुरुशशिहोरासु धनुर्मीनकर्कटकेषु लग्नेष्वित्यर्थः । अत्र केचित् सुरगुरुशशिलग्नैर्विति वदन्ति । नृपतीनां योगजः राजयोगे जातः तीर्थकृत् तीर्थं शास्त्रं शास्त्रकर्ता भवतीत्यर्थः । धनुषि मीने कर्कटके वा सौरदृष्टे लग्ने सति धर्मे गुरौ च सति यत्रकुत्रचिद् राजयोगे सति च जातः शास्त्रज्ञो भवति । अत्र प्रकरणदृष्टात् प्रव्रजितैरध्येयानां शास्त्राणां कर्ता भवतीति द्रष्टव्यम् । अन्यैरदृष्टे मन्दगे नवमभवनसंस्थे नरपयोगे च सति दीक्षितः पार्थिवेन्द्रो भवति महाराजोऽपि दीक्षायुक्तो भवति । अत्र नरपयोगाभावे जातः केवलं दीक्षितो भवतीत्यनुसन्धेयम् । नवमगतस्य मन्दस्यान्य-

१. 'धैः' । पा' घ. क. च २. 'दि', ३. 'भवति' च' इ. घ. ४. 'धैः' ॥ ३ ॥ प्र' ख. ५. 'ते' घ. च, 'गविषये वि' ट. ६. 'यमाह—' घ. ट. च. ७. 'जः' राजयो इ. च. ८. 'धै' । नृ ख. ग. घ.

ग्रहनिरीक्षणे सत्येव दीक्षाया अभावः, अन्यथा दीक्षाप्राप्तिः । तत्र राजयोगे सति राजत्वेऽपि दीक्षितो भवतात्यथः । तथा पूर्वमन्यनिरीक्षितैरपि इत्युक्त्या पुनरन्यैर्यद्यदृष्ट इत्युक्त्या च इदानीमन्यैरदृष्टे इत्युक्त्या च त्रिरुक्तमुक्तं भवतीति न्यायेन प्रग्रज्यायोगस्यापवादोऽन्यग्रहनिरीक्षणमिति स्थिरीकृतं वेदितव्यम् । तथाचावर्त —

“नदमस्थाने सौगो यदि स्थितः मर्चदर्शनविमुक्तः ।

नाथयोगजातो नृपोऽपि दीक्षान्वितो भवति ॥

नृपयोगस्याभावे योगेऽस्मिन् दीक्षितं नरं ज्ञातम् ।

निसन्दिग्धं प्रवदेद् योगस्यास्य प्रभावेन ॥”

इति ॥ ४ ॥

इति होराविवरणे प्रग्रज्यायोगः पञ्चदशोऽध्यायः ।

### अथ षोडशोऽध्यायः ।

लघादिराशिषु ग्रहस्थितिवशेन जातानि योगफलानि तथा ग्रहाणामितरेतरयोगफलानि च प्रदर्शयित्वा राशीनां लघावयोगेन ग्रहयोगेन च जातानि फलानि प्रदर्शयन्ते । तत्र लग्नस्य चन्द्रस्य च तुल्यफलवाद्भेदेन प्रथमं तत्फलानि शार्ङ्गलविक्रीडितेनाह —

■ ५ :

वृत्ताताम्रदृगुष्णशाकलघुमुक् क्षिप्रप्रसादोऽटनः

क्षीकामी दुर्बलजानुरस्थिरधनः शूरोऽङ्गनावल्लभः ।

सेवाज्ञः कुनखी व्रणाङ्कितशिरा मानी सहोत्थाग्रजः

शक्त्या पाणितलेऽङ्कितोऽतिचपलस्तोये च मीरुः क्रिये ॥

[१ ॥

इति । क्रिये लग्ने जातः, क्रियस्थे चन्द्रे जातश्च एवंविधो भवति इति सम्बन्धः । वृत्ताताम्रदृग् वृत्ते आताम्रे दृशौ यस्य स तथा । भौमस्य तेजोरूपत्वाद् रक्तत्वाच्च तेजोमयस्य नयनस्य विशेषो वक्तव्य इत्यर्थः । उष्णशाकलघुमुग् उष्णमोजी शाकमोजी शीघ्रमोजी च । क्षिप्रप्रसादः अल्पसन्तुष्टः । अटनः गमनशीलः । कामी । दुर्बल-  
जानुः अमांसलपाद इत्यर्थः । अस्थिरधनः अस्थिराणि अदीर्घकाल-  
स्थितानि धनानि यस्य । सदा भिन्नरुचिरित्यर्थः । शूरः युद्धकुशलः ।  
अद्भुतापहृभः । सेवाज्ञः सेवापटुः । कुनखी नखविकारवान् । व्रणाङ्कित-  
गिराः । मागी । सहोत्थाग्रजः सहोत्थेषु प्रथमः । शक्त्या पाणितले-  
ऽङ्कितः रेखारूपया शक्त्या अङ्कितहस्तः । अतिचपलः तोये भीरुश्च ॥१॥

पुनरपि शादूलयिकीदितेनाह —

कान्तः खेलगतिः पृथूरुवदनः पृष्ठास्यपार्श्वेऽङ्कित-

स्त्यागी क्लेशमहः प्रभुः ककुदवान् कन्याप्रजः श्लेष्मलः ।

पूर्वैर्बन्धुभिरात्मजैर्विरहितः सौभाग्ययुक्तः क्षमी

दीप्ताग्निः प्रमदाप्रियः स्थिरसुहृन्मध्यान्त्यसौख्यो गविः ॥२॥

इति । गविं वृषे लग्ने वृषे चन्द्रे च जात एवंशीलो भवति ।  
कान्तः । खेलगतिर्विलासयुक्तगतिः । पृथूरुवदनः पृथुनी उरुवदने  
यस्य स तथा । पृष्ठास्यपार्श्वे अङ्कितः लक्ष्मवान् । त्यागी दानशीलः ।  
क्लेशमहः । प्रभुः । ककुदवान् । कन्याप्रजः स्त्रीजनकः । श्लेष्मलः कफा-  
न्वितः । पूर्वैर्बन्धुभिरात्मजैर्विरहितः । अपरैर्बन्धुभिः सहितश्च, भवतीति  
अर्थाद् गम्यते । सौभाग्ययुक्तः । क्षमी क्षमांश्च भवति । दीप्ताग्निः ।

१. 'वाद्य ते' च. २. 'अ. कान्तेत्यादि । कान्तः १' ख., 'अ ॥ १ ॥  
कान्तः खेलगतिः पृ' घ. छ. च. ३. 'वि ॥ कान्तः १' घ. ट. च. ४. 'तिः पृ',  
५. 'नः पृष्ठा' च. ६. 'तः त्या' ट. च. ७. 'गी क्ले', ८. 'जः श्ले', ९. 'ह',  
१०. 'वान् दी' घ. छ. च.

प्रमदाप्रियः । स्थिरमुहः । मध्यान्त्यसौख्यः मध्ये अन्त्ये च वयसि  
सौख्ययुतं भवति ॥ २ ॥

यद्यपि मध्यान्त्ये चन्द्रमसि मिथुनलग्ने च जातस्य स्वरूपज्ञानार्थं शार्दूल-  
विक्रीडितेनाह —

स्त्रीलोलः सुरतोपचारकुशलः श्यामेक्षणः शास्त्रविद्  
दूतः कुञ्चितमूर्धजः पटुमतिर्हास्येङ्गितघूतवित् ।  
चार्वङ्गः प्रियवाक् प्रभक्षणरतिगीतप्रियो नृत्तवित्  
ह्रीवैर्याति रतिं समुन्नतनसश्चन्द्रे तृतीयर्क्षगे ॥ ३ ॥

इति । तृतीयर्क्षगे चन्द्रे लग्ने च जातः एवंशीलो भवति ।  
स्त्रीलोलः । सुरतोपचारकुशलः । श्यामेक्षणः नीलेक्षणः । शास्त्रविद् ।  
दूतः सन्देशवचननिपुणः । कुञ्चितमूर्धजः कुटिलकेशः । पटुमतिः ।  
हास्येङ्गितघूतवित्, हास्यवित् प्रहसनकुशलः, इङ्गितवित् परेषां हृदयज्ञः,  
घूतवित् सजीवघृतानां निर्जीवघृतानामपि विशेषज्ञः । चार्वङ्गः ।  
प्रियवाक् । प्रभक्षणरतिः सततं भक्षणेन प्रीतियुक्तः । गीतप्रियः  
गान्धर्वकुशलः । नृत्तवित् नृत्तगुणदोषज्ञः । ह्रीवैर्याति रतिम् । ह्रीवैः  
पण्डैः । समुन्नतनसः उन्नतघ्राणः ॥ ३ ॥

अनरपि शार्दूलविक्रीडितेनाह —

आवक्रद्वुत्तमः समुन्नतकटिः स्त्रीनिर्जितः सत्सुहृद्  
दैवज्ञः मञ्जुरालयः क्षयघ्नः संयुज्यते चन्द्रवत् ।  
ह्रस्वः पीनगलः समेति च वशं साम्ना सुहृद्वत्सल-  
स्तोयोद्यानरतः स्ववेश्मसहिते जातः शशाङ्के नरः ॥ ४ ॥

१. 'तः गतिं वृषलग्ने वृषचन्द्रे च जात एवन्शीलो मध्यलीलार्थः ॥ २ ॥ स्त्री' घ.  
ह. घ. २. 'च' घ. घ. १. घ. ३. 'णः शा' ह. ४. 'तः कु' घ. ५. 'जः  
प' घ. ह. घ. ६. 'णः चन्द्रे तृतीयर्क्षगे ॥ ३ ॥ जाय' घ., 'णः ॥ ३ ॥  
जाय' घ. ह.

इति । शशाङ्के स्ववेश्मसहिते अर्थात् कर्कटकसहिते कर्कटके चन्द्रे लगे च स्थिते जात एवंशीलो भवतीति सम्बन्धः । आवक्रुतगः ईषद् वक्रं द्रुते गच्छतीति तथा । समुद्रतकटिः । स्त्रीनिर्जितः स्त्रीणां वशग इत्यर्थः । सत्सुहृत् सतां सुहृत् । दैवज्ञः ज्योतिषज्ञः । प्रचुरालयः प्रचुरैर्भवनैर्युक्तः । चन्द्रवत् क्षयघनैः संयुज्यते कदाचित् क्षीणः कदाचित् पूर्णश्च भवतीत्यर्थः । ह्रस्वः सर्वः । पीनगलः । साम्ना वशं समेति च । सुहृद्वत्सलः बन्धुषु भक्तः । तोयोद्यानरतः तोयेषु उद्यानेषु च प्रीतियुक्तः ॥ ४ ॥

तीक्ष्णः स्थूलहनुर्विशालवदनः पिङ्गक्ष्णोऽल्पात्मजः

स्त्रीद्वेषी प्रियमांसकानननगः कुप्यत्यकार्ये चिरम् ।

क्षुत्तृष्णोदरदन्तमानसरुजांसम्पीडितस्त्यागवान्

विक्रान्तः स्थिरधीः सुगर्वितमना मातुर्विधेयोऽर्कभे ॥ ५ ॥

तीक्ष्ण इत्यादि । अर्कभे चन्द्रे अर्कमे'लगे च एवंशीलो भवति । तीक्ष्णः असहिष्णुः आशु कार्यकर इत्यर्थः । स्थूलहनुः । विशालवदनः विस्तीर्णास्यः । पिङ्गक्ष्णः पिङ्गलदृष्टिः । अल्पात्मजः । स्त्रीद्वेषी ब्रह्म-  
चर्यरुचिरित्यर्थः । प्रियमांसकानननगः । अकार्ये चिरं कुप्यति । चिरम् आ फलकरणाद्, अमङ्गुरकोप इत्यर्थः । क्षुत्तृष्णोदरदन्तमानसरुजा-  
सम्पीडितः । त्यागवान् । विक्रान्तः पराक्रमयुक्तः । स्थिरधीः स्थिर-  
बुद्धिः । सुगर्वितमनाः आत्मनि बहुमानयुक्तः । मातुर्विधेयः जननी-  
वशश्च भवति ॥ ५ ॥

ब्रीडामन्यरचारुवीक्षणगतिः सस्तांसंवाहुः सुखी

श्लक्ष्णः सत्यरतः कलामु निपुणः शास्त्रार्थविद् धार्मिकः ।

मेधावी सुरतप्रियः परगृहैर्वित्तैश्च संयुज्यते

कन्यायां परदेशगः प्रियवचाः कन्याप्रजोऽल्पात्मजः ॥ ६ ॥

ग्रीडेत्यादि । कन्यायां चन्द्रे लग्ने च एवंविधो भवति ।  
ग्रीडामन्थरचारुवीक्षणगतिः स्त्रीस्वभावैयुक्त इत्यर्थः । सस्तांसवाहुः  
सस्तं नतम् । सुंक्षी । शृण्णः अपरुपः । सत्यरतः । कलासु निपुणः ।  
शास्त्रार्थवित् शास्त्राणां तात्पर्यज्ञः । धार्मिकः । मेधावी । सुरतप्रियः ।  
परगृहैः वित्तैश्च संयुज्यते । परगृहैः संयोगः स्वकीयत्वेन योगः । पर-  
देशगः परदेशवासी च भवति । प्रियवचाः वचनप्रियः । कन्या-  
प्रजः । अल्पात्मजश्च भवति ॥ ६ ॥

देवब्राह्मणमाधुपूजनरतः प्राज्ञः शुचिः स्त्रीजितः

प्रांशुः सोन्नतनासिकः कृशचलद्गात्रोऽटनोऽर्थान्वितः ।

हीनाङ्गः क्रयविक्रयेषु कुशलो देवद्विनामा सरुग्

बन्धूनामुपकारकृद् विरुपितस्त्यक्तश्च तैः सप्तमे ॥ ७ ॥

देवब्राह्मणेत्यादि । सप्तमे तुलाराशौ चन्द्रे लग्ने वा सति एवं-  
शीलो भवति । देवब्राह्मणसाधुपूजनरतः । प्राज्ञः । शुचिः । स्त्रीजितः  
स्त्रीभिर्जितः वशीकृत इत्यर्थः । प्रांशुः तुङ्गः । सोन्नतनासिकः अत्यु-  
च्चप्राणः । कृशचलद्गात्रः कृशानि चलन्ति स्तोकेन निमित्तेन  
रोगारोग्यभाजनानि गात्राणि यस्य स तथा । अटनः । अर्थान्वितः ।  
हीनाङ्गः अङ्गैर्विकल्पयुक्तः । क्रयविक्रयेषु कुशलः । देवद्विनामा देव-  
निमित्तकर्मवशाद् द्विर्नामसहितः । सरुग् रोगसहितः । बन्धूना-  
मुपकारकृद् । तैः विरुपितः त्यक्तश्च बन्धुभिः कोपितः परित्यक्तश्च  
भवति ॥ ७ ॥

१. इति । क' क २. 'य ह' ट. च. ३. 'लाविद्यानपुणः । दा ८. ४.  
'णः । कलाविद्याकुशलः । दा' घ. च. ५. 'वाः । क' ट. ६. 'प्रांशुघोषतना  
इतिष्पाटः. ७. 'स्तु' स. ८. इति । म' क घ. ९. 'जायगे । घ. क.  
१०. 'तः घ' ; ११. 'ति ॥ ७ ॥ ट'.

अथ वृश्चिके जातस्य फले मालिन्याह —

पृथुलनयनवक्षा वृत्तजङ्घोरुजानु-

र्जनकगुरुवियुक्तः शैशव व्याधितश्च ।

नरपतिकुलपूज्यः पिङ्गलः क्रूरचेष्टो

झपकुलिशखगाङ्कश्छन्नपापोऽलिजातः ॥ ८ ॥

इति । अलिजात एवंशीलो भवति । अलौ वृश्चिकस्थिते चन्द्रे वृश्चिके लग्ने च सति जातः पृथुलनयनवक्षाः पृथुले विस्तीर्णे नयने वक्षा उरश्च यस्य स तथा । वृत्तजङ्घोरुजानुः वृत्ते परिवर्तले जङ्घे ऊरु जानुनी च यस्य । जनकगुरुवियुक्तः । शैशवे व्याधितश्च शैशवे इति उभयत्रापि योज्यम् । नरपतिकुलपूज्यः । पिङ्गलः पिङ्गलवर्णः । क्रूरचेष्टः वधताडनादिक्रूरचेष्टायुक्तः । झपकुलिशखगाङ्कः रेखाकारैः झपकुलिश-खगैः अङ्कितः । छन्नपापः गूढपापैः ॥ ८ ॥

धन्विनि जातस्य स्वरूपविशानार्थं शार्दूलबिक्रीडितेनाह —

व्यादीर्घास्यशिरोधरः पितृधनस्त्यागी कविर्वीर्यवान्

वक्ता स्थूलरदश्रवो धरनसः कर्मोद्यतः शिल्पवित् ।

कुब्जांसः कुनखी सुमांसलभुजः प्रागल्भ्यवान् धर्मविद्

बन्धुद्विट् न बलात् समेति च वशं सा(म्नै? मै)कसाध्यो-

ऽश्विजः ॥ ९ ॥

इति । अश्विजः अश्विनि धनुषि चन्द्रे लग्ने वा जात एवंशीलो भवति । व्यादीर्घास्यशिरोधरः । पितृधनः पितृसम्बन्धिभिः धनैः धन-जनकैः कर्ममिश्र युक्त इत्यर्थः । त्यागी । कविः प्राज्ञः काव्य-कृत् । वीर्यवान् । वक्ता वचनकुशलः । स्थूलरदश्रवो धरनसः स्थूलाः रदाः दन्ताः श्रवः श्रवणम् अधरश्च नासिका च यस्य स तथा ।

कर्मोद्यतः कर्मसु उद्यतः । शिल्पवित् शिल्पज्ञः । कुञ्जांसः । कुनखी ।  
सुमांसलघुजः । प्रागल्भ्यवान् प्रतिमानवान् । प्रागल्भ्यवागिति वा ।  
धर्मवित् । बन्धुद्विद् बन्धुष्वप्रीतः । बलाद् वशं न समेति । सा-  
(स्र?म)कमाप्यः साम्ना प्रियवचनेन एकेनैव साध्यः वशीकर्तव्यो  
भवति । ९ ॥

नित्यं लालयति स्वदारतनयान् धर्मध्वजोऽधःकृशः

स्वधः क्षामकटिर्गृहीतवचनः सौभाग्ययुक्तोऽलसः ।

शीतालुर्मनुजोऽटनश्च मकरे सत्त्वाधिकः काव्यवि-

ल्लुब्धोऽगम्यजराङ्गनासु निरतः मन्त्यक्तलज्जोऽघृणः ॥ १० ॥

नित्यमित्यादि । मकरे चन्द्रे लग्ने वा मति जतो मनुज एवं-  
शीलो भवति । स्वदाग्ननयान् नित्यं लालयति । धर्मध्वजः धर्मकरण-  
रहितोऽपि धर्मसाधनचिह्नयुक्तः । 'धर्मध्वजो लिङ्गवृत्तिरित्यमरः ।  
अधःकृशः देहस्याघोर्धे कृशः । स्वधः शोभनदृष्टिः । क्षामकटिः शुष्क-  
स्फुरत्प्रदेशः । गृहीतवचनः श्रुतान्वितः । सौभाग्ययुक्तः । अलसः  
मन्दः । शीतालुः शीतासहः । अटनः । सत्त्वाधिकः प्राणबलाधिकः ।  
काव्यवित् काव्यज्ञः । लुब्धः अर्थत्यागासहिष्णुः । अगम्यजराङ्गनासु  
निरतः नीचासु वृद्धासु च स्त्रीषु निरतः । मन्त्यक्तलज्जः स्यतो  
लज्जाशून्यः । अघृणः निर्घृणश्च भवति ॥ १० ॥

अथ हस्ते आगम्य स्वरूपज्ञानं कर्तव्यम् ? ॥ ८ ॥

करभगलः मिरालम्बरोमशदीर्घतनुः

पृथुचरणोरुपृष्ठजघनास्यकटिर्वठरः ।

१. 'म' 'ध' 'स'. २. 'ज' क. द. च. ३. 'जोऽगुना' इ' क. ४. 'द्वि ।  
म' क. घ. ५. 'ति' इ १० इ क' घ. द. च. ६. 'जराङ्गना' इति पाठ. स्यात् ।



परवनिताथपापनिरतः क्षयवृद्धियुतः

प्रियकुसुमानुलेपनसुहृद् घटजोऽध्वसहः ॥ ११ ॥

इति । घटजः घटे चन्द्रे लग्ने च जातः एवंशीलो भवति । करभगलः दीर्घकण्ठ इत्यर्थः । सिरालखररोमशदीर्घतनुः सिराला अगूढमिरा खरा परुषा रोमबहुला दीर्घा च तनुर्यस्य स तथा । पृथु-चरणोरुपृष्ठजघनास्यकटिः । बठरः निष्ठुरः, बधिर इति वा, बधिरो मूर्ख इति वा । परवनिताथपापनिरतः परस्त्रीविषयपापकर्मसु निरतः । क्षयवृद्धियुतः कदाचित् क्षययुक्तः कदाचिद् वृद्धियुक्तः । प्रियकुसुमानुलेपनसुहृद् प्रियकुसुमः प्रियानुलेपनः प्रियवन्धुश्च । अध्वसहः अध्व-श्रमसहिष्णुः ॥ ११ ॥

अथ मीने जातस्य स्वरूपविज्ञानं मालिण्याह —

जलचरधनभोक्ता दारवासोनुरक्तः

समरुचिरशरीरस्तुङ्गनासो वृहत्कः ।

अभिभवति सपत्नास्त्रीजितश्चारुदृष्टि-

द्युतिनिधिधनभोगी पण्डितश्चान्त्यराशौ ॥ १२ ॥

इति । अन्त्यराशौ मीने चन्द्रे लग्ने च जातः एवंशीलो भवति । जलचरधनभोक्ता जलचराणि धनानि मुक्ताप्रवालादीनि सांयात्रिक-विक्रेपद्रव्याणि मोक्तुं शीलमस्येति जलचरधनभोक्ता । दारवामोनुरक्तः दारेषु वासस्तु च अनुरागवान् । समरुचिरशरीरः । तुङ्गनामः । वृहत्कः वृहन्मूर्धा । सपत्नानभिभवति शत्रून् परिभवति । स्त्रीजितः । स्त्रीभिर्जितः वशीकृतः । चारुदृष्टिः शोभननेत्रः । द्युतिनिधिधनभोगी । द्युतिस्तेजः, निधिः पूर्वभूमौ निहितं द्रव्यं, स्वतेजसा निधिलाभेन च लब्धस्य धनस्य भोगवानित्यर्थः । पण्डितश्च भवति ॥ १२ ॥

एवं द्वादशभिः श्लोकैः सप्तचन्द्राधितराशिशीलान्यभेदेनोक्त्या चन्द्रस्य यथोक्तफलदानं प्रति वितोषमाह —

बलवति राशौ तदधिपतौ च

स्वबलयुतः स्याद् यदि तुहिनांशुः ।

कथितफलानामविकलदाता

शशिवदतोऽन्येऽप्यनुपरिचिन्त्याः ॥ १३ ॥

इति । राशौ तदधिपतौ च बलवति सति तुहिनांशुः स्वबल-  
युतो यदि कथितफलानामविकलदाता स्यादित्यन्वयः । चन्द्रः यस्मिन्  
राशौ तिष्ठति तस्य राशेस्तद्राश्यधिपतेश्च बलवत्त्वे सति चन्द्रः स्वयं  
च स्वकीयबलयुक्तः यदि भवति तदा यथोक्तानां फलानां साकल्येन  
दाता भवेत् । चन्द्रस्य चन्द्राधिष्ठितराशेस्तदधिपस्य च श्रयाणां  
बलवत्त्वे सति प्रोक्तफलानि सर्वाणि भवन्ति । एकस्य बलशून्यत्वे  
किञ्चिन्पूनानि भवन्ति । द्वयोर्वलशून्यत्वे यानिकानिचिद् भवन्ति ।  
श्रयाणां बलशून्यत्वे असाराणि वा स्थगितानि वा अनुपयो-  
गीनि भवन्तीत्युक्तं भवति । राशेर्वलशून्यत्वे राशिस्वभावजनितस्य  
शाकल्यघुञ्जित्यादिफलस्याभावः । राश्यधिपस्य बलशून्यत्वे  
'वृत्ताताम्रदग्नि'त्यादिफलस्याभावः । 'लग्नस्यापि स्वामिधीर्यं हि वीर्य-  
मि'त्युक्त्या । राश्यधिपबलमात्रे राशेरापि बलाभावप्रसङ्गे 'स्वामिगुरुप्र-  
वीक्षितयुते'त्यादिराश्युक्तबलवद्वाद् राशिफलानि प्रायिकानि भवन्ति  
इत्यादि निरूपणीयम् । एवमुक्तमाविकलफलदातृत्वादिकमन्येषामपि  
चिन्त्यमिति चतुर्थपादेनाह — अतः अन्येऽपि शशिवद् अनुपरिचिन्त्या  
इत्यन्वयः । अतः चन्द्राद् अन्ये ग्रहा अपि शशिवत् चन्द्रम्पोक्तवद्  
राशौ राश्यधिपतौ च बलवति स्वबलयुताश्चेत् स्वोक्तफलानामविकल-  
दातारः । अनुपरिचिन्त्याः इत्यंभावेन परिचिन्त्याः, यथावद्विचर्याया  
इत्यर्थः । इत्यम्भृताग्न्यानेऽनुशब्दो वर्तते इति 'लघुपेत्यम्भृताग्न्याने-

भागवीप्तासु प्रतिपर्यनवः' (१-४-९०) इति सूत्रवशाद् विज्ञायते । बला-  
बलवशेन विमृश्य फलानां तारतम्यमवगम्य निर्देशः कर्तव्य इत्युक्तं  
भवति । लग्नफलस्य तु बलवति राशौ तदधिपतौ चेत्येतावन्मात्रेण  
अधिपबलवशात् स्वबलवशाच्च वैकल्यं साकल्यं वा विमृश्य वक्तव्यम्  
॥ १३ ॥

एवं राशीनां लग्नरात्रसम्बन्धे सति सम्भाव्यानि शीलानि पृथक् पृथगुपादिश्य  
अनन्तरं ग्रहयोगवशेन स्वभाव्यानि फलानि क्रमेणोपदिशति । तत्र प्रथमं मेघ-  
धूपगतेऽर्कं जातस्य स्थिररूपज्ञानमौपच्यन्दिकेनाह —

प्रथितश्चतुरोऽटनोऽल्पवित्तः

क्रियगे त्वायुधकृद् वितुङ्गभागे ।

गवि वस्त्रसुगन्धपण्यजीवी

वनिताद्विट् कुशलश्च गेयवाद्ये ॥ १४ ॥

इति । उत्तरश्लोकगतं भानाविति पदं सिंहावलोकितन्यायेना-  
त्राप्यनुकृष्यते । भानौ क्रियगे वितुङ्गभागे तु प्रथितः चतुरः अटनः  
अल्पवित्तः आयुधकृच्च भवतीत्यन्वयः । आयुधभृदिति वा पाठः । तत्र  
शस्त्रधारणजीवीत्यर्थः । क्रियगे मेघं गते तत्रापि वितुङ्गभागे उच्चा-  
दन्यत्र भागे स्थिते सति । परमोच्चस्थस्य रवेः राजयोगादिषु पूर्व-  
मुक्तफलत्वान्मेपराशौ परमोच्चादन्यत्र स्थितस्य फलमश्रोच्यते ।  
प्रथितः प्रसिद्धः । चतुरः विदग्धः । अटनः । अल्पवित्तः । आयुधकृद्  
आयुधन्यापारपरश्च भवति । भानौ गवि स्थिते सति वस्त्रसुगन्धपण्य-  
जीवी वस्त्रैः सुगन्धैः कर्पूरादिभिश्च वाणिज्यद्रव्यैः जीवितुं शीलमस्येति  
म तथा । वनिताद्विट् स्त्रीषु प्रीतिरहितः । गेयवाद्ये कुशलश्च भवति  
गेयेषु वाद्येषु च कुशलः निपुणो भवति ॥ १४ ॥

१. 'मं सूर्यस्य मेघादियोगश्रीलानि प्रदर्शयन्ते — प्रथि', २. ६. ७. २.  
'यः । क्रियगे' घ. ख. ३. 'वि वृषभस्थि' घ. ४. 'ति ॥ १४ ॥ वि' घ.  
६. ७.

अथ मिथुनादिस्थिते सूर्ये जातस्य स्वरूपविज्ञानं शार्दूलनिक्रीडितेनाह —

विद्याज्योतिषवित्तवान् मिथुनगे भानौ कुलीरस्थिते

तीक्ष्णोऽत्रः परकार्यकृच्छ्रमवधक्लेशैश्च संयुज्यते ।

सिंहस्थे वनशैलगोकुलरतिर्वीर्यान्वितो ज्ञः पुमान्

कन्यास्थे लिपिलेख्यकाव्यगणितज्ञानान्वितः स्त्रीवपुः ॥ १५ ॥

इति । भानौ मिथुनगे विद्याज्योतिषवित्तवान् भवति विद्यावान्  
तत्र विशेषाद् ज्योतिषज्ञानवान् धनवांश्च भवतीत्यर्थः । भानौ कुली-  
रस्थिते तीक्ष्णः असहनत्वाद् आशुकार्यकरः । अस्त्रः धनरहितः ।  
परकार्यकृत् परेषां कार्यकर्ता । श्रमवधक्लेशैः संयुज्यते च श्रमोऽङ्गभेदः  
तज्जनकेन कर्मणा, वधो हिंसा वधेन, क्लेशेन उपतापेन च संयुज्यते ।  
भानौ सिंहस्थे सति वनशैलगोकुलरतिः वनेषु शैलेषु गोकुलेषु च  
प्रीतियुक्तः । वीर्यान्वितः । ज्ञः आत्मस्वरूपस्य सत्त्वगुणात्मकस्य सकल-  
प्रकाशकस्य भानौर्मूलत्रिकोणक्षेत्रभूते सिंह स्थितस्य फलमज्ञत्वं न  
सम्भवेद्, अतोऽत्र ज्ञ इति पाठः । भानौ कन्यास्थे मति जातः पुमान्  
लिपिलेख्यकाव्यगणितज्ञानान्वितः स्त्रीवपुश्च भवति । लिपयो  
नागराद्याः, लेख्यानि चित्राणि, काव्यानि कविकर्माणि, गणितानि  
लौकिकगणितानि ग्रहविषयगणितानि च, एतेषु ज्ञानान्वितः । स्त्रीवपुः  
स्त्रीवमानशरीरः ॥ १५ ॥

अथ तुलादिचतुष्टयेऽर्के जातस्य स्वरूपज्ञानं शार्दूलनिक्रीडितेनाह —

जातस्तौलिनि शौण्डिकोऽध्वनिरतो हैरण्यको नीचकृत्

कूरः साहसिको विपार्जितधनः शास्त्रान्तगोऽलिस्थिते ।

सत्पूज्यो धनवान् धनुर्धरगते तीक्ष्णो भिषक् कारुको

नीचोऽज्ञः कुत्राणिङ् मृगेऽल्पधनवाल्मुब्धोऽन्यभागे रतः ॥

[१६ ॥

इति । भानौ तौलिनि स्थिते जातः शौण्डिकः शुण्डया जीव-  
तीति शौण्डिकः शुण्डया निमित्तभूतया । “शुण्डा कैरिकरे मध्ये”  
इत्यमरः । हस्तिशिक्षया मद्यशिक्षया वा जीवतीत्यर्थः । हस्तिशिक्षा  
आधोरणकर्म । मद्यं मदकरद्रव्यं ताम्बूलमदयन्तिकामदिरादि । एतै-  
र्निमित्तभूतैरंशकयोगेक्षणादिविशेषविशेषैर्जीवतीत्यनुसन्धेयम् । अध्वनि-  
रतः चङ्क्रमणपरः । हैरण्यकः । हिरण्यप्रयोजनो हैरण्यः ।  
कुत्सायां कृन्प्रत्ययः । कुत्सितो हैरण्यो हैरण्यकः । हिरण्यार्थम-  
कर्तव्यानि कुर्वाण इति यावत् । नीचकृत् नीचकारी । अचेतनत्वात्  
कीर्त्यर्थोत्साहशून्य इति यावत् । भानौ अलिस्थिते जातः क्रूरः । साह-  
सिकः इति हिताहितानपेक्षकर्मकरः । विपाजितधनः विषेण निमित्तभूतेन  
आर्जितधनः । विषयिक्रयेण विषचिकित्सया वा आर्जितधन इत्यर्थः ।  
शास्त्रान्तर्गः शास्त्रपारदृष्टा । भानौ घनुर्धरगते जातः सत्पूज्यः सत्तां  
पूज्यः । धनवान् । तीक्ष्णः । भिषक् भेषज्यकुशलः । कारुकः शिल्पी च  
भवति । भानौ मृगे स्थिते सति नीचः । अङ्गः । कुवणिक् कुत्सित-  
वाणिज्यकरः । अल्पधनवान् । लुब्धः अन्यायेन परद्रव्यादित्सुः ।  
अन्यभाग्ये रतः परेषां भाग्ये प्रीतैः ॥ १६ ॥

अथ कुम्भमयीनयोः स्थितेऽर्के जातस्तत्स्वरूपज्ञाने वसन्ततिलकेनाह —

नीचो घटे तनयभाग्यपरिस्तुतोऽस्व-

स्तोयोत्यपण्यत्रिभवो वनितादृतोऽन्त्ये ।

नक्षत्रमानवतनुप्रतिमे विभागे

लक्ष्मादिशेत् तुहिनरश्मिदिनेशयुक्ते ॥ १७ ॥

इति । भानौ घटे स्थिते सति नीचः तनयभाग्यपरिस्तुतः तनय-  
भाग्यैश्च हीनः । अम्बः धनरहितः । अन्त्ये भानौ स्थिते सति तोयो-

१. ‘नि कर्माणि ह’ घ. २. ‘तः अन्येषां भाग्ये रतः परेषां’ घ. घ. ३.  
‘तियुक्तः ॥ १६ ॥ नी’ द., ‘तः ॥ १६ ॥ नी’ घ. घ. ४. ‘नौ अन्ये स्थि’ क. द.,  
‘नौ अन्ये मीनराशौ स्थि घ. ५. ‘ति जातः तो’ घ.

स्थपण्यविभक्तः । तोयेन निमित्तेनोत्थितं तोयोत्थम् । तोयोत्थानि  
पण्यानि प्राणिज्यद्रव्याणि, तोयोत्था विभक्ताः घनधान्यादिसमृद्धयो  
यस्य सः तोयोत्थपण्यविभवः । अनिताद्यतं वनिताभिराद्यतश्च भवति ।  
एवमादित्यस्य राशिश्रीलान्युक्तानि । अनन्तरं वक्तव्यानि चन्द्रस्य  
राशिश्रीलान्यपि पूर्वमेव क्तानि । इदानीमुभयोरपि युगपद्योगमयं  
राशिफलमाह । तुहिनगस्मिदिनेशयुक्ते नक्षत्रमनवतनुप्रतिमे विभागे  
लक्ष्म आदिशेदित्यन्वयः । चन्द्रेणादित्येन च एकाशगाभ्या युक्तो  
यो राशिः स राशिः 'कालाङ्गानि वराङ्गमाननम्' इत्यादिनोक्ते  
नक्षत्रमानवशरारे यत्र भवति तत्प्रतिमे विभाग देहावयवभागे लक्ष्म  
चिह्नम देष्टव्यमित्यर्थः । अद्य नक्षत्रमानानुप्रतिम इत्यत्र

“शशिचन्द्राः नहिमकरशशियुगगुणभूतचन्द्रवेदगुणाः ।

मुपवामनेत्रमस्तकदक्षिणहृत्कण्ठहस्तपादेषु ॥

हृदलवोर्मकराङ्घ्रिषु नरस्य रणकाङ्क्षिणोऽङ्गानि ॥”

इति पराशरहोरायाम् । अत्र नक्षत्रमानवतनुप्रतिमे विभागे लक्ष्मा-  
दिशेदित्यर्थः । युद्धग्रन्थेऽनेष्टकर्ता बलिष्ठः पापो यस्मिन्नुक्षे स्थितः  
तत्प्रतिमे विभागे त्रणो भवताति वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

एवमादित्यचन्द्रयोः फलायुक्त्या चन्द्रस्य राशिगीतायाह । तत्र प्रथम  
स्वर्क्षगुणक्षयो मित्ये वज्र जानम्य हररक्षणानि तोदकता(?) ८ —

नरपतिसत्कृताटनचमूपवणिकमघनान्

क्षततनुचोरभूरिविषयाश्च कुजः स्वगृहे ।

युवतिजितान् सुहृत्सु विषमान् परदाररतान्

कुहकसुधैषभीरुरूपान् सितमे जन्मयेत् ॥ १८ ॥

इति । कुजः स्वगृहे स्थितः मन् एवंविधान् जनयेदिति सम्बन्धः । नरपतिसत्कृतं राजभिः सम्मानितम् अटन चमूपतिं वणिजं सधनं च । तथा क्षततनुचोरभूरिविषयांश्च क्षततनु चोरं निजव्रणेन आगन्तुकव्रणेन वा युक्तं चोरं, भूरिविषयम् अजितेन्द्रियं च जनयेत् । स्वगृहे मेघे वृश्चिके च । स्वक्षेत्रे स्थितस्यापि मूलत्रिकोणगतत्वेन उच्चारोहित्वेन वा शुभफलानि वक्तव्यानि । तथा मौढ्वेन शत्रुनिरीक्षितत्वेन वा अशुभफलानि वक्तव्यानीति सार्वत्रिको न्यायोऽत्रापि फलसङ्करे द्रष्टव्यः । सितमे घृणमे तुलायां च स्थितः कुजः युवतिजितान्, सुहृत्सु विपमान्, परदाररतान्, कुहकान् मायाकुशलान्, सुषेपान् शोभनवेषप्रियान्, भोरून् भयपुक्तान्, फलान् निष्ठुर्गांश्च जनयेत् ॥१८॥

अथ बुधचन्द्रक्षेत्रगते कुजे जातस्य स्वरूपं वसन्ततिलकेनाह —

बौधे सहस्तनयवान् विसुहृत् कृतज्ञो

गान्धर्वयुद्धकुशलः कृपणोऽभयोऽर्थी ।

चान्द्रेऽर्थवान् सलिलयानसमार्जितस्वः

प्राज्ञश्च भूमितनये विकलः खलश्च ॥ १९ ॥

इति । भूमितनये बौधे कन्यायां मिथुने च स्थिते सति सहस्तनयवान् भवति । महो बलम् । “महमी बलरंभो” इति यादवः । बलवांस्तनयवांश्च भवतीत्यर्थः विसुहृद् बन्धुरहितः । कृतज्ञ उपकारस्मर्ता । गान्धर्वयुद्धकुशलः गान्धर्वे युद्धे च कुशलः । कृपणः कार्पण्ययुक्तः । अभयः भयरहितः । अर्थी अर्थाश्च भवति । भूमितनये चान्द्रे चन्द्राक्षौ कर्कटकराक्षौ स्थिते अर्थवान् भवति । सलिलयानसमार्जितस्वः सलिलयानेन सम्यगार्जितधनश्च, प्राज्ञः विद्वान्, विकलः वैकल्ययुक्तः, खलः नीचश्च भवति ॥ १९ ॥

अथ रविगुरुमन्दक्षगते जातस्य स्वरूपविज्ञानं शार्दूलविष्णोऽदितेनाह -

निःस्वः क्लेशसहोऽभयो वनचरः सिंहोऽल्पदारात्मजो  
जैवे नैकरिपुर्नरेन्द्रमचिवः ख्यातोऽभयोऽल्पात्मजः ।  
दुःखार्तो विधनोऽटनं श्रुतरतिस्तीक्ष्णश्च कुम्भे स्थिते  
भौमे भूरिघनात्मजो मृगगते भूपोऽथवा तत्समः ॥ २० ॥

इति । भूमितनये सिंह स्थिते निःस्वः क्लेशमहः अभयः वनचरः  
अल्पदारात्मजश्च भवति । भूमितनये जैवे जीवमन्धन्विनि धनुषि  
मीने च राशौ स्थिते मनि नैकरिपुः बहुशत्रुः नरेन्द्रमचिवः ख्यातः  
अभयः अल्पात्मजश्च भवति । भौमे कुम्भे स्थिते दुःखार्तः विधनः  
अटनः श्रुतरतिः तीक्ष्णश्च भवति । भौगे मृगगते भूरिघनात्मजः  
भूपः, अथवा तत्समः भूपमयो वा भवति ॥ २० ॥

अथ कुजशुक्रक्षेत्रगते बुधे जातस्य स्वरूपविज्ञानं वपन्ततिलकेनाह —

धूतान्नपानरतनास्तिकचोरनिःस्वः  
कुलीककूटकृदसत्यरतः कुजक्षे ।  
आचार्यभूरिमुतदारधनार्जनेष्टः  
शौक्रे वदान्यगुरुभक्तियुतश्च सौम्ये ॥ २१ ॥

इति । सौम्ये कुजक्षे स्थिते सति धूतान्नपानरतनास्तिकचोर-  
निःस्वो भवति । धूते विजिगृष्यापारे अन्नपानयोश्च निरतः ना-  
स्तिकः ऐदिकप्रधानः चोरः निःस्वः निर्धनः, कुलीककूटकृत् कुलीकश्च  
कूटकश्च, असत्यश्च भवति । सौम्ये शौक्रे धूपमे तुलायां च स्थिते  
सति आचार्यभूरिमुतदारधनार्जनेष्टः आचार्यश्च भूरिमुतदाराश्च धना-  
र्जनं च इष्टानि यस्य स तः, वदान्यगुरुभक्तियुतश्च वदान्यो दान-

१. 'ति ॥ कु' क २ 'य बुधस्य रातिसालान्पाह —' घ. ङ. च. ३.  
४. ५. 'र' छ.



शीलः गुरुभक्तियुतश्च भवति । आचार्योऽध्यापकः, गुरवः पित्रादय  
इति विशेषः । उभयत्रापि भक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथ मिथुनकर्मफलस्य बुधे जातस्य स्वरूपविज्ञानार्थमिन्द्रवज्रानाह —

विकत्थनः शास्त्रकलाविदग्धः

प्रियंवदः सौख्यरतस्तृतीये ।

जलार्जितस्वः स्वजनस्य शत्रुः

शशाङ्कजे शीतकरर्क्षयुक्ते ॥ २२ ॥

इति । मीम्ये तृतीये मिथुने स्थिते सति ज्ञातः विकत्थनः  
आत्मश्लाघी, शास्त्रकलाविदग्धः शास्त्रेषु कलासु च विदग्धः प्रियं-  
वदः सौख्यरतश्च भवति । शशाङ्कजे शीतकरर्क्षयुक्ते जलार्जितस्वः  
जलेन वा जलयानेन वा जलोद्भवैर्वा आर्जितधन इत्यर्थः । स्वजनस्य  
शत्रुश्च भवति ॥ २२ ॥

स्त्रीद्वेष्यो विधनमुखात्मजोऽटनोऽज्ञः

स्त्रीलोलः सुपरिभवोऽर्कराशिगे ज्ञे ।

त्यागी ज्ञः प्रचुरगुणः सुखी क्षमावान्

युक्तिज्ञो विगतभयश्च पट्टराशौ ॥ २३ ॥

स्त्रीद्वेष्य इति । ज्ञे अर्कराशिगे सति स्त्रीद्वेष्यः स्त्रीणामप्रियः,  
विधनः विसुखः विपुत्रश्च, अटनः, अज्ञः मूर्खः, स्त्रीलोलः, सुपरिभव,  
अपनेन परिभवाहश्च भवति । शशाङ्कजे पट्टराशौ स्थिते सति त्यागीः  
ज्ञः विद्वान्, प्रचुरगुणः प्रचुरैर्वहुभिर्गुणैर्युक्तः, सुखी, क्षमावान् सर्वसहः,  
युक्तिज्ञः युक्तिषु कुशलः, विगतभयः भयरहितः जल्पे वादे वितण्डायां  
च भयरहितः । स्वपक्षस्थापनकथा जल्पः, परपक्षनिराकरणेन स्वपक्ष-  
स्थापनकथा वादः, परपक्षनिराकरणकथा वितण्डा ॥ २३ ॥

अथ गुरुमन्दक्षेत्रगते बुधे जातस्य स्वरूपज्ञानमौपच्छन्दसिकेनाह —

नृपसम्मतपण्डिताप्तवाक्यो

नवमेऽन्त्ये जितसेवकोऽन्त्यशिल्पः ।

परकर्मकृदस्वशिल्पबुद्धि-

स्त्वृणवान् विष्टिकरो बुधोऽर्कजर्क्षे ॥ २४ ॥

इति । बुधे नवमे राशौ स्थिते सति नृपसम्मतपण्डिताप्तवाक्यः नृपसम्मतश्च पण्डितश्च आप्तवाक्यश्च प्रमाणभूतवाक्यश्च भवति । अन्त्ये सौम्ये मीनराशौ स्थिते सति जितसेवकः जिताः सेवागुणातिशयेनाधरीकृता अन्ये सेवका येन स जितसेवकः, पराराधनदक्ष इत्यर्थः । अन्त्यशिल्पः अन्त्यानां नीचानां शिल्पेन युक्तः । बुधे अर्कजर्क्षे स्थिते तु परकर्मकृत् परप्रेक्ष्यः, अस्वशिल्पबुद्धिः अन्यशिल्पबुद्धिश्च भवति । अस्वो दरिद्रः शिल्पबुद्धिश्चेति वा । ऋणवान्, विष्टिकरः भारेवाहश्च भवति ॥ २४ ॥

अथ पुनश्चबुधक्षेत्रगते गुरो जातस्य स्वरूपज्ञानं शार्ङ्गणिकीदितेनाह —

सेनानीर्बहुवित्तदारतनयो दाता सुभृत्यः क्षमी

तेजोदारगुणान्वितः सुरगुरौ जातः पुमान् कौजमे ।

कल्याङ्गः ससुखार्थमित्रतनयस्त्यागी प्रियः शौक्रमे

बौधे भूरिपरिच्छदात्मजसहत्साचिव्ययुक्तः सुखी ॥ २५ ॥

इति । सुरगुरौ कौजमे मेघे वृद्धिचक्रे च स्थिते सति जातः पुमान् सेनानीः सेनापतिर्भवति । बहुवित्तदारतनयः बहुवित्तः बहुदारः

१. 'न्त्ये अन्त्ये मी' म. घ. २. 'यः परा' ट. ३. 'सति य' म. घ. छ. ४. 'पन्ना, अन्य' च ५. 'विष्ट म' घ ६. 'नि । ऋण' घ. छ. च. ७. 'शब्द' म. घ. ८. 'य गुरोः राक्षितालानि अदृश्यन्ते - मेना' म. घ. च., 'य गुरोः राक्षितालान्याह - मेना' छ.

बहुतनयश्च, दाता, सुभृत्यः, क्षमी क्षमागुणयुक्तः, तेजोदारगुणान्वितः  
तेजसा परानभिभवनोयत्वलक्षणेन तथा दारगुणेन सौम्यगुणेन अभि-  
गम्यगुणेन च अन्वितः । दारगुणशब्दन अभिगम्यगुणा लक्ष्यन्ते,  
अतो न पौनरुक्त्यदोषः । तेजसा दारैर्मार्यादिभिः गुणैर्विद्यादिभिश्च  
युक्त इति वा । सुरगुरौ शौक्रमे वृषे तुलाया च स्थिते सति कल्याङ्गः  
स्वस्थशरीरः, मसुखार्थमित्रतनः, त्यागी, प्रियः लोकप्रियश्च भवति ।  
सुरगुरौ बौधे मिथुने कन्यायां च स्थिते सति भूरिपरिच्छदात्मजसह-  
त्साचिव्ययुक्तः परिच्छदाः वसनासनशयनादयो भोगोपकरणविशेषाः  
आत्मजाः सहृदश्च माचिव्य सचिवकर्म एतैर्भूरिभिर्युक्तः, सुखी च  
भवति ॥ २५ ॥

चान्द्रे रत्नसुतस्वदारविभवः प्राज्ञः सुखैरन्वितः

सिंहे स्याद् बलनायकः सुरगुरावुक्तं च यच्चान्द्रमे ।

स्वर्क्षे माण्डलिको नरेन्द्रसचिवः सेनापतिर्वा धनी

कुम्भे कर्कटवत् फलानि मकरे नीचोऽल्पविचोऽसुखी ॥ २६ ॥

चान्द्रे रत्नेति । सुरगुरौ चान्द्रे कर्कटके स्थिते सति जातः रत्न-  
सुतस्वदारविभवः रत्नानां सुतानां धनानां दारणां च विभवेन युक्तो  
भवति । अर्शआदित्याद् अच्प्रत्ययो मत्वर्थायः । प्राज्ञः, सुखैरन्वितश्च  
भवति । सुरगुरौ सिंहे स्थिते सति बलनायकः स्यात् । चान्द्रमे  
यदृक्त्वं यत् फलयुक्तं तदपि सगं भवति । सुरगुरौ स्वर्क्षे धनुषि मीन  
च स्थिते सति माण्डलिकः मण्डलाधिपः, नरेन्द्रसचिवो वा, सेना-  
पतिर्वा, धनी धनवान् भवति । गुरौ कुम्भे स्थिते सति कर्कटवत्  
कर्कटराशावुक्तानि फलानि भवन्ति । गुरौ मकरे स्थिते सति नीचः  
अधमः, अल्पविचः वृत्तिमात्रधनः, असुरी र्पत्सुरी च भवतीत्यर्थः ।  
सुखीति वा पाठः ॥ २६ ॥

१ 'न मष्ट्यगुणेन च' २ 'रत्नान्देन च अ ग' ३ 'य. । सु' ख  
घ ५ घ ४ 'री प्रोक्त च', ५ 'त सुरी' ६ 'खी ॥ २६ म' ७  
७ प्रोक्तं ॥ २६ ॥' च ८ 'यं ॥ २६ ॥ घ

अथ कुजर्क्षे स्वर्क्षे च स्थिते शुके जातस्य स्वरूपज्ञार्थं उपदिष्टमाप्ताह —

परयुवतिरतस्तदर्थवादै-

हृतविभवः कुलपांसनः कुजर्क्षे ।

सुबलमतिधनो नरेन्द्रपूज्यः

स्वजनविभुः प्रथितोऽभयः सिते स्वे ॥ २७ ॥

इति । मिते कुजर्क्षे स्थिते मति परयुवतिरतः, तदर्थवादैः तदर्थं परयुवतिनिमित्तैः वादैः व्यवहारैः हृतविभवः, कुलपांसनः कुलफलङ्क-  
भूतश्च भवति । सिते स्वे राशौ घृषभे तुलायां च, सुबलमतिधनः शोभ-  
नानि बलमतिधनानि यस्य स तथा, नरेन्द्रपूज्यः, स्वजनविभुः स्वजना-  
नां विभुः, प्रथितः प्रसिद्धः, अभयः ॥ २७ ॥

अथ बुधमन्दक्षेत्रगते जातस्य स्वरूपज्ञार्थं उपदिष्टमाप्ताह —

नृपकृत्यकरोऽर्थवान् कलावि-

न्मिथुने पट्टगतेऽस्वनीचकर्मा ।

रविजर्क्षगतेऽमरारिपूज्ये

सुभगः स्त्रीविजितो रतः कुनार्याम् ॥ २८ ॥

इति । अमरारिपूज्ये मिथुने स्थिते सति नृपकृत्यकरः राज-  
कार्यकरः, अर्थवान्, कलावित् । पट्टगते कन्यागते सति अस्वनीच-  
कर्मा भवति । अस्वः अधुनः नीचक्रमा अनुचितव्यापारश्च भवति ।  
अमरारिपूज्ये रविजर्क्षगते सुभगः, स्त्रीविजितः स्त्रीणां वशीभूतः,  
कुनार्यां रतश्च भवति ॥ २८ ॥

१. 'शुकस्य राजशिखीलान्वाह — पर' ग. घ. ङ. च. २. 'नक्ष भवति ।  
कुल' क. ग. घ. ङ. च. ३. 'यः ॥ २७ ॥ नृप' घ. ङ. च. ४. 'धनरहितः  
नो' ङ. ५. 'ति मकरे कुम्भे च स्थिते सति सु' घ. ६. 'वि ॥ २८ ॥ दिभा'  
घ. ङ. च.

चन्द्रविगुरुक्षेत्रगते जातरय स्वरूपं क्षितिशिण्याह —

द्विभार्योऽर्थी भीरुः प्रबलमदशोकश्च शशिभे

हरौ योपाप्तार्थः प्रवरयुवतिर्भन्दतनयः ।

गणैः पूज्यः सस्वस्तुरगमहिते दानवगुरौ

ज्ञापे विद्वानाढ्यो नृपजनितपूजोऽतिसुभगः ॥ २९ ॥

इति । दानवगुरौ शशिभे स्थिते सति द्विभार्यः, अर्थी याचना-  
शीलः, भीरुः, प्रबलमदैः प्रबलशोकश्च भवति । दानवगुरौ हरौ स्थिते  
सति योपाप्तार्थः स्त्रीमकाशादाप्तधनः, प्रवरयुवतिः प्रवरा राजकुलादि-  
सम्भवा युवतिर्यस्य स तथा, भन्दतनयः अल्पमुत्रश्च भवति । दानवगुरौ  
तुरगमहिते, गणैः पूज्यः, सस्वः धनसहितश्च भवति । दानवगुरौ ज्ञापे  
सति विद्वान्, आढ्यः धनसमृद्धः, नृपजनितपूजैः राजभिः कृतपूजा,  
अतिसुभगश्च भवति ॥ २९ ॥

अथ कुजधुधक्षेत्रे मन्दे जातरय स्वरूपं यमन्तविरकेर्नाह —

मूर्खोऽटनः कपटवान् विमुहद् यमेऽजे

कीटे तु बन्धवधभाक् चपलोऽघृणश्च ।

निर्हीमुखार्थतनयः स्वलितश्च लेख्ये

रक्षापतिर्भवति मुख्यभृतश्च वीधे ॥ ३० ॥

इति । यमे अजे स्थिते सति जातः मूर्खः, अटनः, कप-  
टवान्, विमुहद् बन्धुरहितश्च भवति । कीटे तु, बन्धवधभाक् बन्धनं  
ताडनं च भजने । चपलः, अघृणः निर्घृणश्च भवति । वीधे मिथुने  
कन्यायां च स्थिते सति निर्हीमुखार्थतनयः निर्हीः निर्लेज्जः निस्तुष्टः

१. 'मि द्वि' — १. च. २. 'म' क. घ. च. ३. 'दशोकश्च' ट. ४.  
'मि धनुर्दि स्थिते य' घ. ५. 'प्र. बलि' घ. ६. 'ति ॥ २९ ॥ मन्दरय राति-  
शीलान्पाद — मू' घ ट च. ७. 'पजाने य' क ग ८. 'ह्य नि' ट च.

निरर्थः निस्तनयश्च, लेख्ये सप्तलितश्च, रक्षापतिः कारागृहपतिः,  
मुख्यभृतश्च मुख्यानां भृत्यश्च भवति ॥ ३० ॥

अथ शुकेन्दुसूर्यवर्णने जातस्य स्वरूपविज्ञानं मन्दाक्रान्तयाह —

वर्ज्यस्त्रीष्टो नवहुविभवो भूरिभार्यो वृषस्ये

ख्यातः स्वोच्चे गणपुरवलग्रामपूज्योऽर्थवांश्च ।

कर्किण्यस्वो विरलदशनो मातृहीनोऽसुतोऽज्ञः

सिंहेऽनार्यो विसुखतनयो विष्टिकृत् सूर्यपुत्रे ॥ ३१ ॥

इति । सूर्यपुत्रे वृषस्ये वर्ज्यस्त्रीष्टो वर्ज्यस्त्रीणाम् अगम्यानां  
स्त्रीणामिष्टः बहुविभरहितः बहुभार्यश्च भवति । सूर्यपुत्रे स्वोच्चे स्थिते  
सति जातः ख्यातः, गणपुरवलग्रामपूज्यः, अर्थवांश्च भवति । सूर्यपुत्रे  
कर्किणि स्थिते अस्वः, विरलदशनः, मातृहीनः, असुतः, अज्ञश्च  
भवति । सूर्यपुत्रे सिंहे स्थिते सति अनार्यः, विसुखतनयः विसुखः  
वितनयश्च, विष्टिकृद् भास्वाहो च भवति ॥ ३१ ॥

अथ शुक्रस्वर्णने जातस्य स्वरूपं सार्द्धं लघ्विनीहितेनाह —

स्वन्तः प्रत्ययिता नरेन्द्रभवने सत्पुत्रजायाधनो

जीवक्षेत्रगतेऽर्कजे पुरवलग्रामाग्रनेताथवा ।

अन्यस्त्रीधनसम्भृतः पुरवलग्रामाग्रणोर्मन्ददृक्

स्वक्षेत्रे मलिनः स्थिरार्थविभवो भोक्ता च जातः पुमान् ॥ ३२ ॥

इति । अर्कजे जीवक्षेत्रगते जातः पुमान् स्वन्तः शोभनमृत्युः,  
पृथक्त्वेषु सुखित इत्यर्थः । नरेन्द्रभवने प्रत्ययिता विश्वासकर्ता, सत्पुत्र-  
जायाधनः, अथवा पुरवलग्रामाग्रनेता बलवशात् पुरनेता वा बल-

१. 'तील्यर्थः ॥' क. ग, 'तील्यर्थः ॥ वर्ज्यं घ. छ. ज. २. 'ष्टो भवति ।  
घ' ख., 'ष्टो भवति । न बहुविभवः बहुविभर' घ. ३. 'तो भूरिभार्यं घ' घ.  
४. 'ति ॥ ३१ ॥ स्वन्तः' ५. 'त्युः । प्रत्य' घ. छ. च.

नेता वा ग्रामनेता वा तत्रापि अग्रनेता अग्रणीर्भवति । अर्कजे स्वक्षेत्रे स्थिते सति जातः पुमान् अन्यस्त्रीधनसम्भृतः अन्यस्त्रीसम्भृतः अन्य-  
धनसम्भृतः, पुरवलग्रामाग्रणीः पुरस्य बलस्य ग्रामस्य च अग्रणीरग्र-  
नेता, मन्ददृक् अलसदृष्टिः, मलिनः मृत्रारहितः, स्थिरार्थविभवः, मोक्ता  
च भवति । एवं ग्रहाणां राशिशीलान्युक्तानि ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> एवमुक्तिक्रमेण सूचितं लग्नचन्द्रयोः समानफलत्वम् इदानीं साक्षात्कर्तुं  
पुष्पिताग्रामाह —

शिशिरकरसमागमेक्षणानां

सदृशफलं प्रवदन्ति लग्नजातम् ।

फलमधिकमिदं यदत्र भावाद्

भवनभनाथगुणैर्विचिन्तनीयम् ॥ ३३ ॥

इति । लग्नजातं फलं शिशिरकरसमागमेक्षणानां सदृशफलं  
प्रवदन्तीत्यन्वयः । राशीनां लग्नत्वे जातं फलं लग्नजातशब्देनोच्यते ।  
तच्च शिशिरकरसमागमेन राशीनां चन्द्रयोगेन यत् फलमुक्तं तत्सदृशं,  
तथा चन्द्रस्य अन्यग्रहवीक्षणे यत् फलं वक्ष्यते तत् फलमपि । लग्नस्य  
ग्रहवीक्षणे सति चन्द्रवीक्षणेन सदृशं वक्तव्यम् । एवं राशिफलस्य दृष्टि-  
फलस्य च लग्नचन्द्रयोः सामान्येन निर्देश इत्युक्तं भवति । अत्र चन्द्रस्य  
राशिशीलमुक्तं, भावफलानि पृथक् वक्ष्यन्ते च । लग्नस्य तु राशिशीलम्  
अत्र शिशिरकरसमागमेक्षणसदृशफलत्वनिर्देशेन प्रदर्शितम् । लग्नभाव-  
त्त्वजनितं फलं तु चन्द्रग्रह भवान्दरसम्बन्धाभावाद् एकमात्रमत्रैव  
निर्दिश्यते अधिकमित्यादिना श्लोकशेषेण । यदिदं लग्नस्य राशिफल-  
मुक्तं, तद् भावाद् भवनभनाथगुणैरधिकं विचिन्तनीयमिति सम्यन्धः ।

१. 'लग्नलान्युक्ता' स २. 'पुंमु', ३. 'क्षारभिदधाति—शिशि' घ.  
४. घ. ४. 'तं ति.', ५. 'गिह । रा' छ. ६. 'लं विल' ग. ७. 'शफलं  
घ' ग.

भावात् तनुकल्यादियथोद्दिष्टप्रभाववशात्, तथा भवनमनाथगुणैः  
यथोद्दिष्टैः भवनगुणैः राशिधर्मैः मनावगुणैः राश्यधिपग्रहधर्मैः अधिकम्  
उद्दिष्टात् स्वरूपाद् आधिक्ययुक्तं विचिन्तनीयमित्यर्थः । राशिफलं  
भावफलं च राश्यधिपधर्मैर्भलयित्वा वक्तव्यमित्युक्तं भवति । अस्या  
र्थस्य 'वलरति राशौ तदाधिपतौ चे'त्यादिनोक्तन्यायेन सिद्धत्वेऽपि  
पुनरप्यभिधानं मारत्वेन द्रढीकरणार्थमिति द्रष्टव्यम् । अत्र भावाद्  
भवनमनावगुणैर्विचिन्तनीयमित्युक्त्या साम्प्रदायिको वस्तुनिर्देश-  
प्रकारः सूच्यते । तद्यथा — भावादिति भावमाश्रित्य तत्तद्भाष्ययोगीनि  
वस्तुनि निपथीकृत्येत्यर्थः । भवनमनावगुणैः भवनानि भेषादिगृहाणि,  
भनि अश्विन्वदोनि नक्षत्राणि, भवननाथाः क्षितिजसितरज्ञादयः, भ-  
नाथाः शिख्यादयः, तथाचोक्तं —

“शिक्षिशुक्रार्कचन्द्राराराहुजीवार्किचान्द्रयः ।

अश्विन्याद्यृक्षनवकवितयोपतयः क्रमात् ॥”

इति । गुणाः गन्धरमरूपस्पर्शशब्दाख्या भूतगुणाः । “शिक्षिभूतपयो-  
मरुद्गणानां वजिनो भूमिसुतादयः क्रमेण” इत्युक्त्या ताराग्रहाण  
षट्त्वयम्भात्मकत्वेन चन्द्रार्कयोश्च भूतगुणाः प्रदर्शिताः । तदीयान्  
राशीनां च त एव भूतगुणा निर्देशयाः । नक्षत्राणां तु नवक्षरणात्मक-  
राशिगतानाम् एकैकस्य चरणस्य पञ्चदशघटिकात्मकस्य चतुर्धा  
विभगे मति पादोनचतुर्नाडिकाप्रमाणाश्चत्वारः खण्डाः सम्भवन्ति ।  
तेषु प्रथमतृतीययोः द्वितीयचतुर्थयाश्च खण्डयोः क्रमोत्क्रमाभ्यां पृथि-  
व्यादिष्वभूतानामुदया वेदितव्याः । तत्र पादोनचतुर्नाडिकाप्रमाणे  
खण्डे पञ्चदशघटिकापादात्मके पञ्चभिर्घटिकापादैर्गन्धादिष्वगुण-  
युक्तागाः पृथिव्या उदयः । तथा चतुर्भिर्घटिकापादै रसादिगुण-  
चतुष्कयुक्तागमयामुदयः । तथा त्रिभिर्घटिकापादै रूरादिगुणत्रययुक्त-  
स्याग्नेरुदयः । द्वाभ्यां घटिकापादाभ्यां स्पर्शशब्दाख्यगुणद्वययुक्तस्य  
वायोर्दयः । तथा तत्रान्त्येन घटिकापादेन शब्दैकगुणस्याकाशस्यो-  
दयः । एवं प्रथमतृतीयखण्डयोर्भूतोदयव्यवस्था । द्वितीयचतुर्थयोस्तु



व्युत्क्रमेण । प्रथमेन घटिकापादेन आकाशस्योदयः, द्वितीयतृतीयाभ्यां वायुः (उदयः), चतुर्थपञ्चमषष्ठेरुदयः, सप्तमाष्टमनवमदशमैरपामुदयः, एकादशद्वादशत्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशैर्घटिकापादैः पृथिव्या उदयः । एवमुदोयमानाः मावाश्रयरागिनश्चतुरगताः तात्कालिका भूत-गुणाः गुणशब्दन निर्दिष्टाः । एवं भवनभनाथगुणैः पञ्चाभिरपि वस्तु-विशेषा विचिन्तनीयाः । लोके खलु कर्मभोगविनाशमन्वन्धवशात् त्रिविधानि वस्तूनि । तानि प्रत्येकं घातुमूलजीवात्मकत्वेन त्रिविधानि भवन-गतद्रेकाणवशाद् द्रेकाणगतनवांशकवशाच्च ज्ञानव्यानि । एवमेकस्मिन् राशौ नवविधा वस्तुजनतयः सम्भवन्ति । कर्मधातवः कर्ममूलानि कर्मजीवाश्च प्रामद्रेकाणगतैर्नवैर्जातव्याः । भोगधातवो भोगमूलानि भोगजीवाश्च द्वितीयद्रेकाणगतैर्दशैर्जातव्याः । विनाशधातवो विनाश-मूलानि विनाशजीवाश्च तृतीयद्रेकाणगतैस्त्रिभिर्नवांशैर्जातव्याः । एवं नवविधानां वस्तुजानीनां विशेषाश्च नवानामपि ग्रहाणां यागेषु-चर्चादिकाशीतिविधा वस्तुजनतयः सम्भवन्त्युः तद्विशेषश्च तात्कालिक-भूतगुणैर्नामात्यद्वक्त्वक्श्रवणानुमेयै राशिगतैर्नक्षत्रगतैश्च कुशाग्रधिया दैवज्ञेन निर्धार्य वक्तव्याः, इत्यादिकमपि वस्तुनिर्देशविधानमत्र सूचितं वेदितव्यम् ॥ ३३ ॥

इति होराविवरणे राशिशीलाध्यायः षोडशः ।

### अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथ ग्रहाणां दृष्टिकलानि प्रदर्शयन्ते । तत्र मेपादिचतुष्कस्थे चन्द्रे कुजाद्यैरेष्टे जातस्य फलविज्ञानार्थं शार्दूलविकीर्तितेनाह —

चन्द्रे भूपबुधौ नृपो नृपगुणः स्तेनोऽधनश्चाजगे  
निःस्वस्तेननृमान्यभूपधनिनः प्रेथ्यः कुजाद्यैर्गवि ।

१. 'यः पुनर्द्वाभ्यां वा', २. 'योः पुनर्द्वाभिर', ३. 'यः पुनश्चतुर्भिर'.  
४ 'यः पुनः पञ्चभिर्घ', क. ५. 'जनवांशैः क्रमेण ज्ञात', ६. 'तेस्त्रिभिर्नवांशैर्द्वा',  
७. 'तैर्दश' क. घ. च. ८. 'ज्ञात्विद्यन्ते ऽ' ९. 'त्रि' क. घ. १०. 'लान्याह-' ख. घ. च.

नृस्येऽयोव्यवहारिपार्थिवबुधाभीतन्तुवायाधनाः

स्वर्क्षे यौधकावज्ञभूमिगतयोऽयोजीविदग्रोगिणौ ॥ १ ॥

इति । चन्द्रे अजगे कृजार्धदृष्टे भूवादयो भवन्तीत्यन्वयः । मेपगे चन्द्रे कुजेन दृष्टे भूपः बुधेन दृष्टे बुधः गुरुणा दृष्टे नृपः शुकेण दृष्टे नृपगुणः शनिना दृष्टे स्तेनः रविणा दृष्टे अधनश्च भवतीत्यर्थः । गतिं वृषभराशिस्थे चन्द्रे कृजार्धदृष्टे निःस्वादयो भवन्ति । वृषभचन्द्रे कुजदृष्टे निःस्वः बुधदृष्टे स्तेनः गुरुदृष्टे नृमान्यः नृभिर्नोर्कैर्माननीयः । शुक्रदृष्टे भूपः शनिदृष्टे धनवान् रविदृष्टे प्रेम्पक्ष भवति । नृस्यं मिथुनराशिस्थे चन्द्रे कृजार्धदृष्टे अयोव्यवहार्यादयः स्युः । मिथुनचन्द्रे कुजदृष्टे अपोव्यवहारी भवति लोहवणिग् भवति बुधदृष्टे पार्थिवः गुरुदृष्टे बुधः शुक्रदृष्टे भूमीः रणनिर्मयः शनिदृष्टे तन्तुवायः सूचिकर्मकुशलः रविदृष्टे अधनः स्वर्क्षे कर्कटकस्थे चन्द्रे कुजदृष्टे यौधः बुधदृष्टे कविः गुरुदृष्टे ज्ञः विद्वान् शुक्रदृष्टे भूभिपतिः शनिदृष्टे अयोजीवी अयसा जीरति । रविदृष्टे द्योगी नन्नरोगवान् ॥ १ ॥

अथ विहादिचतुःकस्य चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे जातस्य स्वस्वराजानं शास्त्रकारिणीहितेनाह-

ज्योतिर्ज्ञाद्वयनरेन्द्रनापितनृपक्षमेशा बुधाद्यैर्हरौ

तद्वद् भूतचमूनैपुणयुताः पष्ठेऽशुभैः स्यात्प्रयः ।

जूके भूपसुवर्णकारवणिजः शंपक्षिते नैकृतिः

कीट युग्मपित नृपश्च रजको व्यङ्गोऽधनो भूपतिः ॥ २ ॥

इति । हरौ चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे ज्योतिर्ज्ञादयो भवन्तीत्यन्वयः । मिहस्थे चन्द्रे बुधदृष्टे ज्योतिर्ज्ञः ज्योतिर्पिको भवति गुरुदृष्टे आद्वयः शुक्रदृष्टे नरन्द्रः शनिदृष्टे नापितः अमश्रुशिक्षानिपुणः रविदृष्टे नृपः राजा कुजदृष्टे क्षमेशः भूपतिः । पष्ठे कन्यायां चन्द्रे स्थिते मति तद्वद् बुधाद्यैरित्यर्थः । कन्यास्थे चन्द्रे बुधदृष्टे भूपः गुरुदृष्टे चमूपः शुक्रदृष्टे नैपुणयुतः कीटपुक्तः सूक्ष्मेक्षिकायुक्तः अशुभैः सौरिसूर्यमौर्मेदृष्टे स्यात्प्रयः स्त्रीजनाश्रया भवन्ति स्त्रीजनाश्रयजीविनो भवन्ति । जूके चन्द्रे स्थिते सति

बुधाद्यैर्दृष्टे भूपादयः स्युः । तौलिचन्द्रे बुधदृष्टे भूपः गुरुदृष्टे सुवर्णकारः  
 शुक्रदृष्टे वणिग् वाणिज्यकर्ता शेषेक्षिते नैकृतिः शेषैस्त्रिभिरपि नैकृतिः  
 कुसृतिकर्षरतः । कीटे चन्द्रे स्थिते मति बुधाद्यैर्दृष्टे युग्मपित्रादयः स्युः ।  
 बुधदृष्टे युग्मपिता पितृद्वययुक्तो भवेदित्यर्थः । गुरुदृष्टे नृपः शुक्रदृष्टे  
 रजकः पत्त्रगञ्जकः शनिदृष्टे व्यङ्गः अङ्गहीनः रविदृष्टे अधनः भौमदृष्टे  
 वृश्चिकचन्द्रे भूपतिर्भवति ॥ २ ॥

अथ चापादिस्थे चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे जातस्य फल शार्दूलविग्रहितेनाह —

ज्ञात्युर्वीशजनाश्रयाश्च तुरगे पापैः सदम्भाः शठा  
 अत्युर्वीशनरेन्द्रपण्डितधनिद्रव्यानभूपा मृगे ।  
 भूपो भूपसमोऽन्यदारनिरतः शेषैश्च कुम्भस्थित  
 हास्यज्ञो नृपतिर्बुधश्च झपगे पापश्च पापेक्षित ॥ ३ ॥

इति । चन्द्रे तुरगे स्थिते बुधाद्यैर्दृष्टे ज्ञात्याश्रयादयः स्युः ।  
 चापचन्द्र बुधदृष्टे ज्ञातीनामाश्रयः, गुरुदृष्टे उर्वीशस्याश्रयः, शुक्रदृष्टे  
 जनस्याश्रयः, पापैर्दृष्टे दम्भयुक्ताः शठा भवन्ति । स्वकार्यैकपरः शठः ।  
 परमार्थतो धर्मकारणस्य भावरहिता अपि वृत्त्यर्थं तल्लिङ्गधारिणः कपट-  
 योगिनो डाम्भिका जायन्त इत्यर्थः । मृगे मकरस्थे चन्द्रे सति बुधा-  
 द्यैर्दृष्टे अत्युर्वीशादयः स्युः । बुधदृष्टे अत्युर्वीशः राजाधिगजः गुरुदृष्टे  
 नरेन्द्रः शुक्रदृष्टे पण्डितः शनिदृष्टे धनी रविदृष्टे द्रव्यपरहितः कुजदृष्टे  
 भूपश्च भवति । चन्द्रे कुम्भे स्थिते बुधाद्यैर्दृष्टे भूपादयः स्युः । कुम्भे  
 चन्द्रे बुधदृष्टे भूपः गुरुदृष्टे भूपसमः शुक्रदृष्टे अन्यदारनिरतः । शेषैश्च  
 भूपादय एव शनिदृष्टे भूपः रविदृष्टे भूपसमः कुजदृष्टे अन्यदारनिरतश्च  
 भवति । झपगे चन्द्रे बुधाद्यैर्दृष्टे हास्यज्ञादयः स्युः । मीनचन्द्रे बुधदृष्टे

१. 'मकरः । की' क; 'मंचरः । की' घ २. 'ष्टे भू' ग. ३. 'ति ॥ २ ॥

ज्ञात्यु' घ च. ४ 'गे चापराज्ञो स्थि': ५. 'स्तु । बु' घ. ६. 'स्येष्ट' क घ.

७. 'ष्टे द्रव्योनः द्रव्य' घ ८. 'स्युः । बु' क घ.

हास्यज्ञः गुरुदृष्टे नृपतिः शुक्रदृष्टे बुधः पार्ष्णीक्षिते पापश्च भवति ।  
एवं चन्द्रस्य प्रदर्शितं प्रतिराशिर्वाक्षणफलं 'शिशिरकरसमागमेक्षणाना-  
मि'त्यादिना पूर्वमेवोक्तत्वाद्दृष्टेष्वपि मेषादिषु यथाक्रमं योजयितव्यम् ।  
ननु —

“अपि सुलकुलजाता मानवा राज्यभाजः  
किमुत नृपकुलोत्थाः प्रोक्तभूपालयोगैः ।  
नृपतिकुलसमुत्थाः पार्थिवा वक्ष्यमाणै-  
र्भवति हि नृपतुल्यस्तेष्वभूपालपुत्रः ॥”

इत्येवंरूपतया पूर्वोक्तेषु राजयोगेषु अप्रदर्शिताः इदानीं चन्द्रस्य लग्नस्य  
वा यत्रकुत्रस्थितानामपि ग्रहाणां दर्शनमात्रेण राजाधिराजादियोगाश्च  
प्रदर्शिताः । कथमेतद् घटते । सत्यम् । साक्षाद्राजयोगाः पूर्व राजयोगा-  
ध्याये प्रदर्शिताः । अत्र तु शिशिरकरसमागमेक्षणादिफलत्वेनोक्तस्य  
राजत्वस्य स्वस्वज्ञातिदेशपुराधिपत्येनापि सम्भवो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

वीक्षणफलस्यापि तारतम्यं पक्ष्यमिति शार्दूलविश्रीडितेनाह —

होरेशर्क्षदलाश्रितैः शुभकरो दृष्टः शशी तद्गत-  
स्त्र्यंशे तत्पतिभिः सुहृद्भवनगैर्वा वीक्षितः शस्यते ।  
यत् प्रोक्तं प्रतिराशि वीक्षणफलं तद् द्वादशांशे स्मृतं  
सूर्याद्यैरवलोकितेऽपि शशिनि ज्ञेयं नवांशेष्वतः ॥ ४ ॥

इति । होरेशर्क्षदलाश्रितैः दृष्टः तद्गतः शशी शुभकर इत्य-  
न्वयः । होरेशो लग्नेशः तस्य ऋक्षदलं राश्यर्धं चन्द्रहोरा आदित्यहोरा  
वा तस्यां होरायां स्थितैर्ग्रहैर्दृष्टः तस्यामेव होरायां स्थितश्चन्द्रः शुभकरः ।  
अन्यथा अशुभकरः । तथा त्र्यंशे स्थितश्चन्द्रः तत्पतिभिः सुहृद्भवन-  
गैर्वाक्षितो वा शस्यते इत्यन्वयः । यस्मिन् द्रेक्षाणे चन्द्रः स्थितः तस्य  
द्रेक्षाणस्याधिपतिना सुहृद्भवनगैरेण वा वीक्षितोऽपि चन्द्रः शुभकर  
इत्यर्थः । अर्थाद् द्रेक्षाणाधिपतिना अदृष्टः अत्रुक्षेत्रगतेन द्रेक्षाणाधिपेन

दृष्टो वा न शुभकर इत्युक्तं भवति । अर्थादेव स्वभवनगतैर्दृष्टः  
शुभफल एव । यत् प्रतिराशि वीक्षणफलमुक्तं तद् द्वादशांशेऽपि स्मृतम् ।  
अतो नशांशेषु शशिनि सूर्याद्यैरवलोकिते च फलं ज्ञेयमित्यन्वयः ।  
फलं वक्ष्यमाणमित्यर्थात् सिद्धयति ॥ ४ ॥

अथ कुजशुक्रनशांशस्थस्य चन्द्रमसोऽर्वादिदृष्टस्य फलं वसन्ततिलकेनाह —

आरक्षको वधरुचिः कुशलो नियुद्धे

भूपोऽर्थवान् कलहकृत् क्षितिजांशस्थे ।

मूर्खान्यदाररतकाव्यविदः सितांशं

सत्काव्यकृत् सुखपरोऽन्यकलत्रगश्च ॥ ५ ॥

इति । शशिनि क्षितिजांशस्थे सूर्याद्यैरवलोकिते सति आरक्ष-  
कादयः स्युरित्यन्वयः । कुजांशस्थे चन्द्रे सूर्येण दृष्टे आरक्षकः रक्षा-  
धिकृतः, कुजेन दृष्टे वधरुचिः, बुधेन दृष्टे नियुद्धे कुशलः, नियुद्धं बाहु-  
युद्धम् । गुरुणा दृष्टे भूपः, शुक्रेण दृष्टे अर्थवान्, मन्देन दृष्टे कलह-  
कृत् भवति । चन्द्रे सितांशे स्थिते सति सूर्येण दृष्टे मूर्खो भवति ।  
कुजेन दृष्टे अन्यदाररतः । बुधदृष्टे काव्यविद् भवति । पाघपिद इति  
केचित् पठन्ति । गुरुणा दृष्टे सत्काव्यकृत् । शुक्रेण दृष्टे सुखपरः ।  
शनिदृष्टे अन्यकलत्रगश्च भवति ॥ ५ ॥

अथ बुधस्व नशांशस्थे चन्द्रे सूर्यादिदृष्टे फलं वसन्ततिलकेनाह —

घौघे तु रङ्गचरचोरकवीन्द्रमन्त्रि-

गेयज्ञशिल्पनिपुणाः शशिनि स्थितेऽंशे ।

स्वांशेऽल्पगात्रधनलुब्धतपस्विमुख्य-

स्त्रीपौष्यकृत्यनिरतःश्च निरीक्ष्यमाणे ॥ ६ ॥

१. 'ति। घ' स. ग. घ. च. २. 'ति। ३३। आर' घ. च. ३. 'स्युः। कु' ग.  
घ. च. ४. 'रो घ' घ. ५. 'दृष्टे बाहुयुद्धे कुशलः'। गु' स. ६. 'वीलन्ययः'। बुजद  
घ. च. ७. 'तु'। गु' ग. घ. ८. 'ति। ५३। घौघे' घ. च. ९. 'दि'। त घ

इति । शशिनि वौधऽशे स्थिते मति सूर्याद्यैर्दृष्टे रङ्गचरादयः  
स्युरित्यन्वयः । बुधांशस्ये चन्द्रे रविदृष्टे रङ्गचरः कुजदृष्टे चोः बुध-  
दृष्टे क्रोः द्रः गुरुदृष्टे मन्त्री शुकदृष्टे भेयज्ञः गान्धर्वज्ञः शनिदृष्टे  
शिल्पनिपुणश्च भवति स्वाशे कर्कटकांशे चन्द्रे सूर्याद्यैर्दृष्टे अल्पगात्रादयः  
स्युः । चन्द्रे कर्कटकांशे रविदृष्टे अल्पगात्रः कुजदृष्टे धनलुब्धः बुध-  
दृष्टे तपस्वी गुरुदृष्टे भूकृषः शुकदृष्टे स्त्रीगोप्यः स्त्रीभिर्भरणीयः । शनि-  
दृष्टे कृत्त्यनिरतश्च भवति । अत्र कश्चित् कुजदृष्टेऽल्पधनः बुधदृष्टे  
लुब्धः गुरुदृष्टे अपस्विपुरुष इति पठन्ति ॥ ६ ॥

अथ रवि, अत्राशले चन्द्र रवि सूर्यादिदृष्ट फलं प्रदर्शयिष्याह —

॥ होधो नरपतिनम्मतो निधीशः

सिंहांशे प्रभुः सुतोऽतिर्हस्तकर्मा ।

जैवेऽशे प्रथितबलो रणो देष्टा

हास्यज्ञः सचिवविक्रामवृद्धशीलाः ॥ ७ ॥

इति । चन्द्रे सिंहांशे मति सूर्याद्यैर्दृष्टे सप्तोधादयः स्युरिति  
सम्बन्धः । सिंहांशस्थे चन्द्रे रविदृष्टे सप्तोधः कुजदृष्टे नरपतिनम्मत्तः  
बुधदृष्टे नि धपतिः गुरुदृष्टे प्रभुः शुकदृष्टे असुतः अपुत्रः शनिदृष्टे  
अविर्हस्तकर्मा च भवति । शशिनि जैवेऽशे स्थिते सति प्रथितबलाः यः  
स्युः । जीवांशस्ये चन्द्रे रविदृष्टे प्रथितबलः कुजदृष्टे रणो देष्टा  
युद्धोपदेशशीलः बुधदृष्टे हास्यज्ञः प्रहसन्तः गुरुदृष्टे सचिवः शुकदृष्टे  
विक्रामः ब्रह्मचर्यरुचिः शनिदृष्टे वृद्धशीलश्च भवति । युद्धशीलः ज्ञान-  
समाचारैः ॥ ७ ।

अथ मृगश्रृङ्गाशले चन्द्र रवि सूर्यादिदृष्ट फलं ज्ञास्यिष्याह —

अल्पागत्यो दुःखितः सत्यपि स्वे

मानास्तुक्तः कर्मणि स्वेऽनुरक्तः ।

१ 'सि ॥ ६ ॥ सप्तो ध च २ 'वाश घ ३ 'शक्र स ग ४ 'ए निधीश  
निधिय', ५ 'वाशे चापाशे शपा १ वा स्थिते सूर्यादृष्टे प्रथितबलः कुज' ॥ ६ 'स्यु-  
रिति सम्बन्धः । जी' क ग च ७ '२. ॥ ७ ॥ अल्पा' घ च

## दुष्टस्त्रीष्टः कृष्णशार्ङ्गिभागे

चन्द्रे भानौ तद्वदिन्द्रादिदृष्टे ॥ ८ ॥

इति । चन्द्रे शार्ङ्गिभागे म्रियते गतिं अल्पाण्युदयः गुरुरिति सम्बन्धः । चन्द्रे मन्दांशस्थे सूर्येण दृष्टे अल्पाण्युदयः कुन्नेन दृष्टे स्वे धने सत्यपि दुःखितः बुधेन दृष्टे भनाक्तः गर्भयुतः गुरुदृष्टे स्वकर्मणि अनुरक्तः शुक्रदृष्टे दुष्टस्त्रीष्टः दृष्टिदृष्टे दृष्टपणश्च भवति । लग्नाशा-  
बुदीयमानस्यांशकस्यापि एवं सूर्यादिग्रहदृष्टेय आरक्षकादिफलं योज्यम् ।  
किन्तु कर्तृद्वारांशकं विना चन्द्रदृष्टिरशुभेति 'उदररविशशङ्के'-  
त्यादिना दशाप्रकरणे 'मेन्द्रकारदपत्तिमे'त्यादिना कर्माजीयप्रकरणे च  
प्रदर्शितम् । सूर्याधिष्ठितराशिगशादपि लग्नचन्द्राधिष्ठितराशिष्वत् फल-  
निरूपणमिदानीं दृष्टिकप्रकरणेऽपि प्रदर्शयति - भानौ तद्वदिन्द्रादिदृष्टे  
इति । भानौ इन्द्रादिदृष्टे तद्वत् फलं वाच्यम् । तद्वदिति यथा चन्द्र  
स्योक्तं तथेति । ततः स्थितिराशसो भानौ इन्द्रादिभिर्दृष्टे आरक्ष-  
कादयः स्युः । कुजांशकस्थे सूर्ये चन्द्रेण दृष्टे आरक्षको भवति इति  
सम्बन्धः । कुजदृष्टे वधरुचिः बुधदृष्टे निगुदुःखलः गुरुदृष्टे भूयः शुक्र-  
दृष्टे अर्थवान् शनैर्दृष्टे फलहन्तु मरिः । एवं सर्वत्र बुधगुरुशुक्रशने-  
श्चासूर्यचन्द्रांशेषु स्थितस्य भानोः दृष्टेस्तत्रमेव चन्द्रस्योक्तानि  
दृष्टि' नि योजितव्यानि । किन्तु कर्तृदृष्टे यत् फलमुक्तं तदेव  
सूर्यस्य चन्द्रदृष्टेऽपि योजनीयं मिति निरूपः । ता अष्टाणां दृष्टिकस्य  
उदयस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य च तुल्यभेदेन दृष्टेयम् । लग्नस्य तु  
चन्द्रदृष्टिकं लग्नमस्वरण चन्द्रस्य भा फलेन तुल्यमिति पृष्ट-  
नोक्तम् ॥ ८ ॥

अत्रात्रामतन्त्रालानां तात्पर्यं उक्तं तल्लिखे-  
॥ ८ ॥

वर्गोत्तमस्वपरगेषु शुभं यदुक्तं

तत्तद्विषयलघुत शुभमुत्तमम् ।

१. 'ति सूर्यादिदृष्टे ध' य. २. 'ध' उय । य' य. ३. 'चन्द्रे' श' कुम्भे ।  
या म्रियते सूर्ये' य. ४. 'नृ' । 'उद' स' य. य. ५. 'म' । तथा तद्व' य. य.  
६. 'सूर्ये' य. ७. 'दृष्टे' । ८. 'ति' य' य. ९. 'स्यमाह' — य. य.

वीर्यान्वितोऽशक्यो निर्णयः पूर्वं

राशीक्षणस्य फलमंशफलं ददाति ॥ ९ ॥

इति । ग्रहाणां यन् शुभं फलमुद्धनं तस्य दशोत्तमस्वरसेषु  
पुष्टाभिलषु । दशोत्तमान्तरगते ग्रहं फलं पुष्टं स्वांगगते मध्यं शून्यग-  
गते फलं लघु अल्पं भातीत्यर्थः । अशुभं फलम् उत्क्रमेण मनति ।  
अशुभं फलं दशोत्तमान्तरगते अल्पं स्वांगगते अशुभफलं मध्यं शून्यग-  
गते अशुभफलं पुष्टम् । वीर्यान्वितः अशक्यः पूर्वं राशीक्षणस्य  
फलं निर्णयः । अशक्यं ददाति इत्यर्थः । वीर्यान्वितः अशक्यः  
वीर्यान् अशक्यः राशीक्षणस्य फलं राशीक्षरे वदवत्यपि नि-  
र्णयः । 'नान्ये ग्रहाः भटजनन्यफलं हिनस्ता'ति न्यायोऽत्र नास्तीति  
यत्तद्विज्ञे निर्णयः । 'यत्तद्विज्ञे'ति । 'यत्तद्विज्ञे'ति । 'यत्तद्विज्ञे'ति ।  
पूर्वोक्तैः प्रकारेण वीर्यान्वितः अशक्यः फलदातृत्वे सिद्धेऽपि  
पुनः कथं राशीक्षणस्य अंशकाधिस्य च वत्साम्येऽपि अंशकाधि-  
पदमेव वक्तव्यमिति ज्ञेयम् । तथा अंशरस्य न्यूनबलत्वेऽपि  
राशीक्षरस्य फलम् अशक्यफलं च तत्तत्स्थेन योजयितव्यमिति  
च ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

इति होराध्यायः । दृष्टव्यः ।

अष्टादशोऽध्यायः ।

मद्विज्ञेति शेषः । राशीक्षणस्य फलं राशीक्षरे वदवत्यपि निर्णयः ।  
भावयोगफलं । अष्टादशोऽध्याये प्रदर्शयते । तत्र प्रथमेऽध्याये प्रदर्शयते ।  
च फलमंशफलं च ।

शूरः स्तब्धो विकलनयनो निर्धृणोऽर्कं तनुस्वे

मेघे सस्वस्तिमिरनयनः भिहसंस्थे निशान्धः ।

नीचेऽधोऽस्वः शशिगृहगते बुद्धुदाक्षः पतङ्गे

भूरिद्रव्यो नृ हतधनो यक्रोगी द्विर्तये ॥ १ ॥

१. 'शरीरं', २. 'तफ' च ३. 'निम' ४. 'शब्दस्य' ५. 'रफ' ६. 'नम',  
७. 'शोऽध्यायः' ८. 'च' ९. 'निम' च १०. 'म' रसेऽपि फलं ददाति । ग. घ. च.



इति । अर्के तनुस्थे शूरः रणनिर्भयः स्तब्धः परैरचाल्यः विकल-  
नयनः नेत्ररोगवान् निर्घृणश्च भवति इति सामान्यफलम् । विशेषफल-  
माह — मेघे सस्वः मेघेऽर्के लग्नस्थे सस्वः सधनः । तिमिरनयनश्च  
भवति तिमिरयुक्तनेत्रः । सिंहस्थे निशान्धः रात्र्यन्धः । नीचे तुलायां  
लग्नस्थेऽर्के अन्धः नयनरहितः अस्वः धनशून्यश्च भवति । पतङ्गे  
शशिपुङ्गवे लग्नस्थे बुद्धबुदाक्षः पुङ्गिताक्ष इत्यर्थः । द्वितीये पतङ्गे भूरि-  
द्रव्यः नृरहतधनः वक्ररोगी च भवति । द्वितीये लग्न द् द्वितीयराशिस्थे  
पतङ्गे इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ लग्नात् तृतीयादिस्थस्यार्केण फलमाप्युक्तदशितेनाह —

मतिविक्रमवास्तृतीयगेऽर्के

विमुखः पीडितमानसश्चतुर्थे ।

असुतो धनवर्जितास्त्रिकोणे

बलवञ्छत्रुजितश्च शत्रुयाते ॥ २ ॥

इति । अर्के तृतीयगे मतिविक्रमवान् भवति । मतिः ज्ञातबुद्धिः  
विक्रमस्त्यतिशक्तिः । अर्के चतुर्थे स्थिते सति विमुखः पीडित-  
मानसश्च भवति सुखरहितः दुःखमहितश्च भवति । त्रिकोणे पथ्यमस्थेऽर्के  
असुतो धनवर्जितश्च असुतः सुखभावयुक्तः उत्पद्य नश्यतीत्यर्थः ।  
अर्के शत्रुयाते बलवान् शत्रुजितश्च भवति शत्रुजितः जितशत्रुर्भवति ।  
आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः । शत्रुजितः इत्युक्त्या अर्को बल-  
हीनश्चेत् शत्रुभिः परिभूयते च इति द्योत्यते ॥ २ ॥

अथ लग्नादिस्थेऽर्के जातस्य फलं वक्ष्यामि एकेनाह —

स्त्रीभिर्गतः परिभवं मदगे पतङ्गे

स्वल्पात्मजो निधनगे विकलेक्षणश्च ।

१. 'मृ' । तत्र वि' घ. २. 'पा' ग. घ. ३. 'रथे लग्ने नि' र. घ. ४. 'न्यः ।  
निर्हाके लग्नस्थे निशान्धः रा' घ. घ. ५. 'हस्थे बु' ग. घ. ६. 'हस्थे ल' घ. ७. 'मर्के  
इ' घ. ८. 'मे' ॥ १ ॥ मति' घ. ९. 'नृ च' घ. १०. 'ते वि' क. घ. घ. ११. 'यः सु' ;  
१२. 'ति पीडितमानसश्च भवति । त्रिः १३. 'तः सु' १४. 'मे' । धनवर्जितश्च ।  
म' १५. 'तः नि' घ. १६. 'ते ॥ २ ॥ स्त्रीभि' घ. घ.

धर्मे सुतार्थमुखभाक् श्रुतशौर्यभाक् खे

लामे प्रभूतधनवान् पतितस्तु रिःके ॥ ३ ॥

इति । पतङ्गे मदगे स्त्रीभिः परिभयं गतः परिभयं प्राप्नोति ।  
अर्के निधनगे स्वल्पात्मजः विकलेक्षणश्च प्वति । धर्मे अर्के सुतार्थ-  
मुखभाक् सुतान् अर्थान् सुतानि च भवते । खे दशमे श्रुतशौर्यभाक्  
श्रुत शस्त्रशरणम् । लामे प्रभूतधनवान् पर्याप्तधनगहिः । रिःके  
तु पतितः कर्मभ्रष्टो भवति ॥ ३ ॥

अथ एतन्नादित्ये चन्द्र जानस्य फल (आर्द्रादिक्रीदितेनाह —

मूकोन्मत्तजडान्धनीचघधिरप्रेष्यः शशाङ्कोदये

स्वर्क्षाजाचगते धनी बहुसुतः सस्वः कुटुम्बी धने ।

हिंस्रो भ्रातृगते सुखे सतनये तत्प्रोक्तभावान्वितो

नैकारिर्मृदुकायशक्तिमदनस्तीक्ष्णोऽलगदचारिणे ॥ ४ ॥

इति । शशाङ्कोदये जातः मूकोन्मत्तजडान्धनीचघधिरप्रेष्यः  
भवति । मूकः वस्तुमशक्तो भवति । उन्मत्तो वा जडः प्रतिवचना-  
शक्तो वा भवति । अन्धः नेत्रहीनो वा स्यात् । नीचः अनुचितकर्मपरः  
स्यात् । घधिरः श्रेत्रहीनः स्यात् । प्रेष्यः मृत्यो वा स्यात् । राशि-  
योगनशाद् विशेषनाह — स्वर्क्षे कर्कटर्के, मेघे उरे वृषभराशौ च स्थिते  
चन्द्रे लग्नगते धनी धनवान् भवति । चन्द्रे धने स्थिते बहुसुतः सस्वः  
धनवान् कुटुम्बी भवति । भवति । भ्रातृगते चन्द्र हिंस्रः  
हिंसाशीलो भवति । सतनये सुखे तत्प्रोक्तभावान्वितः चतुर्थे पञ्चमे च  
तैश्चोक्तमपिरन्वितः चतुर्थे भवनमुपमित्राद्यन्वितः पञ्चमे पुत्रपुद्भि-  
सहित इति यावत् । अरिगे चन्द्रे नैकारिः बहुशत्रुः मृदुकायशक्तिमदनः  
मृदुकायेवाहिः मन्दकायमिः मृदुमदनः मन्दकामश्च तीक्ष्णः तैक्ष्ण्ययुक्तः  
अलगः मन्दः ॥ ४ ॥

१. 'न ग य २ 'क्ष । घ य च ३ 'चन्द्रस्य भावफलान्याह घ । 'चन्द्रस्य  
भावफलान्याह य ४ 'क । उन्मत्त मृ ५ 'स्वर्क्षे कर्कटर्के च क ग य ६. 'गते  
मेघे वृषे य मृ ७ 'क्ष । भ्रा मृ ८ 'तत्प्रोक्त' मृ च ९ 'यागिन मृ य ग.  
, यागिन मन्दकामश्च' य १० 'मृ ११ १२ १३ इत्युं य च

अथ लग्नादिस्थानस्थे चन्द्रमणि जातस्य फलं शार्दूल प्रीतिहेतुनाह —

ईर्ष्युः स्वप्रमदो मदे बहुनतिर्व्याध्यर्दितश्चष्टमे

सौभाग्यात्मजमित्रबन्धुघनभाग् धर्मस्थितं शीतगौ ।

निष्पत्तिं समुपैति धर्मघनार्थशौर्यैर्युतः कर्मणे

ख्यातो भावगुणान्वितो भवगतः क्षुद्रोऽङ्गहीनां व्यये ॥ ५ ॥

इति । मदे च द्वे ईर्ष्युः ईर्ष्याशीलः । स्त्रीप्राद तीषु सकतश्च भवति । तीव्रमद इति वा । अष्टमे चन्द्रे बहुमतिः बहुबुद्धिः व्याध्यर्दितश्च व्याधिर्योडेति च भवति । अतमौ धर्मस्थिते सति सौभाग्यात्मजपेत्रबन्धुघनभाग् भवति । मित्राणि सख्यादयः बन्धवो मातुलादयः । कर्मणे शीतगौ सति धर्मवार्थशौर्यैर्युतः निष्पत्तिं समुपैति परिणतिं प्राप्नोतीत्यर्थः । चन्द्रे मगते ख्यातः भावगुणान्वितश्च एकादशभावोक्तगुणान्वितः व्यये चन्द्रः क्षुद्रः निकृष्टः अङ्गहीनः चक्षुराद्यङ्गविकलः ॥ ५ ॥

अथ लग्नादिस्थे कुजे जातस्य फलं वयन्यतिशेनाह —

कुजे कुजे क्षतनुर्धनगे कदन्नो

धर्मेऽथवान् दिनकरप्रानेमोऽन्यसंस्थः ।

विद्वान् धनी प्रखलपण्डितमन्त्रशत्रु-

नर्मजविश्रुतगुणाः परतोऽर्कवज्जे । ६ ॥

इति । कुजे लग्नगो क्षतनुः निजागन्तुकप्रणयुक्तशरीरः । कुजे धनगे कदन्नः कुत्सितान्नः । कुजे धर्मस्थिते अधवान् दुष्कर्मयुक्तः । अन्यसंस्थः दिनकरप्रतिमः । उक्तान्येषु लग्नधनधर्मेभ्योऽन्येषु भावेषु स्थितः दिनकरप्रतिमः आदित्योक्तसमानफलः । उत्तरार्धेन युधस्य फलमाह — ज्ञे लग्नादिषु स्थिते क्रमेण विद्वदादयः भवन्ति ।

१. 'स्त्रीषु' क घ.; 'स्त्रीम' घ. २. 'ति । म' घ घ. ३. 'व्याधिषो' घ घ. 'दः भ' घ. ५. 'कुजस्य फलान्याह —' घ.; 'कुजस्य फलमाह —' घ. ६. 'सादानः । कु' क ग घ. घ. ७. 'मै' घ घ. ८. 'कादन्ये' घ.

लये बुधे विद्वान् द्वितीये धनी तृतीये प्रबलः चतुर्थे पण्डितः पञ्चमे  
मन्त्री सचिवः षष्ठे अशत्रुः शत्रुरहितः सप्तमे नर्मज्ञः नर्मकुशलः  
अष्टमे विश्रुतगुणः । परतः अर्कमत् परतः नवमदशमैकादशद्वादशेषु  
अर्कयद् आदित्योस्तसमानकृत् ॥ ६ ॥

अथ जीरे लग्नदिस्थे जातस्य कर्ममिन्द्रवज्रवाह —

विद्वान् सुवाक्यः कृपणः सुखी च  
धीमानशत्रुः पितृतोऽधिकश्च ।  
नीचस्तस्वी सधनः मलामः

मलश्च जीवे कपशो विलभात् ॥ ७ ॥

इति । जीरे विलभात् प्रभृति भावेषु स्थितं सति क्रमशो  
विद्वदादयो भवन्ति । जीरे लग्न स्थितं सति जानो विद्वान् भवति ।  
धने सुवाक्यः शोभनवाक्यः । अर्कस्थे कृपणः सद्गुणरहितः निर्दय-  
त्वादियुक्तः । सुग्नस्थे सुखी । धीर्ये धीमान् । शत्रुस्थे अशत्रुः ।  
अजानशत्रुः । मगने पितृतोऽधिकः पितृभ्योऽधिदाः स्वगुले पूर्वजातेभ्यः  
स्वगुणैरधिको भवतीत्यर्थः । अष्टम नीचः अमम्भनः । नवमे टपस्वी ।  
दशमे सधनः । द्वात्रिंशे स्थिते सप्तमः अपरिमितायमाहिरः । द्वाद-  
शस्थे मलश्च लो निम्नः ॥ ७ ॥

गुह्यं कर्मवाह —

सारनिपुणः सुखवांश्च विप्रश्च

त्रियकलहोऽस्तगते सुरतेप्सुः ।

तत्रयगते गुह्यतो भृगुभृते

गुरुवदतोऽन्यगृह सधनोऽन्ये ॥ ८ ॥

इति । भृगुभृते त्रिगो मारनिपुणः कर्मनिपुणो भवति सुख-

१. 'गु' 'ग'. २. 'गुरुवदतोऽन्यगृह'—'य य ३. 'कलहो' 'क' 'ग'. ४. 'य'.  
४. 'गुः' 'ग' 'य'. ५. 'कः' 'य'. ६. 'गते' 'ग' 'य'. ७. 'लामस्थे' 'ग' 'य'. ८.  
८. 'गलो' 'ग' 'य'.

वांश्च भवति । भृगुपुत्रे अस्तगते प्रियकरहः सुरतेप्सुश्च भवति ।  
भृगुपुत्रे तनयगते सुखितः सञ्जातसुखः । अतोऽन्यगृहे गुरुवत् । अन्ये  
द्वादशे सधनश्च भवति ॥ ८ ॥

अथ लग्नादिस्थस्य शने. फलप्रदर्शनार्थं शिखरिणीमाह —

अदृष्टार्थो रोगी मदनवशगोऽत्यन्तमलिनः

शिशुत्वे पीडार्तः सवितृमुतलयेऽत्यलसवाक् ।

गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नृपतिमदृशो ग्रामपुरपः

सुविद्वांश्चार्चङ्गो दिनकरसमोऽन्यत्र कथितः ॥ ९ ॥

इति । सवितृमुतलये ज्ञातः अदृष्टार्थो भवति अदृष्टार्थो नित्य-  
दरिद्रः रोगी मदनवशमश्च भवति । 'अत्यन्तमलिनः अत्यन्तनीचः ।  
शिशुत्वे पीडार्तः शैशवे एव पीडार्तः । अत्यलमवाक् अतिमन्दवचनः ।  
अदृष्टार्थत्वेनात्यन्तमलिनत्वेन च तत्कारत्वं व्यज्यते साक्षादनुक्तिः  
तारतम्यनिरूपणायैति द्रष्टव्यम् । तथा शनेऽनेष्टबलादियोगे सति  
पारत्रिकप्रयोजन इति च अदृष्टार्थज्ञानेन द्योत्यते । तथाच अदृष्टार्थः  
सुसुक्षुरित्यर्थः रोगी रोगोऽपि मोक्षहेतुरित्यर्थः ।

“विशेषेणो भवन् व्यापिर्जिह्वा इव दं शिकः ।

पिपयेषु गिगनाय विषमाक्षे च भक्षये ॥”

मदनवशगः मदनो वशगो यस्य जितेन्द्रिय इत्यर्थः । अत्यन्तमलिनः  
तरोभिः कश्चित् ज्ञः । शिशुत्वे पीडार्तः अत्यलमवाक् साक्षाद्विवादो  
इति । एवं बलिनि जनौ योज्यम् । बलहाने पूर्वोक्तमेव फलं  
वाच्यम् । राशिवशाद् विशेषमाह — सवितृमुते गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे गुरु-  
क्षेत्रयोः स्वक्षेत्रयोरुच्चे च स्थित सति नृपतिमदृशः ग्रामपुरपश्च तथा  
सुविद्वांश्चार्चङ्गश्च बलानास्तम्यवशाद् भवति । अन्यत्र दिनकरसमः  
कथितः लग्नादन्येषु घनादिभाषेषु आदित्योक्तममानफलः ॥ ९ ॥

एवं लज्जादिद्वादशभावेषु प्रहयोगप्रज्ञान् कमानि प्रदर्शयेदानीं तत्र स्थितानां सर्वेषां प्रहाणं कलविशेषप्रदर्शनार्थं माहिलिनामाह —

सुहृदरिपरकीयस्वर्क्षतुङ्गस्थितानां

फलमनुपरिचिन्त्यं लग्नदहादिभावैः ।

समुच्चयविपत्ती सौम्यपापेषु सत्यः

कथयति विपरीनं रिःरूपग्राह्येषु ॥ १० ॥

इति । लग्नः हादिभावंः सुहृदरिपक्षीयस्वार्थतुल्यस्थितानां फल-  
मनुपरिचिन्त्यमिदं न्ययः । लग्नदेहादिभावंः लग्नं देहः तदादिभिः  
धनसहजप्रभृतिः । रैरित्यर्थः । सुहृद् बन्धुः थरिः शत्रुः परकीय उदा-  
सीनः तेषामात्मन्त्यश्च क्षेत्रेषु तुजे च स्थितानां ग्रहाणां फलानां  
यथोक्तं फलम् अनुक्रमेण नश्यमानस्वरूपेण परिचिन्त्यं परितदिचि-  
न्त्यम् । समुपचयविपत्ती मौम्यपापेषु मत्यः कथयति । सत्याचार्यो  
देहादिभावानां समुपचयविपत्ती यदाक्रमं मौम्यपापेषु कथयति ।  
यस्मिन् भावे मौम्यः शुभग्रहः स्थितः तस्य भावस्य वृद्धिः, यत्र  
पापग्रहस्तस्य हानिरिति रिःरयष्टाष्टमेषु त्रिन्तु विपरीतं कथयति  
रिःकणष्टाष्टमेषु स्थितः शुभग्रहो व्ययारिदग्गानां क्रमेण हानिं क-  
रोति । पापग्रहो वृद्धिं करोतीत्यर्थः । लग्नदेहादिभावं रित्यत्र लग्नदेहादि-  
भिर्भावैः यो भावो निरूप्यते तं भावं त्वं कृत्वा तस्य स्वरूपं देहत्वेन  
चिन्तनीयम् । तस्माद् द्वितीयं तस्य भावस्य भनत्वन, तृतीयं सहायत्वेन,  
चतुर्थं अधिकरणत्वेन, पञ्चमं सहायोद्भवकृतत्वेन, षष्ठं तत्साधहेतुत्वेन,  
सप्तमं तत्सहचरत्वेन, अष्टमं तदावृष्टेन, नवमं तद्भाग्यत्वेन, दशमं  
तद्भावारत्वेन, एकादशं तद्भाग्यत्वेन, द्वादश तस्यत्वेन च विचिन्तनीय-  
मित्यर्थः । तद्यथा — न्न धनभावनिरूपणप्रज्ञांलावत प्रदर्शयते —  
धनस्य द्वितीयो रागिर्लभम् अन्यो द्वितीयरागिना धनशरीरं ग्रहयोगेक्ष-  
णाधिपत्यत्वेन पुष्टमध्यकृश्यादिभुक्तं सम्पत्तिं विवृण्व्य वक्तव्यम् । ततो

द्वितीयेन धनस्य धनं धनशरीरपोषको रक्षकवर्गः । ततस्तृतीयेन तत्स-  
हाया अधमधनार्धधनातिरनखरूपाः गोमहिर्पतुरगादयः मणिहिरण्या-  
दयः मित्रक्षेत्रविद्यादयश्च विचिन्तनीयाः । धनशब्देन देहवृत्तिसाधनं  
वस्तु कथ्यते । तच्च शालित्रीहिहितिलमुद्रकापासादि धान्यजातम् । तत्सह-  
चराणि गोमहिर्पजतुरगादिर्जीवधनानि क्षणमद्गुरत्वेन अधमधनानि ।  
तथा मणिहिरण्यादयोऽपि देहवृत्तिसाधनद्रव्यसम्पादनोपकरणत्वेन  
क्षीयमाणत्वादर्थधनानि । तथा मित्रक्षेत्रविद्यादयोऽतिधनानि । यथा  
क्षीरस्य पयो मित्रं निजयोगेन क्षीरवृद्धिं कुरुते क्षयावस्थायां पुनः क्षीर-  
क्षयात् पूर्वमेव संक्षीयते तादृशं मित्रमतिधनमाहुः । क्षेत्रं च प्रतिवर्षं  
धान्योत्पादकत्वाद् अतिधनम् । विद्याधनस्य सर्वधनाधिकृत्यं प्रमिदम् ।

“अधमं जीवधनं स्याद्वनमर्धधनं धनं विदुर्धान्यम् ।  
अतिधनमार्याः प्राहुः क्षेत्रं मित्रं च विद्यां च ॥”

एवं खलु वृद्धा युवते । तथा धनभावाच्चतुर्येन धनस्याधिकरणभूता  
दायादापवरकपेटकादयो वक्तव्याः । तथा धनात् पञ्चमेन धन-  
जनिताः कौशदण्डशब्दादयः । धनात् खलु भण्डारमम्भवः तथा धना-  
देव सैन्धवलब्धिः धनादेव रुत्रोऽपि जायन्ते । तस्मात् तेषां धनजनित-  
तत्त्वम् । तथा धनस्य षष्ठ्यानेन धनस्य परिगन्धिनः प्रमादभोग  
कलत्रनदराजचोरादयो वक्तव्याः । तथा धनात् मत्तमग्न्यानेन धन-  
सहचारिणो अम्पङ्कान्नपानादयो भोगविशेषा वक्तव्याः । धना-  
दष्टमभावेन धनस्यायुर्नृद्धिक्षया वक्तव्यौ तौ च धर्माधर्मनिमित्ताविति  
तद्विशेषोऽष्टमेन निर्देष्टव्यः । तथा नवमेन धनस्य भाग्यभूता आज्ञाभि  
मानोत्साहादयः परिचिन्त्याः । तथा धनाद् दशमेन धनव्यापागभूता  
लार्भविशेषा वक्तव्याः । तथा धनादेकदशभावेन धनस्य त्रिजोत्पद्युप-  
कारिणां कर्मकरवेतनहर्षणपानमेव न निर्गर्गरवृत्तिद्रव्यविशेषणां  
स्वरूपाणि वक्तव्यानि । तथा धनाद् द्वादशभावेन धनरतो जन्म-

१. 'पादयो' क. ग. घ. च. २. 'पारीणि' घ. ३. 'तादृश' ग. घ. ४. 'ध-  
नल' घ. ५. 'स्य व' घ. ६. 'मादयो व' क. ७. 'क्षेत्रं घ' घ. क.

लभ्येन धनस्य व्ययः शुक्तिविरक्तिजनिः परिचिन्तनीयः । एवं  
धनभास्य लभ्यतेन परिकल्पितस्य तन्नादिभिर्वादशभिर्देहादिसवरूप-  
मार्गैर्लभ्येदेहादिभ्यः सुहृदरिरसीयस्वर्जतुल्यभितानां ग्रहाणां फलानि  
प्राप्तिरूप्य जन्मिनो धन-व्ययं वद-व्यम् ॥ नन्विदानीं धनं प्रति  
बहुविधा विज्ञेयाः प्रदर्शिताः । धनरहिताश्च बहुधा जना दृश्यन्ते । तेषां  
कश्चिद् धनलक्षणकथनं चटने । मन्द ! मैत्रम् । घटत एवैतत् । कथमिति  
चेद् जन्मिनः पुनरप्यत्रै तानकृद्धानं निरूप्यते । तस्य लग्नार्थिग्रह-  
स्वित्तिरिति । धनरहितस्य वा धनरहितं वा तस्यैव आयव्ययकरणेन  
विनिश्चित्य धनरहितस्यैव चेद् एतानि लक्षणानि योजयितव्यानि ।  
आयव्ययकरणं चोक्तमुपामदेधरमयादे —

“सर्वेषां व रतागानि विरगमनरागाः कृभागत्रिमास-  
ध-द्रव्यादोदयधादिषु बलरगतः स्वर्धमस्तुवायशाथ ।

मन्विष्यन्तु कर्मभागे प्रियमिति पृथक् स्वेष्ट्यलित्ताइतं तत्  
स्वदृष्ट्यानाभिमुक्तिरूपपरिमितयः सम्मोपुर्ग्राणम् ॥”

इति । एषमुक्तप्रकारेण आयव्ययकरणेन सर्वेषामपि भावानां सम्मो-  
त्तमवप्रमाणानि शुक्ललक्षितः सम्प्रदायनिष्ठः दैवज्ञैः तस्यगारा  
वित्त्यर्थदेवानुग्रहाननुग्रहप्रतिमाप्रभावेरवयोद्धव्यानि ॥ १० ॥

निर्देशेषु शुभाशुभेषु गतस्यैवमेवमाह —

स्वेष्ट्यत्रिंशणवसुहृच्छत्रुनीचगृहार्कगैः ।

शुभं सम्पूर्णपादोनदलपादात्पनिष्कलम् ॥ ११ ॥

इति । स्वोक्ते शुभं सम्पूर्णम् अशुभं निष्कलं, स्वप्रितोणे  
पादोनं शुभम् अशुभं पादमात्रं, स्वोक्ते शुभमशुभं चाप्ये, सुहृद्धे शुभं  
पादमात्रम् अशुभं पादवित्तय, शत्रुद्धे शुभमशुभम् अशुभमशुभं, नीच-  
द्धे मोक्षे वा शुभं निष्कलम् अशुभं सम्पूर्णम् इत्युक्तप्रमाणेन शुभकला-  
नामशुभकलानां वा पौष्ट्यस्य वैरस्य वा लक्षणमित्यर्थः । एव योग  
फलेषु गगनक्षेत्रेषु दृष्टिष्वप्यु वा ग्रहाणां योगविशेषादिनिमित्त



स्तारतम्यक्रमोऽनुगन्धेयः । भावफलैषु तु ग्रहाणां स्वोचादिनिमित्तः  
 तात्कालिकभावांशकनिमित्तश्च तारतम्यक्रमो विचिन्तनीयः । भाव-  
 स्थितिनिमित्तं फलं हि भावफलम् । भावाश्च द्वादशापि द्वादशसु राशिषु  
 जननकालोदीयमानांशकमङ्गुलारामानमङ्गुले अंशके वर्तन्ते । तस्मात्  
 पूर्वं पञ्चदशे भागे भावारम्भः तस्योपरितने पञ्चदशे भागे भाव-  
 विरामः । एवं सति राशिनष्ट्यादन्यत्र भावा राशिद्वयसम्बन्धिनो  
 वर्तेरन् । तस्माद् भावास्मत्काले ग्रहाणां भावफलारम्भः । ग्रहाणां भाव-  
 समांशकत्वे भावफलं सम्पूर्णम् । तस्माद्भासक्रमेण भावावसने ग्रहाणां  
 भावफलाभावः । तथोक्तं श्रीपतिना —

“वदन्ति भावक्यदलं हि राश्वि  
 तत्र स्थितः स्यादफलो ग्रहेन्द्रः ।  
 भावप्रवृत्तौ हि फलप्रवृत्तिः  
 पूर्णं फलं भावसमांशकेषु ॥  
 हासक्रमेण भावविरामकाले  
 फलस्य नाशः कथितो शुनीन्द्रैः ”

इति । एवं भावादौ भावमध्ये भावान्तं च तदन्तरालयोश्च भाव-  
 फलानां तारतम्यं वेदितव्यम् इति । अनुक्तमपि युक्तिवशादवगम्यत इत्या-  
 चार्षेण ग्रन्थबहुल्यभयान्नोक्तम् ॥ ११ ॥

इति होराविवरणे भावाध्यायोऽष्टादशः ॥ १८ ॥

अथ एकेनविंशोऽध्यायः ।

अथ ग्रहाणां युद्धान्त्योपकथन्याद । तत्र प्रथमे राशिफलेषु यत्कस्येपु केवलं मेपा-  
 दिराशिफलानां पूर्वं ‘वृक्षाणाग्रदग्नि’त्यादिभिः प्रदर्शितत्वादिद्वानां स्वक्षेत्रत्वादिगुण-  
 विशिष्टराशिफलानि प्रदर्शयन्ते —

कुलसमकुलमुख्यघन्धुपूज्या

घनिसुखिभोगिनृपाः स्वभैकवृद्धया ।

१. ‘नवांश’ ग घ. २. ‘अ द्वादशसु’ घ. ३. ‘व’ ग. घ. ४. ‘ने क. ए  
 दशोऽध्यायः ॥ १८ ॥’ घ.

परविभवसुहृत्स्वबन्धुपौष्या

गणपतिलेशनृपाश्च मित्रभेषु ॥ १ ॥

इति । स्वभैरवद्वया कुलममकुलमुख्यबन्धुपूज्या धनिसुखि-  
भोगिनृपाः जायन्ते इत्यन्वयः । स्वभैरवद्वया स्वमानामेकैरद्वया  
कुलसमादयः स्युः । एतेन ग्रहण स्वक्षेत्रस्थन जातः कुलममो भवति ।  
द्वाभ्यां कुलमुख्यः त्रिभिर्बन्धुपूज्यः चतुर्भिर्धनी पञ्चभिः सुखी षड्भिः  
स्वक्षेत्रस्थैः भोगी भोगयुक्ता जायते । सप्तभिरपि ग्रहैः स्वक्षेत्रस्थैः  
नृपो जायत इत्यर्थः । तत्र मित्रभेषु क्रमण परविभवसुहृत्स्वबन्धुपौष्याः  
गणपतिलेशनृपाश्च भवन्ति । एतेन ग्रहेण मित्रक्षेत्रगतेन परविभवपौष्यः  
परस्य विभवेन पोषणीयः । द्वाभ्यां मित्रगृहस्याभ्यां सुहृत्पौष्यः सौहार्द-  
युक्तेन येननेनचित्पौष्य इत्यर्थः । त्रिभिः स्वेन आत्मीयेन पोष्यो  
भवति । आत्मात्मीयज्ञातिधनराची स्वशब्दः । चतुर्भिर्बन्धुपौष्यो  
भवति बन्धुभिर्मितुलादिभिः पोष्यः । पञ्चभिर्गणानां पतिः । षड्भि-  
र्षलेशः सेनापतिः । सप्तभिर्ग्रहरपि बन्धुक्षेत्रगतैर्नृपा भवतीत्यर्थः । अत्रो-  
भयत्रापि एतेन स्वक्षेत्रगतेन कुलसमः द्वाभ्यां कुलसमः कुलमुख्यश्च  
त्रिभिः कुलसमः कुलमुख्यः बन्धुपूज्यश्च इत्यादि, तथा एकेन बन्धु-  
क्षेत्रगतेन परविभवपौष्यः द्वाभ्यां परविभवपौष्यः सुहृत्पौष्यश्च इत्यादि  
केचित् पठन्ति ॥ १ ॥

स्वोदशास्त्रेणापि षड् मासि-वाह —

जनयति नृपमेकोऽप्युच्चगो मित्रदृष्टः

प्रचुलधनसमेतं मित्रयोगाच्च सिद्धम् ।

विवसुविषुसमृद्धव्याधिता बन्धुतसा

वधदुरितसमेताः शत्रुनिस्त्रक्षणेभ्यु ॥ २ ॥

इति । एकोऽपि ग्रहः उच्चगः परमोच्चगतः मित्रदृष्टः नृपं जन-  
यति । अपीति सम्भाषनायाम् । उच्चगतेषु वक्रादिषु ग्रहेषु लग्नस्य  
नियतत्वे सति पूर्वं राज्यागताः प्रदर्शिताः । इदानीमुच्चगतैर्ग्रहस्य लग्नस्य

चानियतत्वेऽपि मित्रदृष्टत्वेन कदाचिद् राजा भवेद् इत्यपिशब्देन  
 द्योत्यते । मित्रयोगात् प्रचुरधनसमेतं जनयति । अथवा उच्चर्ग एकोऽपि  
 ॥६॥ मित्रदृष्टः प्रचुरधनसमेतं नृपं जनयति । तथा मित्रयोगार्चं प्रचुर-  
 धनसमेतं नृपं जनयतीति सम्बन्धः । सिद्धमिति प्रसिद्धं बहुषु शास्त्रेषु  
 प्रसिद्धमित्यर्थः । अत्र केचित् मित्रयोगात् सिद्धं नृपं कस्यापि मित्रभूतस्य  
 पुरुषस्य योगाद् योगै उपायैः सिद्धं साधितं राजानं जनयति इति  
 योजयन्ति । तथा शत्रुनिर्झर्षणेषु विजयविजयमूढ-याधिताः बन्धुतप्ताः  
 वधदुरितसमेता भवन्ति । एकेन ग्रहेण शत्रुनीचर्षणतेन विजयः धन-  
 रहितो भवति द्वाभ्यां विजयः त्रिभिः शत्रुनीचर्षणैर्मूढ इति कर्तव्यता-  
 रहितः चतुर्भिर्व्याधितः पञ्चभिर्वन्धुतप्तः बन्धुविषयपरितापयुक्तः  
 षड्भिः वधसमेतः तादनादिमाजनभूतः सप्तभिर्ग्रहेः शत्रुगृहस्थैर्नीच-  
 गृहस्थैर्वा जाता दुरितसमेता महापातकयुक्ता भवन्ति ॥ २ ॥

अथ कुम्भलग्नजातस्याशुभफलप्रदर्शनार्थमुपजातिपामाह —

न कुम्भलग्नं शुभमाह सत्यां

न भागभेदाद् यवना वदन्ति ।

कस्यांशभेदां न तथास्ति राशे-

रतिप्रसङ्गस्त्विति विष्णुगुप्तः ॥ ३ ॥

इति । सत्यः कुम्भलग्नं न शुभमाह कुम्भस्य रिक्तकुम्भधरत्वाद्  
 दुःसत्स्वरूपस्य मृत्युकारकस्य मन्दस्य मूलक्षेत्रत्वाच्च । तथा कल्पादौ  
 मीनान्तपस्थितेषु सर्वेषु ग्रहेषु मीनान्त्यलग्रराश्यष्टकवर्गस्य शोधन-  
 कर्मणि शोष्यैकाक्षशालित्वाच्च कुम्भलग्नमशुभमिति सत्याचार्यो वदति ।  
 तत्र पक्षान्तरमाह — यवनास्तथा न वदन्ति किन्तु भागभेदाद् वदन्ति  
 कुम्भद्वादशांशो न शुभ इति वदन्ति च अतः कुम्भद्वादशांशो लग्नगत-  
 क्षेत्रं शुभ इति यवनानां मतम् । विष्णुगुप्तस्य मतमाह । यथा —

१. 'गतः ए' ग. २. 'अ इति' क. ३. 'गाः' ४. 'या', ५. 'भिर्मु' ;  
 ६. 'न्ति ॥ २ ॥ न कु' घ. घ. ७. 'य' घ. ८. 'अस' घ. ग. घ.

कस्य राशेरंशभेदो नास्ति सर्वथापि राशौ कुम्भद्वादशांशकं सम्भवती-  
त्यर्थः । तथा अतिग्रमङ्गः सर्वेषां राशीनां कुम्भाख्यां डादशांशो वर्ज्यः  
स्याद् इति यवनमतस्य प्रतिग्रहङ्गः ख्यो दोषोऽस्ति अतः सत्याचार्यपक्ष  
एव श्रेयान् इति विष्णुमुक्तः ॥ ३ ॥

इति ग्रहाणां राशियोगफलान्युपस्था होरायोगफलं चमन्त इत्येवेनाह —

यातेष्वसत्त्वसमभेषु दिनेशहोरां

ख्यातो महोद्यमबलार्थयुतोऽतितेजाः ।

चान्द्रीं शुभेषु युजि मार्दवकान्तिसौख्य-

सौम्यधीमधुरवाक्ययुतैः प्रजातैः ॥ ४ ॥

इति । अमरसु असमभेषु दिनेशहोरां यातेषु जातः ख्यातः  
महोद्यमबलार्थयुतः अतितेजाश्च भवतीत्यन्वयः । अमरसु अर्ककुत्रमन्देषु  
असमभेषु मेपमिथुनाद्योजराशिषु तथा शुभेषु युजि चान्द्रीं होरां यातेषु  
प्रजातैः मार्दवकान्तिसौख्यसांभोग्यधीमधुरवाक्ययुतैः भवति । शुभेषु  
चन्द्रबुधगुरुशुक्रेषु । युजि वृषभकुलीरादिषु युग्मराशिषु ॥ ४ ॥

युगपि होरागतफलमिन्द्रवज्रवाह —

तास्वेव होरास्वपरर्क्षगामु

ज्ञेया नराः पूर्वगुणेषु मध्याः ।

व्यत्यस्तहोराभवनस्थितेषु

मर्त्या भवन्त्युक्तगुणैर्विहीनाः ॥ ५ ॥

इति । अपरर्क्षगामु तास्वेव होरासु जाताः पूर्वगुणेषु मध्याः  
ज्ञेयाः । अपरर्क्षगामु योजराशिषु चन्द्रहोरां गतेषु अथवा युग्मराशिषु  
सूर्यहोरां गतेषु शुभेष्वशुभेषु वा ज्ञाना इत्यर्थः । शुभेषु अशुभेषु च  
व्यत्यस्तहोराभवनस्थितेषु जाता मर्त्या उक्तगुणैर्विहीना भवन्तीत्यन्वयः ।

१. 'तः' क. २. 'लम' ह — घ. च. ३. 'भोगसौ' ४, ५. ६. 'ताः' क.  
७. 'भोगसौ' घ. च. ८. 'ताः' ९. 'न्ति' क. घ. च. १०. 'यु ॥ ४ ॥ तास्वेव';  
११, १२. 'राग' घ. च.

व्यत्यस्तहोराभवनस्थितेषु ओजराशौ सूर्यहोरां गतेषु शुभेषु युग्मराशौ  
चन्द्रहोरां गतेषु पापेषु इत्यर्थः ॥ ५ ॥

द्रेकाणफलं<sup>१</sup> वसन्ततिलकेनाह —

कल्याणरूपगुणमात्मसुहृद्द्रगाणे

चन्द्रोऽन्यगस्तदधिनाथगुणं करोति ।

व्यालोद्यदायुधचतुश्चरणाण्डजेषु

तीक्ष्णोऽतिहिंस्रगुरुतत्परतोऽटनश्च ॥ ६ ॥

इति । आत्मसुहृद्द्रगाणे स्थितश्चन्द्रः कल्याणरूपगुणं करोति  
आत्मद्रेकाणे सुहृद्द्रेकाणे च स्थितश्चन्द्रः कल्याणरूपगुणं करोति ।  
अन्यग उदासीनः शत्रुद्रेकाणमतः । तदधिनाथगुणं द्रेकाणनाथसदृश-  
गुणं द्रेकाणनाथ उदासीनश्चेन्मध्यमरूपगुणं करोति शत्रुश्चेद् रूपगुणहीनं  
करोति । तथा व्यालोद्यदायुधचतुश्चरणाण्डजेषु द्रेकाणेषु स्थिते चन्द्रे  
जातः क्रमेण तीक्ष्णः अतिहिंस्रः गुरुतत्परतः अटनश्च भवति । सर्प-  
द्रेकाणस्ये (चन्द्रे) जातः तीक्ष्णो भवति उद्यदायुधद्रेकाणस्ये चन्द्रे जातः  
अतिहिंस्रः, चतुष्पाद्द्रेकाणस्ये गुरुतत्परतः, पक्षिद्रेकाणस्ये अटनश्च  
भवति इति चन्द्रस्य द्रेकाणफलमुक्तम् । पूर्वोक्तातिदेशेन लग्नद्रेकाण-  
फलमपि एवमिति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

अथ नवोत्तराफलं<sup>२</sup> शालिन्याह —

स्तेनो भोक्ता पण्डिताल्पौ नरेन्द्रः

क्लीबः शूरो विष्टिकृद् दामवृत्तिः ।

पापो हिंस्रोऽमीश्च वर्गोत्तमांशे-

प्रेषामांशा राशिवद् द्वादशांशे ॥ ७ ॥

इति । मेषादिनवांशस्थिते चन्द्रे स्तेनादयो भवन्ति । मेषांशे  
स्तेनः वृषमांशे भोगशीलः मिथुनांशे पण्डितः कुलीरांशे आट्यः

१, २. 'राग' घ. च. ३. 'जमाह —' घ. ४. 'रससुहृद्द्रगाणे स्थि' घ. ५.  
'वन्तुद्रे' क. ग. च. ६. 'ता' घ. च. ७. 'जे जा' क. ग. घ. ; 'जजा' घ. ८. 'दृ' :  
ड' घ. च. ९. 'जे' घ. १०. 'न्द्रे म' ; ११. 'स्थे चन्द्रे म' घ. १२. 'न्द्रे' घ. च.  
१३. 'म् ॥ ६ घ न' ; १४. 'जमाह —' घ. च.

मिःशे नोदः कन्यशे क्लीरः पण्डः नुशंते शूः वृश्किशे विष्टि-  
कृद् पावाही चाराशे दावृत्तः दान्यन वृत्ति करति मारशे  
पापः कुम्माशे हिंस्रः हिमनशीर मोनांते जनीथ शूः । अधीरिति  
वा पाठः । वर्णितमांशेषु एवामीश भवन्ति । भेषे वर्णितमांशे चोग-  
धितः । वृषभे वर्णितमांशे भागिनां ग्रानो भवतीत्यादि । द्वादशांश-  
फलमाह — राशिषद् द्वादशाशे इति । द्वादशांशे राशिषद् राशीनां  
पूर्वपु कपेर फलं वक्तव्यम् ॥ ७ ॥

अथ औमयोरयोः स्वर्गिशांशस्ययोः फलं वसन्तविश्वेनाह—

जायान्विता वरुचिभूषणसस्त्रयुक्त-

स्तेजोतिसाहसयुतश्च कुजे स्वभागे ।

रोगी मृतस्त्रयुवतिर्विषमोऽन्यदागे

दुःखी परिच्छदयुतो मलिनोऽर्कपुत्रे ॥ ८ ॥

इति । कुजे स्वभागे स्वर्गिशांशे स्थिते मति जायान्वितो भवति  
मलविभूषणसस्त्रयुक्तश्च । तेजायुतः अतिसाहसयुक्तः अत्युत्पा-  
संपन्नः । अर्कपुत्रे स्वर्गिशांशे स्थिते रोगी मृतस्त्रयुगलः मृतस्वभार्यः  
विषमः विषमशीलः अन्यदागः परदारिकः दुःखी परिच्छदयुः सर्वो-  
पकरणयुक्तः, मलिनश्च भवति ॥ ८ ॥

अथ जौरपुषयो स्वर्गिशांशस्ययोर्जांशस्य फलं वसन्तविश्वेनाह—

स्वांशे गुगं धनयशस्सुखबुद्धियुक्त-

स्तजस्विपूज्यनि<sup>(१)</sup>रुगुद्यमभोगवांश्च ।

भेदाकलाक टकाच्चविदादशित्य-

श स र्थमाहम्युतः शाशजऽन्मिन्यः ॥ ९ ॥

इति । गगौ स्वांशे स्वर्गिशांशस्य धनयशःसुखबुद्धियुक्तः

१. 'रः' य य य > 'रि' र ता ग २. 'विदा' विदादशित्य— घ. य.  
३ 'ते' स्थ घ. ५. 'सम्ये' री . य य ९. 'परद' रगः दुः' ग ७ 'ति' ॥ ८ ॥  
म्य'शे घ. घ.

धनेन यशसा सुखेन बुद्ध्या च युक्तैः, तेजसिपूज्य-रिगुद्यमभोग-  
वांश्च तेजस्वी च पूज्यश्च निष्कृ निरामयः उद्यमभोगवांश्च उद्यमवान्  
म गमांश्च भवति । शशिरे सावित्रिशशये मेघाकलाकपटकाव्यविवाद-  
शिल्पशास्त्रार्थसाध्ययुतः मेघगः कलाकपटकाव्यविवादशिल्पैश्च शिल्प-  
कौशरं कलाशिल्पेन कपटशिल्पेन काव्यशिल्पेन विवादशिल्पेन च-  
शास्त्रार्थैः साहमेन च युता भवति । अतिमान्यश्च भवति ॥ ९ ॥

अथ शुक्रे स्वर्गशांशस्ये (च ?) आदित्यचन्द्रयोः भौमाद्विर्गशांशस्ये ? स्थितौ च) —

स्वत्रिंशंशे बहुषुतसुम्नारोग्यभार्यार्थयुक्तः

शुक्रे तीक्ष्णः सुललिततनुर्विप्रकर्णोन्द्रियश्च ।

शूरस्तब्धौ विषमवधकौ सद्गुणाख्यां मुखिजौ

चार्वाङ्ग्यै रविशशियुतेष्वारपूर्वाशकेषु ॥ १० ॥

इति । शुक्र त्रिंशदंश स्थिते बहुसुतसुखारोग्यभार्यायुक्ते भवति । तीक्ष्णः आशुहार्पकरः सुखलिनतनुः सौन्दर्ययुक्तः विप्रकीर्णैन्द्रियः इतन्ततो विप्रकीर्णमाणेन्द्रियः सर्वत्र तृष्णाचार्थल्ययुक्त इत्यर्थः । रविशशयुक्तेषु आरपूर्वाशकेषु शून्तव्यमदयो भवन्ति । मीमंशिकं रवियुक्ते शूरो भवति । तत्र चन्द्रयुक्ते स्तब्धो भवति । मन्दत्रिंशदंशक रवियुक्ते विपमो भानि अनुभवंति । तत्र चन्द्रयुक्ते वधको भानि ताडनादिरतो भानि । गुरुत्रिंशदंशके रवियुक्ते मद्गणः चन्द्रयुक्तो आर्यः । बुधत्रिंशदंशके रवियुक्ते सुखी चन्द्रयुक्ते ज्ञः । शुक्रत्रिंशदंशके रवियुक्ते चार्थज्ञः चन्द्रयुक्ते इष्टः लोकप्रियो भवति ॥ १० ॥

इति दोराविवर्ण आश्रयसंज्ञकः विशोऽध्यायः ॥

१. 'कः' मेजः 'यौ' च' च २ 'मात्रयः' स्युः 'मे' घ. ३. नि ॥ १ पाय, प्रिदिशि  
बहु' घ. घ. ४. सुटे कान्तः सुं, ५ 'नुसुप्र' य. ६ 'दाये' रुति घ घा; दाये  
ब' घ. ७. ति । वाग्नः मनोदृ' । सुं; ८. 'प' म ९. 'भीमप्रिदासके' चाम्रदुधे  
स' घ. घ. १०. 'यप्र' मं क. ग. घ. घ. ११. 'ले' घ' घ.

अथ विंशोऽध्यायः ।

अथ प्रकीर्णकाध्यायो व्याख्यायते । अप्रकृतानि प्रकृतोपयोगीनि लक्षणानि प्रकी-  
र्णकान्मुद्रयन्ते । तत्र प्रथमे यथोक्तलक्षणकर्तृणां ग्रहाणां परस्परसहायत्वस्य लक्षणमाह —

स्वर्क्षतुङ्गमूलत्रिकोणगाः

कण्टकेषु यावन्त आस्थिताः ।

सर्वे एव तेऽन्योन्यकारकाः

कर्मगस्तु तेषां विशेषतः ॥ १ ॥

इति । कण्टकेषु स्वर्क्षतुङ्गमूलत्रिकोणगाः यावन्त आस्थिताः  
ते सर्वे एव अन्योन्यकारका भवन्तीत्यन्वयः । कण्टकेषु जन्मलग्नकेन्द्रे-  
ष्विति यावत् । तत्रापि तेषां कर्मगः विशेषतः कारकौ भवति ॥ १ ॥

अत्रोदाहरणार्थं स्थोदृतमाह —

कर्कटादयगते यथोद्भवे

स्वोच्चगाः कुजयमार्कसूरयः ।

कारका निगदिताः परस्परं

लग्नगस्य सकलोऽम्बराम्बुगः ॥ २ ॥

इति । यथा उद्भवे कर्कटादयगते स्वोच्चगाः कुजयमार्कसूरयः  
परस्परं कारका भवन्तीत्यन्वयः । तत्र स्वर्क्षे लग्नगतश्चन्द्रः उच्चगतौ  
गुरुश्च तथा तुङ्गस्थो मन्दः सौलगतः ते परस्परं कारका भवन्ति तथा  
तुङ्गस्था भौमः सप्तमगतः तदापि सर्वे परस्परं कारकाः यदा तुङ्गस्थो  
रविः दशमे च तदापि सर्वे परस्परं कारकाः । लग्नगौ गुरुचन्द्रावपि  
परस्परं कारका । अत्र कुजयमार्कसूरिचन्द्रेषु परस्परं कारकेषु सत्सु गुरु-  
चन्द्रयोः दशमगतः सूर्यो विशेषात् कारकः । तथा सूर्यस्य स्वस्माद् दश-  
मस्थः स्वतुङ्गस्थो भौमोऽपि विशेषात् कारकः तथा भौमस्य मन्दः  
मन्दस्य गुरुचन्द्रौ एवं लग्नवशात् स्वाधिष्ठितराशिः च च लग्नकेन्द्रस्थानां  
ग्रहाणां परस्परं कारकत्वं भवति । कारकत्वं न म उपकारकत्वम् ।



‘स्वां स्वां दशमुपगताः स्वफलप्रदाः स्युः’ इत्युक्तस्य नियमस्यायमपवादः ।  
तथाहि — सू-स्य गुरुं प्रति कारकत्वे सूर्यदशकालोऽपि गुरोः फलानि  
गुणानि स्वभ्यस्तुले भवन्त । एवं सर्वेषामपि द्रष्टव्यम् । स्वर्क्षतुङ्गमू-  
त्रिकेषामपि विचारि कारकत्वं चतुर्थपादेन दर्शयति — लग्नस्य  
सहयोगोऽम्बराम्बुग इति । लग्नस्य ग्रहस्य दशमस्थानगतश्चतुर्थस्थान-  
गतश्च ग्रहः स्वक्षादिगतत्वगदितोऽपि कारको भवति । लग्नगतस्येति  
वचनं तु परस्परकारकत्वमत्र नेष्यते ॥ २ ॥

पुनरपि कारकत्वविशेषमाह —

स्वत्रिभोणाच्चगां हेतुरन्यस्य यदि कर्मणः ।

सुहृत् तद्गुणसम्पन्नः कारकश्चापि स स्मृतः ॥ ३ ॥

इति । स्वत्रिभोणोच्चगाः हेतुः हतशब्देनात्र कारकत्वव्याप्यत्वं  
विधिलितं, स्वत्रिकाणाच्चगाः ग्रहः लग्नहेन्द्रगतत्वे कारकत्वयोग्यः सन्  
लग्नान्द्रादयश्च स्थितस्य कर्मणो यदि भवति सुहृत् तद्गुणसम्पन्नः  
सुहृद्गुणसम्पन्नः अतिबन्धुतां प्राप्त इति यावत् । सोऽपि तस्य स्व-  
स्य चतुर्थे स्थितस्य कारको भवति । अत्रापि परस्परकारकत्वं नेष्यते  
किं तु अन्यस्य कर्मण इत्युक्त्या सर्वेषां ग्रहाणां दशमगतस्य ग्रहस्य  
य. धु. च चलवत्त्वे च सति कारकत्वं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

पुनरन्यलक्षणमाह —

शुभं वर्गोत्तमे जन्म वेमिस्थाने च सद्ग्रहे ।

अशून्येषु च केन्द्रेषु कारकाख्यग्रहेषु च ॥ ४ ॥

इति । वर्गोत्तमे जन्म शुभं ग्रहाणां लग्नस्य च अंशकेषु वर्गोत्त-  
मेषु सत्सु जन्म शुभम् । वेमिस्थाने सद्ग्रहे च दिनकरश्च द्वितीयराशौ  
सद्ग्रहश्च सति जन्म शुभम् । अत्र वेमिग्रहणं वासुभयैचयैरप्यु-  
पलक्ष्यम् । केन्द्रेषु अशून्येषु च सत्सु जन्म शुभम् । कारकाख्यग्रहेषु  
च केन्द्राण्यशून्यस्य सति कारकाख्यग्रहाश्च सन्ति चेच्छुभतरं जन्मे-  
त्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

पुनरपि केन्द्रस्थेषु विशेषं ज्ञेयतायेनाह—

मध्य वयसः सुखप्रदाः केन्द्रस्था गुरुजन्मलग्नाः ।

पृष्ठोभयकोदयक्षणाः स्व न्त्यान्तःप्रथमेषु पाकदाः ॥ ५ ॥

इति । केन्द्रस्थाः गुरुजन्मलग्नाः वयसो मध्ये सुखप्रदा भवन्ति । गुरुजन्मराशिरिति शिवाधिपतिश्च केन्द्रस्थिताश्चेद् वयसो मध्ये यौवनकाले शुभप्रदा भवन्ति । अत्र यवनेश्वरः—

“जन्माधिशो लग्नपतिश्च येषां चतुष्टये स्याद् बलवान् गुरुश्च ।

चतुर्षु होरादिषु सङ्गताश्च चतुष्टयं कालफलं प्रदद्यात् ॥”

उदयरविशशाङ्कति सामान्येनोक्तस्य फलदानस्यायं विशेषविधिः । पृष्ठोभयकोदयक्षणाः ग्रहाः स्वान्त्यान्तःप्रथमेषु पाकदा भवन्ति पृष्ठोदयरशिगतः ग्रहाः त्रिधा विभक्तायाः स्वदशाया अनत्यत्रिभागे फलदा भवन्ति शुभम्याशुभस्य वा फलस्य दातारो भवन्ति । उभयोदयस्थिताः ग्रहाः मध्यत्रभागे फलदातारः । शीर्षोदयस्था ग्रहाः पूर्वत्रिभाग दशप्रवेशे फलदातारो भवन्ति । एषां पृष्ठोदयादिस्थितिर्दशारम्भकाले चारवशाज्जापि संवादार्थं विचिन्तनीया । तथाच मार्गिः—

“आ(यन्तः? दावन्तोऽन्तः) फलदः शिरः पृष्ठो(द? म)येषु च ।

दशप्रवेशसमये तिष्ठन् वाच्यो दशापतिः ॥”

इति ॥ ५ ॥

प्रधानां चारफलस्य कालविशेषं पुष्पिताग्रयाह—

दिनकररुधिरौ प्रवेशकाले

गुरुभृगुजौ भवनस्य मध्ययातौ ।

रविमुतशशिनौ विनिर्गमस्थौ

शशिननयः फलदस्तु सार्वकालम् ॥ ६ ॥

इति । दिनकररुधिरौ भवनस्य प्रवेशकाले फलदावित्यन्वयः । गुरुभृगुजौ भवनस्य मध्ययातौ फलदौ । रविमुतशशिनौ भवनस्य

विनिर्गमस्यौ फलदौ शशितनयस्तु सार्वकालं फलदः । प्रवेशकाल  
शब्देन प्रथमद्रेकागन्धिनिकातः मध्यशब्देन मध्यमद्रेकागन्धिनिकालः  
विनिर्गमशब्देनान्त्यद्रेकागन्धिनिकालः इत्युच्यते । बुधस्तु त्रिष्वपि  
द्रेकाणेषु स्थितः सदा फलं ददातीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति होराविवरणे प्रकीर्णो नाम विंशोऽध्यायः ॥

### अथ एकविंशोऽध्यायः ।

अथ भाग्यस्थानालोकयोगवशेन तयोः कानां फलानां मन्त्रीर्हत्वात् सम्भवासम्भवयोः  
सम्भेदे सति अत्रयत्रकस्यानां पुत्रफलत्रादिकलविशेषाणामत्र सम्भवप्रदर्शकान्यनिष्ठयोग  
लक्षणानि अत्र एकविंशततमेऽध्याये प्रदर्श्यन्ते<sup>१</sup> । तत्रादायेन सुतहोमजन्मज्ञानार्थं  
शाश्वतलविकीर्तितेनाह—

लग्नात् पुत्रकलत्रमे शुभपतिप्राप्तेऽथवाले वि ते

चन्द्राद्वा यदि सम्पदस्ति हि तये ज्ञेयोऽन्यथासम्भवः ।

पार्थोनोदयगे रवौ रविमुतो मीनस्थितो दारहा

पुत्रस्थानगतश्च पुत्रमरणं पुत्रोऽवनेर्यच्छति ॥ १ ॥

इति । लग्नात् पुत्रकलत्रमे शुभपतिप्राप्ते अथवा आलोकिने  
तयोः सम्पदस्ति हि, अन्यथा असम्भवो ज्ञेय इत्यन्वयः । पुत्रकलत्रमे  
पुत्रमे कलत्रमे च शुभपतिप्राप्ते शुभप्राप्ते पतिप्राप्ते च अथवा आलाकिते  
शुभालोकिते पतिना<sup>(१)</sup> दृष्टे वा तयोः पुत्रकलत्रयोः सम्पदस्त हि ।  
दिशब्दः प्रसिद्धौ । अत्र पुत्रस्थाने शुभेन पतिना<sup>(१)</sup> युक्ते वा दृष्टे  
वा सति पुत्रसम्पत् सुलभा भवति । तथा शुभग्रहेण युक्ते दृष्टेऽपि पुत्र-  
सम्पद् भवति । तथा अशुभेऽपि पतिना<sup>(१)</sup>ग्रहेण युक्ते दृष्टेऽपि गति  
सन्ततिर्भवतीति तावन्मयं द्रष्टव्यम् । तथैव कलत्रविपक्षेऽपि योजनी-  
यम् । अत्र पुत्रकलत्रयोः सम्पदस्तीति प्रपञ्च्य प्रतिपेक्षार्थमनूदितम् ।  
अन्यथा तयोरसम्भवः । पुत्रस्थाने कलत्रस्थाने च अशुभेन युक्ते दृष्टे  
च अधिगतेऽन्येन युक्ते दृष्टे च पुत्रकलत्रयोगसम्भवां ज्ञेयः । योगेक्षण-

कर्तुं शुभग्रहस्य शुभग्रहादयं शक्येक्षणादिभिः सम्बन्धेन अत्रापि पुत्र-  
कलत्रसम्पदभावे विशेषा विमृश्याः । चन्द्राद्वा चन्द्रात् पुत्रकलत्रमे शुभं  
पतिपाते अथवा आलोकिते तयोः सम्पदस्ति । अन्यथामम्भवः, अ-  
न्यथा तद्योरनम्भव इति याजनीयम् । लग्नचन्द्रयोर्व्यावलेन पुत्रसम्पत्  
कलत्रसम्पद्य निरूपणं येति वचनाद् अन्येषामपि भावानां लग्नचन्द्राद्य  
यथावत् निरूपणायत्वं द्योत्यत । अत्रोदाहरणमाह — पार्थोनादयमे  
रवौ मीनस्थितौ रविमुतो दारहा भवतीत्यन्वयः । कन्यायामुदयस्थिते  
रवौ मीनस्थितो मन्दः दारहा भवति । अत्र कलत्रस्थानस्य पापयोगः  
पापदृष्टिश्च भवतः ततो दारहानिर्भवति । तथा पुत्रस्थानगतोऽवनेः  
पुत्रः पुत्रमरणं यच्छति च । अत्र पुत्रमरणं यच्छतीत्युक्त्या पञ्चमस्थ  
कृजे पुत्रा जायन्ते अत्र ते चेत्युक्तं भवति । ननु पुत्रकलत्रयोः सम्पत्ति-  
विपत्तिश्च कारकाभ्यां गुरुशुक्रभ्यामपि निरूपणीयेत्यन्यथास्तेषु  
दृश्यते । तथाहि — “वीचिन्पुत्राङ्गसौख्यं सुरगुरुरवलाभोगयाननि  
शुक्रा” इत्यादीनि स्रष्ट्वान्तरवचनानि बहूनि सन्ति । अत्र च तथा  
नोक्तम् । मैवम् । अत्रापि पूर्वं “गुरौ त्रिकोणोदयधर्मगोऽपि वा भव-  
त्यपत्यं हि” इत्यत्र गुरोः सम्मानकारकत्वं प्रदर्शितम् । शुक्रस्य कलत्र-  
कारकत्वं पुनरत्र प्रदर्श्यते ॥ १ ॥

अथ भार्यामरणयोगः प्रहर्षिण्याह १) —

उग्रग्रहैः सितचतुरश्रसंस्थितैः

मध्यांश्चते भृगुननयेऽथवाग्रयोः ।

सौम्यग्रहैः सहितसन्निरीक्षिते

जायावधो दहननिपातगशजः ॥ २ ॥

इति । सितचतुरश्रसंस्थितैरुग्रग्रहैः दहननिपातपाशजो जायावधो  
भार्यात्यन्त्रयः । सितचतुरश्रसंस्थितः सितचतुरश्रे चतुर्थेऽष्टमे च  
संस्थितैरुग्रग्रहैः रविकृत्रमन्दैः जायावधः कलत्रमरणं दहननिपातपाशजः  
दहनेन अग्निना जनिता वा निपातेन गर्भपातेन जनिता वा । ‘गर्भे’

१. 'सि। अन्यथा तयो' घ २. 'भ्यां नि क. ३. 'दि स. ४. 'ति- दम'  
५. च. ५. 'ति । अनेन सि' घ. ६. 'ज हति द' क. ग. घ. च.

इति । कोणोदये अस्तचक्रसन्धौ भृगुतनये च जातो वन्ध्या-  
पतिरित्यन्वयः । कोणस्य मन्दस्य उदये अस्तचक्रसन्धौ अस्तलग्ने  
चक्रमन्धौ शशिभवनाब्धिपान्ते स्थिते शुक्रे सति जातो वन्ध्यापतिः  
वन्ध्यायाः पतिः । तस्य भार्यी वन्ध्या प्रमवहीना भवतीत्यर्थः । सुत-  
र्क्षम् इष्टयुक्तं न यदि पुत्रभम् इष्टयुक्तं शुभयुक्तं न चेद् भवति उक्त-  
योगे पुत्रस्थाने इष्टग्रहोऽस्ति चेद् वन्ध्यापतिर्न भवेदित्यर्थः । क्षीणे  
शशिनि धीस्थे पापग्रहैः व्ययमदलप्रराशिमंस्यरसुतकलत्रजन्म भवति  
क्षीणचन्द्रे पुत्रस्थानगते पापग्रहैरकारिमन्दैः द्वादशे सप्तमे लग्ने च यथा-  
योगं स्थितैः असुतकलत्रजन्म असुतस्य अकलत्रस्य च जन्म पुत्र-  
कलत्रविहीनस्य जन्म भवेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

पुनरपि कलत्रगतौलक्षणविशेषान्न हरिण्याह —

असितकुजयोर्वर्गेऽस्तस्थे सिते तदवेक्षिते

पर्युवतिगस्तौ चेत् सेन्दू स्त्रिया सह पुंश्चलः ।

भृगुजशशिनोरस्तेऽभार्यौ नरो विमुतोऽपि वा

परिणततनू स्त्रीत्रोर्दृष्टौ शुभैः प्रमदापती ॥ ५ ॥

इति । सिते असितकुजयोर्वर्गे अस्तस्थे तदवेक्षिते सति पर्यु-  
वतिगो भवतीत्यन्वयः । अमितकुजयोः मन्दभौमयोः वर्गे वर्गगते  
अस्तस्थे सप्तमस्थे शुक्रे तदवेक्षिते मतिः । एतदुक्तं भवति । अस्त-  
राशौ मन्दस्य भौमस्य वा वर्गगते शुक्रे मन्दभौमाभ्यां दृष्टे जातः  
पारदारिको भवति । अत्रैव योगे विशेषमाह — तौ सेन्दू चेत् स्त्रिया  
सह पुंश्चल इति । तौ अस्तस्थितस्य अमितकुजवर्गस्थितस्य शुक्रस्य  
द्रष्टारौ मन्दभौमौ अर्थाद्व्यगताौ सेन्दू चेत् चन्द्रेण महितौ चेत् स्त्रिया  
सह पत्न्या सह पुंश्चलो भवति । स्वयं पारदारिकः तस्य पत्नी च  
पुंश्चली भवतीत्यर्थः । भृगुजशशिनोरस्ते तौ मन्दभौमौ चेज्जातो  
नरः अभार्यौ विमुतोऽपि वा भवति । चन्द्रशुक्रयोरैकराशिगतयोः  
सप्तमस्थौ मन्दभौमौ यदि भवतः तदा जातः पुमान् भार्यारहितः

१. 'यो' प्र' ग. २. 'माह—' घ. च. ३. 'ति। म', ४. 'परदारगो म',  
५. 'त' ग. ६. 'परदारग' त' ग.

भार्याकार्यपुत्ररहितोऽपि वा भवति । पुनरपि योगविशेषमाह — स्त्री-  
त्रोरस्ते शुभैर्दृष्टौ तौ चेत् प्रमदापती परिणततनू भवतः । स्त्रीत्रोः स्त्री च  
ना च स्त्रीनरौ स्त्रीग्रहस्य पुरुषग्रहस्य च एकलग्नस्ययोः सप्तमे मन्द-  
मौमौ शुभग्रहैर्दृष्टौ यदि भवतः तदा प्रमदापती परिणततनू वार्षक-  
युक्तशरीरौ भवतः । चन्द्रशुक्रयोरेकस्मिन्निर्वार्ययोरेकस्मिन् युगपल्लग्र-  
स्थितयोः सतोः सप्तमे मन्दमौमाभ्यां शुभग्रहदृष्टाभ्यां युक्ते सति  
जातस्य पुरुषस्य वृद्धत्वे वृद्धौ भार्या भवेदित्युक्तं भवति ॥ ५ ॥

इति दिग्मात्रेण कानिचित् कष्टप्रारिष्टलक्षणान्युक्त्वा साम्प्रतमनिर्णयोगान्तराणि  
मन्दाक्रान्तयाह —

वंशोच्छेत्ता खमदमुखगैश्चन्द्रदैत्येभ्योऽपैः

शिल्पी त्र्यंशे शशिसुतयुते केन्द्रसंस्थार्किदृष्टे ।

दास्यां जातो दितिमुतगुरौ रिःफगे सौरिभागे

नीचोऽर्केन्दोर्मदनगतयोर्दृष्टयोः सूर्यजेन ॥ ६ ॥

इति । खमदमुखगैः चन्द्रदैत्येभ्योऽपैः वंशोच्छेत्ता भवतीत्य-  
न्ययः । दशमस्थेन चन्द्रेण सप्तमस्थेन शुक्रेण मुखगताभ्याम् आर-  
मन्दान्यां च जातो वंशोच्छेत्ता भवति कुलोच्छेदकरो भवति । शशि-  
सुतयुते त्र्यंशे केन्द्रसंस्थार्किदृष्टे शिल्पी भवति । बुधाधिष्ठितद्रेकाणे  
लग्नकेन्द्रगतेन सौरेण दृष्टे सति जातः शिल्पी भवति । नष्टसर्वस्यः  
शिल्पमात्रेण जीवतीत्यर्थः । त्र्यंशग्रहणं पूर्णदृष्टिरेवात्र ग्राह्येति द्योत-  
यितुम् । मेघप्रथमद्रेकाणस्थे बुधे तुलाप्रथमद्रेकाणस्थेन शनैश्चरेण  
दृश्यमानं पूर्णदृष्टिर्भवति । तुलान्त्यस्थेन दृश्यमाने मेघादिस्थे बुधे  
'षष्ठं द्वितीयभवनं द्वादशमेकादशं न पश्यन्ति' इत्युक्तस्य दृष्ट्यभाव-  
स्थानस्य आमन्नगतत्वेन दृश्यस्य बुधस्य द्रष्टुर्मन्दस्य दृष्टिरल्पैव भ-  
वति । ततः पूर्णदृष्टिरेव ग्राह्येति त्र्यंशग्रहणं कृतम् । दितिमुतगुरौ सौरि-  
भागे रिःफगे सति जातो दाभ्यां जातो भवति । तस्य माता

१. 'यां' घ. 'यांकारी पुं' च. २. 'स्त्रीनरयोः स्त्रीग्र' च. ३. 'द' क. ख.  
४. 'रि' क. ५. 'ण्याह —' घ. च. ६. 'ण मुखगतेः सु' ख. ग. च. ७. 'दे' ख.  
८. 'सौरेण द' ९. 'ति दा घ.

निरतिरे तीक्ष्णमि'त्यादिषु निपातनशब्दस्य गर्भविमोचमार्गत्वदर्शनादत्र निपातशब्देन गर्भनिपातो लक्ष्यते । पाशजः दुहन्धनसाधनेन जनितो वा जायावधो भवति । पक्षान्तरमाह — अथवा भृगुननये उग्ररोर्मध्यस्थिते सति द्विद्वाशस्थयः क्रूरशोरेकराशौ स्वस्वत् पूर्वापरस्थयांर्वा मध्यस्थिते भृगुननयोऽपि दहननिपातपाशजो जायावधो भवति । तदपवादत्वेन विशेषणमाह — मौम्यग्रहैरमहितमग्निं निक्षिप्ते इति । शुभग्रहरसहिते अनिरीक्षिते च शुके उक्तं योगकर्म भवति । शुक्रस्य शुभयुक्तत्वे शुभदृष्टत्वे वा जायावधो न भवेदेत्यभिप्रायः । कलत्रवारकस्य शुक्रस्य क्रूरैरुक्तयोगसम्भवेऽपि शुभदृष्ट्येगे कलत्रसम्पद् भवतीति यावत् । अत्र शुक्रस्य चतुरश्रयोः क्रूरस्थितिः क्रूरस्य मध्यस्थितिश्च सामग्रहयोगनिरीक्षणाभावश्चेति त्रयो जायावधयोगाः । जायावधाश्च दहनजः निपातजः पाशजश्चेति क्रमत् तयो भवन्तीति केचिद् व्याचक्षते । तत्पक्षे कलत्रवारकस्य शुक्रस्य पापग्रहोक्तयोगाभावेऽपि शुभग्रहयोगनिरीक्षणाभावेन केवलस्यापि कलत्रारिष्टकारित्वमुद्वन्धनप्रवर्तकं प्रसज्यते ।

तथाच गार्गिः —

चतुर्धाष्टमैः शुक्रात् मौरारारैर्हुताशनत् ।

तेषां द्वितीयमध्यस्थे तथा शुके निपातनात् ॥

शुके सद्योगदग्धीने पाशाद् भार्यावधो भवेत् ॥

इति । उग्रग्रहैः सितचतुरश्रसंस्थितैरिति सूर्यस्य शुक्राच्चतुर्धादिष्वमम्भवेऽपि बहुवचनप्रयोगेण तमोग्रहयोरपि उपगमानन्तस्मीर्षममयगतत्वं दिवलसम्भवे क्रूरग्रहेष्वन्तर्भावो द्योत्यते । २ ॥

अथ निरुल्लङ्घनमज्ञानार्थं वसन्ततिलवेन ह —

लगाद् व्ययारिगतयोः शशितिमरदम्योः

पत्न्या सहैकनयनस्य वदन्ति जन्म ।

धूनस्थयोर्नवमपञ्चमसंस्थयोर्वा

शुक्रार्कयोर्विकलदारमुशन्ति जातम् ॥ ३ ॥

इति । शशितिग्मरश्मयोः लग्नाद् व्ययारिगतयोः पत्न्या सह एक-  
नयनस्य जन्म वदन्तीत्यन्वयः । शशिनि लग्नाद् व्ययगते तिग्मरश्मौ  
षष्ठगते अथवा रवौ व्ययगते चन्द्रे षष्ठगते सति एकनयनस्य काणस्य  
पत्न्या सह एकनयनया पत्न्या सहेति । एवंविधयोगे जातस्य विवाह-  
काले पत्नी चैकनयना भवतीत्यर्थः । 'व्ययगृहगतश्चन्द्रो वामं हि-  
नस्त्यपरं रविः' इत्युक्तयोगेन लग्नस्य व्यये रविचन्द्रयोररेकेन युक्ते पुरुष-  
स्यैकनेत्रत्वं भवति । तथा सप्तमस्य 'लग्नदेहादिभावै' रित्यत्राक्तमार्गेण  
सप्तमभावस्य कलत्रलग्नत्वे सति तद्व्ययभूते षष्ठे रविचन्द्रयोररेकेन युक्ते  
पत्नी चैकनयना भवतीत्युक्तं भवति । शुक्रार्कयोर्धूनस्थयोः नवम-  
पञ्चमसंस्थयोर्वा सतोः जातं विकलदारमुशन्तीत्यन्वयः । शुके अर्के  
चैकस्मिन् राशौ धूनस्थयोः सप्तमस्थयोरथवा नवमस्थयोरथवा पञ्चम-  
स्थयोः जातं विकलदारं अङ्गविक्रयया भार्यया युक्तम् उशन्ति आ-  
चक्षते शास्त्रविद् इत्यर्थः । अत्र नवमपञ्चमयोः शुक्रार्कयोः कैश्चिद्  
यथासङ्ख्यम् एको योगो व्याख्यातः । तद्युक्तम् । -यस्माद्  
गार्गिः —

“पञ्चमे नवमे धूने महितौ रविमार्गवौ ।

यस्य कस्य भवेद् भार्या तस्यैकाङ्गविवर्जिता ॥”

इति ॥ ३ ॥

धूनरपि कलत्रगतं विशेषमाह —

कोणोदये भृगुतनयांस्तचक्रसन्धौ

वन्ध्यापतिर्यदि न सुतर्क्षमिष्टयुक्तम् ।

पापग्रहैर्व्ययमदलग्नराशिसंस्थैः

क्षीणे शशिन्यसुतकलत्रजन्म धीस्थे ॥ ४ ॥



परप्रेष्येति यावत् । मदनगतयोरर्केन्द्रोः सूर्यत्रेन दृष्टयोः सतोः जातो  
नीचो भवति अनुचितकर्मा भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथान्यानरिष्टयोगान् शार्दूलविक्रीडितेनाह —

पापालोकितयोः सितावनिजयोरस्तस्थयोर्वातरुक्

चन्द्रे कर्कटवृश्चिकांशकगते पापैर्युते गुह्यरुक् ।

श्वित्री रिःफधनस्थयोरशुभयोश्चन्द्रांदयेऽस्ते रवौ

चन्द्रे खेऽवनिजेऽस्तगे च विकलो यद्यर्कजो वेसिगः ॥ ७ ॥

इति । सितावनिजयोः पापालोकितयोः अस्तस्थयोर्वातरुग् भव-  
तीत्यन्वयः । पापालोकितयोरित्यत्र पापशब्देन तमोग्रहावपि गृह्येते ।  
अन्यथा मन्दालोकितयोरित्येव वक्तव्यत्वात् । कफानिलात्मा सितः,  
पैतिको मौमः, उभयोः पापदृष्टयोः वातशोणितरोगः स्यादित्यर्थः  
चन्द्रे पापैर्युते कर्कटवृश्चिकांशकगते गुह्यरुग् भवतीत्यन्वयः । कर्कटवृश्चि-  
कयोरदृश्यदेक्षचारिणोरशैकात्मकयोः स्थिते चन्द्रे रुधिरात्मके कर्क-  
टांशे वृश्चिकांशे स्थिते वा इत्यर्थः । पापैर्युते गुह्यरुग् भवति । अदृश्य-  
रोगः रक्तदोषसम्भवो विद्रधिभगन्दरादिः सम्भवति । चन्द्रोदये रिःफ  
धनस्थयोरशुभयोः रवौ अस्ते च सति श्वित्री भवति । चन्द्रस्योदये  
व्ययधनस्थयोः कुजमन्दयोः अस्तगते रवौ च सति जातः श्वित्री  
भवति । श्वित्रं नाम शुक्लत्वग्रोमा कुष्ठविशेषः तद्युक्तो भवति । चन्द्रे  
खे अवनिजे अस्तगे च अर्कजो वेसिगो यदि जातः पुमान् विकलो  
भवति । लग्नाद् दशमस्थे चन्द्रे सप्तमस्थे कुजे च अर्काद् द्वितीयस्थे मन्दे  
सति जातो विकलः वैकल्यवान् भवति ॥ ७ ॥

अथान्यानप्यनिरिष्टयोगान् वसन्ततिलकेनाह —

अन्तदशशिन्यशुभयोर्मदगे पतङ्गे

श्वासक्षयप्लिहकविद्रधिगुल्मभाजः ।

१. 'धः' ॥ ६ ॥ पापा घ. च. २. 'शम' क ग. ३. 'शाम' क ग. घ. च.  
४. 'वे या स्थिते ह' घ. ५. 'यस्थ रि.फ' घ. ६. 'च श्वि' क. ग. घ. ७. 'ति श्वि'  
८. 'पुनरग्याः' ९. 'नाह' — घ. च.

शोपी परस्परगृहांशगयो रवीन्द्रोः

क्षेत्रेऽथवा युगपदेव तयोः कृशो वा ॥ ८ ॥

इति । पतङ्गे लग्नान्मदगे अश्विनि यत्र कुत्रचिदशुभयोर्मध्यस्थिते च सति जाताः श्वासक्षयपित्तकविद्रधिगुल्मभाजो भवन्तीति सम्बन्धः । श्वासास्तमकादयः, क्षयो राजयक्ष्मा, ग्रिहकः रुधिराशयरोगः, विद्रधिः पित्ताविशेषः, गुल्मो जठरशूलः । एषां विशेषाश्चन्द्रार्काधिष्ठितराशिवला-  
बलवशाद्भिर्देश्योः । तथा — चन्द्रस्याशुभमध्यस्थत्वं शनिक्षेत्रे यदि श्वासः जीवक्षेत्रे क्षयः बुधक्षेत्रे पित्तकः कुजक्षेत्रे विद्रधिः शुक्रक्षेत्रे गुल्मम् इति विशेषः । अत्र केचिन्मृगमे पतङ्ग इति पठन्ति । तत्पक्षे चन्द्राधिष्ठित-  
राशिवशाच्छवासादिषु विशेषनिर्देशः । राशीनां विशेषद्योतकत्वं पञ्च-  
भूतवक्षेनेति द्रष्टव्यम् । रवीन्द्रोः परस्परगृहांशगयोः शोपी भवति । चन्द्रे अर्के च परस्परगृहांशगे सति चन्द्रे सिंहे सिंहांशके वा रवौ कर्कटके कर्कटकांशके वा स्थिते सति जातः शोपी भवति क्षयरोगी भवति । अत्र केचित् — सिंहे सिंहांशकस्थे चन्द्रे कर्कटे कर्कटकांशस्थे सूर्ये इति च व्यावर्णयन्ति । तथायुक्तम् । यस्माद् गार्गिः —

“परस्परगृहे यातौ यदि वापि तदंशगौ ।

भवेतामर्कशीतांशू तदा शोपी प्रजापते ॥”

इति । अथवा तयोः क्षेत्रे युगपत् स्थितयोः सतोः शोपी भवति । अंशकनिषेधार्थं क्षेत्रे इत्युक्तम् । परस्पररय क्षेत्रे युगपत् स्थितयोः चन्द्र-  
क्षेत्रे कर्कटके महास्थितयोः चन्द्रार्कयोः, तथा सूर्यक्षेत्रे महास्थितयोः-  
चन्द्रार्कयोश्च जातः क्षयरोगी भवति । अस्मिन्योगे पञ्चान्तरनाह —  
कृशो वेति । कुशशरीरो भवति वेत्यर्थः ॥ ८ ॥

राशदोपलक्षणं समन्ततिलकेनाह —

चन्द्रेऽश्विमध्यक्षपकर्किमृगाजभागे

कुपी समन्दरुधिरे तदवेक्षिते वा ।

यातौल्लिकोणमलिकर्किवृषैर्मृगे च

कुष्ठयेव पापसहितैरवलोकितैर्वा ॥ ९ ॥

इति । चन्द्रे अश्विमध्येक्षपकर्ममृगाजभागे समन्दरुधिर सति तदपेक्षिते वा सति कुष्ठी भवतीत्यन्वयः । अश्वी धनुः तस्य मध्यं मध्य-  
द्रेक्षाणः सिंहांशकमिति केचित् । तथा क्षपकर्ममृगाजभागाः यत्रतत्र  
राशौ स्थिता अश्विमध्येक्षपकर्ममृगाजनवांशानामन्यतमे यत्रकुत्रचिद्  
राशौ वा स्थिते चन्द्रे मन्देन वा रुधिरण वा सहिते सति अथवा मन्द-  
रुधिरयोरेकतरेण अवलोकिते वा तादृशं चन्द्रे जातः पुमान् कुष्ठी भवति  
कुष्ठपुक्तो भवति अष्टादशानां कुष्ठविशेषाणामन्यतमेन युक्तो भवति ।  
शुभाशुभराश्यंशकयोगेक्षणवशात् कुष्ठविशेषा वाच्याः । अस्मिन् विषये  
योगान्तरमाह — अलिकर्किवृषैः त्रिकोणं यातैः मृगे च त्रिकोणं यात  
इत्यर्थात् सिद्धयति । पापसहितैः पापैरवलोकितैर्वा जातः कुष्ठयेव  
भवतीति सम्बन्धः । त्रिकोणं यातैः लग्नपञ्चमनवमस्थानगतैरलिष्टप-  
कर्ममकरैः पापानामन्यतमेन युक्तरवलोकितैर्वा जातः कुष्ठयेव भवती-  
त्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ मयनारिष्टं वेतालीयेनाह —

निधनारिधनव्यवस्थिता

रविचन्द्रारयमा यथातथा ।

बलवद्ग्रहदोषकारणा-

न्मनुजानां जनयन्त्यनेत्रताम् ॥ १० ॥

इति । रविचन्द्रारयमाः यथातथा निधनारिधनव्यवस्थिताः  
बलवद्ग्रहदोषकारणात् मनुजानामनेत्रतां जनयन्तीत्यन्वयः । यथा-  
तथा यथोक्तैर्ग्रहैर्यथोक्तेषु स्थानेषु यथासम्भवं तिष्ठद्भिरित्यर्थः । बल-  
वद्ग्रहदोषकारणाद् एषां चतुर्णां मध्ये यो बलवान् तस्य यो दोष  
उक्तः वातपित्तकफेष्वन्यतमः तेन कुपितेन कारणभूतेन अनेत्रतां नेत्रा-  
भावं जनयन्तीत्यर्थः । चन्द्रो बहुवातकफः मन्दः कफानिलात्मा ।

अतोऽस्मिन् योगे तयोर्विलवच्चे श्लेष्मरोगेण वातयुक्तेन नेत्रदोषो भवति । तथोक्तं बाहटेन — ‘चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो मयम्’ इति । तथा रज्जुजयोर्विलवच्चे पित्तेन ‘पित्तं वह्निर्वह्निं वा’ इत्युक्त्या तेजोमयं पित्तं, तेजमापि नेत्रं शान्तिर्भवति । तथाचोक्तम् —

“अदमनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता ।

दृष्टता च ततः पश्चात् तथा नेत्रस्य तेजसः ॥”

इति । द्वितीयस्यानगतेन क्रूरेण अष्टमस्यग्रहदृष्टेन दक्षिणदृष्टेरभासः । व्यपस्येन पट्म्यदृष्टेन रामदृष्टेश्चाभाव इति विशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्रापि राश्यंशरूपयोगेक्षणवशात् तारतम्यं विमृश्य वक्तव्यम् ॥ १० ॥

श्रोत्रारिष्टं वैताल्येनाह —

नवमायतृतीयधीयुता

न च सौम्यैरशुभा निरीक्षिताः ।

नियमाच्छ्रवणोपघातदा

रदवैकृत्यकराश्च सप्तमे ॥ ११ ॥

इति । नवमायतृतीयधीयुताः सौम्यैश्च न निरीक्षिता अशुभाः नियमात् श्रवणोपघातदा भवन्तीत्यन्वयः । तृतीयनवस्थिता अशुभाः शुभैरदृष्टाः दक्षिणकर्णस्योपघातं कुर्वन्ति । एकादशपञ्चमस्थिताः वामकर्णस्योपघातं कुर्वन्ति । प्रत्यंशं चतुर्थपि स्थिताः रविचन्द्रारमन्दाः शुभगुरुशुक्रैरदृष्टाः उभयोरपि कर्णयोरुपघातं कुर्वन्ति । मुखानिष्टयोगमाह — सप्तमे रदवैकृत्यकराश्च दन्तरैरुप्यकराश्च भवन्ति । रदशब्दः जिह्वामूलजिह्वादन्तच्छदानामप्युपलक्षणम् । सप्तमराशिवशेन मृतगताः न्यनिष्ठानि वक्तव्यानीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अपानिष्ठान्तराणि वैताल्येनाह —

उदयत्युदुपेऽसुरास्यगे

सपिशाचोऽशुभयोस्त्रिकोणयोः ।

सोपप्लवमण्डले रवा-

बुद्धयस्थे नयनापवर्जितः ॥ १२ ॥

इति । असुरास्मगे उड्डे उदयति त्रिकोणयोस्तुभयोश्च सतो-  
र्जातः सपिशाचो भवतीत्यन्वयः । असुरास्मगे असुरस्य राहोरास्मगते,  
सोमग्रहणचन्द्र इति यावत् । त्रिकोणयोः पञ्चमे नवमे च पापयोः  
मन्दभौमाभ्यामन्यतमेन युक्तयोरित्यर्थः । सपिशाचः पिशाचावेश-  
युक्तः असमञ्जसः, रवौ सोपप्लवमण्डले उदयस्थे नयनापवर्जितः  
भवति । सोपप्लवमण्डलः ग्रहणकालीन इति यावत् । नयनापवर्जितः  
नेत्ररहित इत्यर्थः ॥ १२ ॥

मयोन्मादलक्षणं शार्दूलविक्रीडितेनाह —

संसृष्टः पवनेन मन्दगयुते धूने विलग्न गुरौ

सोन्मादोऽवनिस्तनुनास्तमवने जीवे विलग्नश्रिते ।

तद्वच्चाह यमोदयेऽवनिमुते धर्मात्मजधूनगे

याते वा ससहस्ररश्मिमतनये क्षीणे व्ययं शीतगौ ॥ १३ ॥

इति । गुरौ विलग्न धूने मन्दगयुते सति पवनेन संसृष्ट इत्यन्वयः ।  
पवनेन वातरीगेण संसृष्टः । जीवे विलग्नश्रिते अस्तमवने अवनि-  
स्तनुना मोन्मादो भवति उन्मादसहितो भवति । यमोदये अवनिमु-  
धर्मात्मजधूनगे च तद्वच्चाह । यमस्योदये, यमो मन्दः, मिथुनराशिरिति  
कचित्, तस्योदये अवनिमुते भौमे धर्मात्मजधूनगे धर्मे आत्मजे धूने  
वा स्थिते सति तद्वच्चाह तद्वत् पूर्वोक्तवत् सोन्मादो भवतीत्यर्थः । क्षीणे  
शीतगौ ससहस्ररश्मिमतनये व्ययं याते वा तद्वत् भवति । क्षीणे चन्द्रे  
मन्देन मह व्ययस्थिते सति जातोऽपि सोन्मादः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

मयान्मानरिष्टयोगान् वसन्ततिलकेनाह —

राश्यपोष्णकरशीतकरामरेल्यै-

नीचाधिपांशकगतैरिमगर्गैर्वा ।

एभ्योऽल्पमध्यबहुभिः क्रमशः प्रसूता

ज्ञेयाः स्युरभ्युपगमक्रयगर्भदासाः ॥ १४ ॥

इति । राश्यंशपोष्णकरशीतकरामरेढ्यैः नीचाधिपांशकगतैः  
अरिमागैर्वा जाता दासा भवन्तीत्यन्वयः । राशिनाथश्च अंशनाथश्च  
शीतकरश्चोष्णकरश्चामरेढ्यैश्च एतैः पञ्चभिः नीचाधिपांशकगतैः नीचा-  
धिपस्यांशकं प्राप्तैः शत्रुभागागतैर्वा जाताः दासा भवन्ति । दासविशेष-  
माह — प्रसूताः एभ्यः अल्पमध्यबहुभिः अभ्युपगमक्रयगर्भदासाः  
भवन्ति । एभ्यः अल्पैरेकैः मध्यैः त्रिचतुरैः बहुभिः चतुर्भिः पञ्चभि-  
र्वा प्रसूताः क्रमेण अभ्युपगमदासाः क्रयदामाः गर्भदासाश्च भवन्ति ।  
अनर्हत्वेऽपि स्वयमङ्गीकृतदायवृत्तयः अभ्युपगमदासाः । अदासा अपि  
विक्रयेण दासीभूताः क्रयदासाः । दास्या गर्भसमुद्भवाः गर्भदासाः ॥

अथान्यान् अरिष्टयोगान् हरिष्याह —

विकृतदशनः पापैर्दृष्टे वृषाजहयोदये

खलतिरशुभक्षेत्रे लभे ह्ये वृषभेऽपि वा ।

नवमसुतगे पापैर्दृष्टे रवावदृढेक्षणो

दिनकरमुते नैकव्याधिः कुजे विकलः पुमान् ॥ १५ ॥

इति । वृषाजहयोदये पापैर्दृष्टे विकृतदशनो भवतीत्यन्वयः ।  
विकृतदशनः दन्तविकारवान् भवतीत्यर्थः । तथा अशुभक्षेत्राणि  
मेघमिहवृश्चिकमकरकुम्भाः, तेषु वा वृषे ह्येऽपि वा लभे पापैर्दृष्टे  
खलतिर्भवति । खलतिस्त्वैन्द्रलुप्तिकः मल्लवाग्रे वेशशून्यः । अत्र  
वृषाजहयोदये पापैर्दृष्टे विकृतदशनः खलतिश्च भवति, सिंहवृश्चिक-  
मकरकुम्भोदये पापैर्दृष्टे खलतिर्भवतीत्युक्तं भवति । रवौ नवमसुतगे  
पापैर्दृष्टे सति अदृढेक्षणो भवति । अदृढेक्षणः सूक्ष्मेक्षणाशक्त इत्यर्थः ।

१. 'ति सम्बन्ध' क. ग. घ. च. २ 'ह्यश्च राभ्यंशपोष्णकरशीतकरामरेढ्याः  
तैः प' क. घ. ३. 'ताः क' घ. ४. 'पि क' ग. च. ५. 'साः ॥ विकृ' घ. च. ६.  
'ति दन्त' ७. 'त्यन्वयः त' क. ग. च.

दिनकरसुते नवमसुतगे पापैर्दृष्टे नैकव्याधिः अनेकरोगयुक्तो भवति ।  
कुजे नवमसुतगे पापैर्दृष्टे सति जातः पुमान् विकलो भवति ॥ १५॥

अन्यानप्यरिष्टयोमाह पुष्पिताप्रयाह —

व्ययधनसुतधर्मगैरसौम्यै-

भवनसमाननिबन्धना विकल्प्याः ।

भुजगनिगलपाशभृद्दृगाणै-

बलवदसौम्यनिरीक्षितैश्च तद्वत् ॥ १६ ॥

इति । असौम्यैः व्ययधनसुतधर्मगैः भवनसमाननिबन्धनाः  
विकल्प्या इत्यन्वयः । व्ययधनसुतधर्मान् प्राप्तैः पापग्रहैः जाताः भवन-  
समाननिबन्धनाः लग्नराश्यनुरूपबन्धनयुक्ताः विकल्प्याः विमृश्य  
कल्पनीया इत्यर्थः । तद् यथा — मेघः पाशेन वृषश्च पाशेन नवमराशि-  
रश्वत्वात् पाशेनैव । मिथुनकन्यातुलाकुम्भानामन्यतमे विलम्बे निगलै-  
र्बध्यते । मृह्लयेत्यर्थः । तथा कर्कटसिंहमीनाः शरीरबन्धनं विना दुर्गे  
क्षिप्त्वा बध्यन्ते । वृश्चिकः श्वश्रे पिधानेन बध्यते । भृगो दुर्गे क्षिप्तः  
पाशेन बध्यते । तत्र बन्धनस्य चिरकालादि चरस्थिरोभयवशाद् कल्प-  
नीयम् । तत्र बन्धनस्य विशेषं दर्शयति — व्ययगः पापो दुर्बलश्चेद्  
वेद्यास्त्रिया बध्यते, ऋणदासत्वं वा । धनगो दुर्बलश्चेद् राजानं दूष-  
यति । तेन स्वस्य बन्धनं च भवति । सुतगतः पापो दुर्बलश्चेद् पुत्रेण  
बध्यते । धर्मगो बलहीनश्चेद् गुरुजननिमित्तं बन्धनम् । एवं युक्त्या  
विचिन्त्य वक्तव्यम् । बलवदसौम्यनिरीक्षितैः भुजगनिगलपाशभृद्-  
दृगाणैश्च तद्वत् । बलवद्भिः पापग्रहैः, भुजगभृच्च निगलभृच्च पाशभृच्च  
द्रेकाणाः भुजगनिगलपाशभृद्दृगाणाः, तैश्च लग्नस्थितैः पापनिरीक्षितैः  
तद्वद् । अत्र योगे जाताः बन्धनयुक्ता विकल्प्य इत्यर्थः । अत्र केचित्  
पा(प)शद्रेकाणाभावाद् भुजगभृत् निगलपाशभृत् इति व्याचक्षते ।  
भुजगभृत् कुलीरे तृतीयः, वृश्चिके प्रथमद्वितीयौ, मीने तृतीयश्च ।  
निगलपाशभृत् मकरान्त्यद्रेकाणः ॥ १६ ॥

अथान्यानरिष्टयोगान् हरिष्याद् —

परुषवचनोऽपस्मार्तः क्षयी च निशापत्नै

सरवितनये वक्रालोकं गन्ने परिवेपगे ।

रवियमकुजैः सौम्यादृष्टैर्नमःस्थलमाश्रितै-

भृतकमनुजः पूर्वोद्दिष्टैर्वराधममध्यमाः ॥ १७ ॥

इति । निशापत्नौ सरवितनये वक्रालोकं ग्राप्ते परिवेपगे सति जातः पुमान् परुषवचनः अपस्मार्तः क्षयी च भवतीत्यन्वयः । परिवेपगे,

“धूमो वेदगुहैस्त्रयोदशमिरप्यंशः समेते रवौ

स्थात् तस्मिन् व्यतिपातको विगलिते चक्रादथास्मिन् पुते ।

पद्भिर्भैः परिवेपः”

इत्युक्तलक्षणं परिवेपं प्राप्त इत्यर्थः । अत्र चन्द्रमसस्त्रयः प्रकाराः व्याख्याताः त्रयो दोषाश्च । यस्यैकप्रकारश्चन्द्रमा भवति तस्यैको दोषः । द्विप्रकारयुक्तस्य दोषद्वयं, त्रिप्रकारयुक्तस्य सर्वमपि वक्तव्यम् । रवियमकुजैः सौम्यादृष्टैः नमःस्थलमाश्रितैः दशमराशिगतैः भृतकमनुजो भवति भृत्यमनुजो भवति । पूर्वोद्दिष्टैः वैहृत्पमध्यैः क्रमाद् वराधममध्यमाः परः श्रेष्ठभृत्यः अधमभृत्यः मध्यमभृत्यश्च भवति । तत्र रविश्चेत् श्रेष्ठभृत्यः यमश्चेद् अधमभृत्यः कुजश्चेन्मध्यमभृत्यः । अल्पमध्यपद्भिः अल्पपममक्रयगर्भभृत्या इति केचित् ॥ १७ ॥

इति होराविवरणे अनिष्टयोग एकविंशोऽध्यायः ॥

१. 'दैरित्यादि परिवेपः इ' घ. २. 'धैः । रवि' ग. घ. च. ३. 'जः भृत्य', ४. 'मध्यममध्यपद्भिः' कं घ. ५. 'ति ॥ १७ ॥ घ. च. ६. 'जे ए' च.



## अथ द्वाविंशोऽध्यायः ।

लभराशिवशाद् ग्रहस्थितिवशाच्च पुरुषजातकविषयान् इष्टानिष्टयोगानुपदिश्या-  
नन्तरं स्त्रीजातकविषयान् विशेषान् द्वाविंशोऽध्यायेन दर्शयति । तत्र प्रथमं पुरुषजन्मोक्त-  
फलातिदेशो वसन्ततिलकेनाह —

यद्यत् फलं नरभवे क्षममङ्गनानां

तच्चद् वदेत् पतिषु वा सकलं विधेयम् ।

तासां तु भर्तृमरणं निधने वपुस्तु

लग्नेन्दुगं सुभगतास्तमये पतिश्च ॥ १ ॥

इति । नरभवे फलं यद्यद् अङ्गनानां क्षमं तच्चत् तासां वदेदित्य-  
न्वयः । पुरुषजातकोक्तेषु फलेषु यानि यानि फलानि अङ्गनानां क्षमाणि  
तानि तानि वदेद् । यानि पुनरङ्गनानामक्षमाणि तानि फलानि तासां न  
वक्तव्यानीत्यर्थः । अत्र क्षमाणि सद्योमरणायुरादिफलानि । अक्षमाणि  
राजयोगादिफलानि । अथवा पतिषु सकलं विधेयम् । राजयोगादिषु  
जातायाः को भर्ता भवति, तस्य राजत्वादयः सम्भवन्तीत्यर्थः ।  
स्त्रीणामेव वक्तव्यान्यसाधारणफलान्याह — तासां तु निधने भर्तृमरणं  
वक्तव्यम् । स्त्रीणां जन्मन्यष्टमस्थानेन भर्तृमरणं, भर्तृमरणस्यात्ममरण-  
कारकत्वेन स्त्रीणां तदेवाष्टमेन वक्तव्यम् । वपुस्तु लग्नेन्दुगम् । वपुः  
शरीरसौष्टवं लग्नेन्दुगं लग्नवशाच्चन्द्रवशाच्चावगन्तव्यमित्यर्थः । अस्तमये  
सुभगता पतिश्च । अस्तराशिना सुभगत्वं भर्तृस्वरूपलक्षणं च वक्तव्यम् ॥

वपुस्तु लग्नेन्दुगमिति यदुक्तं तत्प्रदर्शनार्थं वसन्ततिलकेनाह —

युग्मेषु लग्नशशिनोः प्रकृतिस्थिता स्त्री

सच्छीलभूषणयुता शुभदृष्टयोश्च ।

ओजस्ययोस्तु पुरुषाकृतिशीलयुक्ता

पापा च पापयुतवीक्षितयोगुणोना ॥ २ ॥

इति । लग्नशशिनोः युग्मेषु स्थितयोः सतोः स्त्री प्रकृतिस्थिता

स्यादित्यन्वयः । युग्मराशयो वृषकुलीरादयः स्त्रीराशयः । (तेष्वेकतमेऽ  
स्मिन्) लग्ने चन्द्रे च स्थिते सति जाता स्त्री प्रकृतिस्थिता स्त्रीस्वभावयुक्ता  
भवतीत्यर्थः । लग्नराशिनोः शुभदृष्टयोः सच्छीलभूषणयुता च भवति ।  
तादृशौ लग्नचन्द्रौ शुभदृष्टौ चेत् सच्छीलभूषणयुता शीलं जनमनोहर-  
स्वभावः सत् शोभनं शीलमेव भूषणं सच्छीलभूषणं तेन युता च भव-  
तीत्यर्थः । अथवा सच्छीलैः भूषणैरामरणैश्च युता । अर्धादेव अशुभ-  
दृष्टौ चेत् शरीरसौन्दर्ययुता विशीला च भवतीति सिद्धम् । लग्नराशिनो-  
रोजस्थयोस्तु पुरुषाकृतिशीलयुक्ता भवति लग्ने चन्द्रे च ओजस्थयोः  
मेपमिथुनादिपुरुषराशिस्थितयोः सतोः जाता स्त्री पुरुषाकृतिशील-  
युक्ता भवति । तत्रापि पापयुतवीक्षितयोर्गुणोना पापा च भवति ।  
ओजस्थपोल्लग्नराशिनोः पापयुतवीक्षितयोश्च सतोर्जाता गुणरहिता  
पापाचारा च भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ भौमक्षेत्रे भौमादित्रिंशांशके जातायाः स्वरूपज्ञानार्थम् इन्द्रवज्रयाह—

कन्यैव दुष्टा व्रजतीह दास्यं

साध्वी समाया कुचरित्रयुक्ता ।

भूम्यात्मजर्क्षे क्रमशोऽशकेषु

भौमैर्माकिजीवेन्दुजभार्गवाणाम् ॥ ३ ॥

इति । भूम्यात्मजर्क्षे भौमैर्माकिजीवेन्दुजभार्गवाणामंशकेषु स्थितयोः  
लग्नराशिनोः जाताः स्त्रियः (क्रमशः) एवंविधा भवन्तीति सम्बन्धः -  
भूम्यात्मजर्क्षे मेपे वृश्चिके च । अंशकेषु त्रिंशांशकेषु । तत्र भौमराशौ भौमा  
त्रिंशांशके स्थिते लग्ने चन्द्रे वा जाता कन्यैव दुष्टा भवति । मन्दत्रिंशां-  
शके इह दास्यं व्रजति । गुरुत्रिंशांशके साध्वी भवति पतिव्रता  
भवति । बुधत्रिंशांशके समाया मायायुक्ता भवति । शुक्रत्रिंशांशके

१. 'ता स्त्रीस्वभा' घ. २. 'णं तेन' च. ३. 'शैः । लग्नरा' ख. ग. घ. च.  
४. ५. 'क्षै' घ. ६. 'का च भ' घ. च. ७. 'क्षै' घ. ८. 'नोः जाताः स्त्रियः एवंविधा  
भवन्तीति सम्बन्धः ॥ २ ॥' क; 'नो जाताः स्त्रियः एवंविधा भवन्तीति सम्बन्धः  
॥ २ ॥' कन्यैव' घ. ९, १०. 'वर्कार्कि' क.

कुचरित्रयुक्ता भवति । कुचरित्रयुक्ता कुरिसतचारित्रयुक्ता भवतीत्यर्थः  
॥ ३ ॥

अथ शुक्रबुधश्रेयोः कुजादित्रिंशांशजानायाः फलम् इन्द्रवज्रयाह—

दुष्टा पुनर्भूः सुगुणा कलाज्ञा

ख्याता गुणैश्चासुरपूजितर्क्षे ।

स्यात् कापटी क्लीवसमा सती च

बौधे गुणाढ्या प्रविकीर्णकामा ॥ ४ ॥

इति । असुरपूजितर्क्षे तुलायां वृषभे च कुजादित्रिंशांशकेषु दुष्टादयो भवन्ति । तत्र कुजत्रिंशांशके दुष्टा, मन्दत्रिंशांशके पुनर्भूः द्विवारमूढा, गुरुत्रिंशांशके सुगुणा, बुधत्रिंशांशके कलाज्ञा, शुक्रत्रिंशांशके गुणैः ख्याता च भवति । बौधे मिथुने कन्यायां च कुजादित्रिंशांशकेषु लग्नशशिनोः जाताः कापट्यादयः स्युः । तत्र कुजत्रिंशांशके जाता कापटी स्यात् । कापटी कपटयुक्ता । मन्दत्रिंशांशके क्लीवसमा नपुंसकतुल्या, गुरुत्रिंशांशके सती पतिव्रता, बुधत्रिंशांशके गुणाढ्या, शुक्रत्रिंशांशके प्रविकीर्णकामा नियमरहितकामेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ चन्द्रविगुरमन्दक्षेपेषु कुजादित्रिंशांशकेषु शार्ङ्गलविकीर्णितेनाह—

स्वच्छन्दा पतिघातिनी बहुगुणा शिल्पिन्यसाध्वीन्दुभे

त्राचारा कुलटार्कभे नृपवधूः पुंश्रेष्ठितागम्यगा ।

जैवे नैकगुणात्परत्यतिगुणा विज्ञानयुक्ता सती

दासी नीचरत्तार्किभे पतिरता दुष्टाग्रजा(चां!श्वां)शकैः ॥ ५ ॥

इति । इन्दुभे कर्कटके कुजादित्रिंशांशकेषु लग्नशशिनोः स्थितयोः सतोः स्वच्छन्दादयो भवन्ति । तत्र कुजत्रिंशांशके स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा, मन्दत्रिंशांशके पतिघातिनी, गुरुत्रिंशांशके बहुगुणा बहुगुणयुक्ता, बुधत्रिंशांशके शिल्पिनी शिल्पज्ञानान्विता, शुक्रत्रिंशांशके असाध्वी पुंश्चलौ । अर्कभे सिंहे कुजादित्रिंशांशकेषु क्रमात् त्राचारादयः स्युः ।

तत्र कुजत्रिंशांशके घ्राचारा पुरुषाचारा, मन्दत्रिंशांशके कुलटा, गुरु-  
त्रिंशांशके नृपवधूः, बुधत्रिंशांशके पुंश्चेष्टिता पुरुषस्वभावयुक्ता, शुक्र-  
त्रिंशांशके अगम्यगा व्यभिचारिणी भवति । जैवे धनुषि मीने च  
कुजादित्रिंशांशकेषु नैकगुणादयः स्युः । तत्र कुजत्रिंशांशके नैकगुणा  
अनेकगुणा, मन्दत्रिंशांशके अल्परतिरल्पमदनेत्यर्थः, गुरुत्रिंशांशके  
अतिगुणा, बुधत्रिंशांशके विज्ञानयुक्ता, शुक्रत्रिंशांशके सती चारित्र्य-  
युक्ता भवति । आर्किमे मङ्गे कुम्भे च कुजादीनां त्रिंशांशकैर्दासा-  
दयः स्युः । तत्र कुजत्रिंशांशके दामी मन्दत्रिंशांशके नीचरता, गुरु-  
त्रिंशांशके पतिरता, बुधत्रिंशांशके दुष्टा, शुक्रत्रिंशांशके अप्रजा (चौध्र)  
भवति ॥ ५ ॥

एतत् त्रिंशांशकैरिति ज्ञानार्थं भवत्युक्तमग्राह—

शशिलम्भसमायुक्तैः फलं त्रिंशांशकैरिदम् ।

बलाबलविकल्पेन तयोक्तं विचिन्तयेत् ॥ ६ ॥

इति । शशिलम्भसमायुक्तैः त्रिंशांशकैरुक्तमिदं फलं तयोर्बला-  
बलविकल्पेन विचिन्तयेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

स्त्रीणामनिष्टयोगमाह—

दृक्संस्थावसितसितौ परस्परांशे

शौक्रे वा यदि घटराशिसम्भवोऽशः ।

स्त्रीभिः स्त्री मदनविपानलं प्रदीप्तं

संशान्तिं नयति नराकृतिस्थिताभिः ॥ ७ ॥

इति । असितसितौ परस्परांशे दृक्संस्थौ, अथवा शौक्रे राशौ  
घटराशिसम्भवोऽशो यदि भवति तदा स्त्री नराकृतिस्थिताभिः स्त्रीभिः  
प्रदीप्तं मदनविपानलं संशान्तिं नयतीत्यन्वयः । असितसितौ शनै-  
श्चरशुक्रौ परस्परांशे शुक्रांशे मन्दः मन्दांशे शुक्रः दृक्संस्थौ अन्योन्यं  
सप्तमस्थौ इत्येको योगः । तथा शौक्रे शुक्रक्षेत्रे वृषमे तुलायां वा घट-

१, २, ३, ४, ५. 'कैः' क. घ. ६. 'ति ॥ ५ ॥ शक्ति घ. च. ७. 'त्यन्वयः  
॥ ६ ॥' क. ग. घ; 'त्यन्वयः । तथैवार्थः ॥ ६ ॥' घ.

राशिसम्भवोऽशः कुम्भनवांशः वृषभे कुम्भांशे वा तुलायां कुम्भांशे वा यदि जन्म भवतीति द्वितीयो योगः । अनयोर्योगयोरेकत्र जाता स्त्री नराकृतिस्थिताभिः स्त्रीभिः प्रदीप्तं मदनविषानलं मदनः स्वयं दुर्वारः तस्य विषत्वेन रूपणं व्यामोहजनकत्वेन, तस्य मदनविषस्यापि अनलत्वेन रूपणमसहान्तर्दाहजनकत्वेन, तस्य प्रदीप्तत्वं विशेषणमुक्तं पुरुषैरात्मभाववसानदुर्वलैः श्रमयितुमशक्यत्वाद् उपर्युपरि वर्धमानत्वं द्योतयति । तादृशं प्रदीप्तं मदनविषानलं नराकृतिस्थिताभिः स्त्रीभिः संशान्तिं नयति । नराकृतिस्थिताभिरिति दृढसन्धानितजघनदेशस्यापितूलगर्भमृषिकादिमृदुचर्मकृतकृत्रिमलिङ्गाभिः सुम्बनचूपणनखक्षतादिसुरतोपचारकुञ्जलाभिः नरवचेष्टमानाभिरित्यर्थः । अत्र योगेऽपि शुभयोगनिरिक्षणाभ्याम् असितसितयोर्वलावलवशेन च तारतम्यं द्रष्टव्यम् । एतद्योगद्वयं पुरुषजातकेऽपि चिन्तनीयम् ॥ ७ ॥

शस्त्रमये पतिश्चेति यदुक्तं तद्विशानं शार्दूलविष्नीहितेनाह —

शून्ये कापुरुषोऽवलेऽस्तभवने सौम्यग्रहावीक्षिते

क्लीवोऽस्ते बुधमन्दयोश्चरगृहे नित्यं प्रवासान्वितः ।

उत्सृष्टा तरणौ कुजे तु विधवा बाल्येऽस्तराशौ स्थिते

कन्यैवाशुभवीक्षितेऽर्कतनये द्यूने जरां गच्छति ॥ ८ ॥

इति । अस्तभवने शून्ये अवले सौम्यग्रहावीक्षिते सति कापुरुषः पतिर्भवति इत्यन्वयः । शून्यत्वं ग्रहरहितत्वम् । अवले बलरहिते च सति सौम्यग्रहावीक्षिते शुभग्रहद्वयैरहितेऽपि सति यः कश्चित् कापुरुषः कृत्सितपुरुषः पतिर्भवति । अस्तराशेर्बलवत्त्वं शुभग्रहद्वयैश्चात्रापवादो भवतीत्यभिप्रायः । अशून्यत्वेऽपि पापग्रहयोगफलमाह — अस्ते बुधमन्दयोः क्लीवः पण्डः । अस्ते चरगृहे सति भर्ता नित्यं प्रवासान्वितो भवति । चरग्रहणं स्थिरोभययोरपि स्वगुणप्रदर्शकत्वोपलक्षणम् । अस्ते तरणौ उत्सृष्टा भर्ता उपेक्षितेति यावत् । कुजे तु अस्तराशौ स्थिते सति बाल्ये विधवा भवति । अर्कतनये अशुभवीक्षिते द्यूने सति

कन्यैव जरां गच्छति । शूनैश्चरे मष्टमस्थे अर्कगौमयोरन्यतरेण दृष्टे  
सति जाता स्त्री कन्यैव जरां गच्छतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

पुनरपि विशेषेण शार्ङ्गलविक्रीडितेनाह—

आग्नेयैर्विधवास्ताराशिसहितैर्मित्रैः पुनर्भूभवेत्

क्रूरे हीनबलेऽस्तगे स्वपतिना सौम्येक्षिते प्रोज्झिता ।

अन्योन्यांशगयोः सितावनिजयोरन्यप्रसक्ताङ्गना

धूने वा यदि शीतरश्मिमहिते भर्तुस्तदानुज्ञया ॥ ९ ॥

इति । अस्तराशिसहितैराग्नेयैः विधवा भवतीत्यन्वयः । आग्नेयः  
सूर्यः भौमश्च । बहुवचनग्रहणेन 'शिखीति केतुरिति सज्ञाध्याये निर्दिष्ट-  
स्तमोग्रहः केतुरत गृह्यते । आग्नयैर्ऋकुजकेतुभिरित्यर्थः । मित्रैः पुन-  
र्भूभवेद् आग्नेयैः सौम्यैश्च मित्रैः पुनर्भूः, प्रथमस्य भर्तुरपायेऽन्येन  
परिणीता पुनर्भूः तथा भवतीत्यर्थः । हीनबले क्रूरे अस्तगे सौम्येक्षिते  
सति विधवा न भवति । किन्तु स्वपतिना प्रोज्झिता उपेक्षिता  
भवतीत्यर्थः । सितावनिजयोरन्योन्यांशगयोः सतोः जाता अङ्गना  
अन्यप्रसक्ता भवति । अन्योन्यांशगयोः सितांशगते अवनिजे अव-  
निजांशगते सिते चेत्यर्थः । अथवा तौ सितावनिजौ धूने धूनराशौ  
शीतरश्मिमहितौ यदि भवतः अस्तराशौ चन्द्रः कुजः सितश्च यदि  
सह तिष्ठन्ति तदा जाताङ्गना भर्तुरनुज्ञया अन्यप्रसक्ता भवति अन्य-  
स्मिन् पुरुषे प्रकर्षेण सक्ता भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ बन्धकीरवाटिलक्षणं शारङ्गिन्याह—

सौरारक्षे लघगे सेन्दुशुक्रे

मात्रा सार्धं बन्धकी पापदृष्टे ।

कौजेऽस्तांशे सौरिणा व्याधियोनि-

श्चारुश्रोणी वल्लभा सदग्रहांशे ॥ १० ॥

इति । सेन्दुशुक्रे पापदृष्टे सौरारक्षे लघगे सति मात्रा सार्धं

बन्धकी भवतीत्यन्वयः । सौरारक्षे सौरस्य वा आरस्य वा ऋक्षे मेप-  
वृश्चिरुमरुकरकुम्भेष्वन्यतमे लग्नमे लग्नत्वं प्राप्ते चन्द्रेण शुकेण च युक्ते  
क्रूरग्रहद्वये च सति जाता माता मार्ध<sup>१</sup> माता मह माता च स्वयं च  
बन्धकी भवति पुंश्वशी भवतीत्यर्थः । सुभगतास्तमये इत्युक्तं विवृ-  
णोति — अस्ते कौजौक्षे सौरिणा व्याधियोनिर्भवतीत्यन्वयः । अस्त-  
लग्नस्य अस्तमयमाने कुजसम्बन्धिन्यंशके सौरिणा युक्ते सति व्याधि-  
योनिः योनिरोगयुक्ता भवति । अस्ते सद्ग्रहाग्नि चारुश्रोणी बल्लभा  
भवति । अस्तराशौ शुक्रग्रहस्यांशके अस्तमयति मति सुभगा भवती-  
त्यर्थः ॥ १० ।

लक्षराम्बंशरूपक्षेपेन स्त्रीणां पतिविशेषान् ज्ञात्विन्याह —

वृद्धो मूर्खः सूर्यजर्क्षेऽशके वा

स्त्रीलोलः स्यात् क्रोधनश्चावनेये ।

शौक्रे कान्तोऽतीव सौभाग्ययुक्तो

विद्वान् भर्ता नैपुणज्ञश्च बौधे ॥ ११ ॥

इति । सूर्यजर्क्षे अंशके वा अस्तमये स्थिते सति वृद्धः मूर्खश्च  
भर्ता भवतीत्यन्वयः । वृद्धो वयोधिकः । मूर्खो ज्ञानरहितः । आवनेये  
राशौ अंशके वा अस्तमये स्थिते सति स्त्रीलोलः क्रोधनश्च भर्ता  
स्यादित्यन्वयः । (अं आ)वनेये आवनेयसम्बन्धिनि मौमक्षेत्रे अंशके  
वा इत्यर्थः । स्त्रीलोलः स्त्रीषु चपलः क्रोधनः क्रोधशीलः । शौक्रे राशौ  
अंशके वा अस्तमये स्थिते सति कान्तः अतीव सौभाग्ययुक्तः स्यात् ।  
कान्तः कमनीयः अत्यन्तं सौभाग्ययुक्तश्च भर्ता भवति । बौधे राशौ  
अंशके वा अस्तमये स्थिते सति विद्वान् नैपुणज्ञश्च भर्ता स्यात् । नैपु-  
णज्ञः कौशलर्क्षः ॥ ११ ॥

१. 'कुम्भानामन्य' क. ग. घ. च. २. 'धे बन्धकी माता' क. ग. ३. 'जे'  
क. ग. घ. च. ४. 'पानाह—' ख. ग. घ. च. ५. 'आवनेये मौमस्य क्षेत्रे' घ. ६.  
'शौ अस्तमये स्थिते मति विद्वान्' घ. ७. 'क्षस्थि' च. ८. 'ज्ञश्च भर्ता भवति' ॥ ११ ॥  
क; 'ज्ञश्च भर्ता भवति ॥ ११ ॥ मदन' घ. च.

पुनरपि विशेषं पुष्पिताप्रयाह —

मदनवशगतो मृदुश्च चान्द्रे

त्रिदशगुरोर्गुणवान् जितेन्द्रियश्च ।

अतिमृदुरतिकर्मकृच्च सिंहे

भवति गृहेऽस्तमये स्थितेऽशके वा ॥ १२ ॥

इति । चान्द्रे राशौ अशके वा अस्तमये स्थिते सति मदन-  
वशगतः मृदुश्च भर्ता स्यात् । मदनवशगतः कामाधीनः मृदुः मार्दव-  
गुणयुक्तश्च भवति । त्रिदशगुरोः राशौ अशके वा अस्तमये स्थिते  
सति गुणवान् जितेन्द्रियश्च भर्ता भवति । जितेन्द्रियः स्वयशेन्द्रियः ।  
सिंहे राक्षसंशके वा अस्तमये स्थिते सति अतिमृदुः अतिकर्मकृच्च  
भवति । अतिमृदुः मृदुमतिद्वान्तः कठिनम्वभाव इत्यर्थः । अतिकर्मकृद्  
बहुव्यापारकारी ॥ १२ ॥

अथ यत्तु लघ्वेन्दुगमित्युक्तं त्रिगुणं वसन्ततिल(केतादिमा)ह—

ईर्ष्यान्विता सुखपरां च सितेन्दुलग्ने

ज्ञेन्द्रोः कलासु निपुणा सुखिता गुणाढ्या ।

शुक्रज्ञयोस्तु नुभगा रुचिरा कलाज्ञा

त्रिष्वप्यनेकवसुसौख्यगुणा शुभेषु ॥ १३ ॥

इति । सितेन्दुलग्ने ईर्ष्यान्विता सुखपरा च भवति । ईर्ष्यान्विता  
अक्षमा ईर्ष्या । ज्ञेन्द्रोऽर्लग्नमतयोः कलासु निपुणा सुखिता गुणाढ्या च  
भवति । कलासु आश्विनरूपे वाद्यासु च चतुष्पष्टिकलासु च निपुणा ।  
शुक्रज्ञयोः लग्नमतयोस्तु नुभगा रुचिरा कलाज्ञा च भवति । त्रिष्वपि  
शुभेषु लग्नमतेषु अनेकवसुसौख्यगुणा भवति । त्रिषु ज्ञेन्दुशुक्रेषु त्रिष्वपि  
अनेकानि वसुनि सौख्यानि गुणाश्च यस्याः सा तथा ॥ १३ ॥

१. 'तां भवति । जितेन्द्रियः स्वयशेन्द्रियः' । घ. २. 'स्येन मृदुरकठि' क. घ. ;  
'मृदुरतिकठिन' च. ३. 'विदुषोति' घ च ४. 'रा सतिशुक्र' ; ५. 'सतिशुक्र'  
ख. ६. 'नि । त्रिषु' घ ७. 'सा अनेकवसुसौख्यगुणा ॥' क ग. घ. च.



भग्नमरणं निधने इति' यदुक्तं सद्भिज्जानार्थं बलन्तविल(केनाऽकमा)ह—

क्रूरेऽष्टमे विधवता निधनेश्वरौऽंशे

यस्य स्थितो वयसि तस्य समे प्रदिष्टा ।

सत्स्वर्थगेषु मरणं स्वयमेव तस्याः

कन्यालिगोहरिषु चान्पसुतत्वमिन्दौ ॥ १४ ॥

इति । क्रूरे अष्टमे स्थितं सति जातायाः विधवता वैधव्यं भवति । क्रूरे क्रूरग्रहे । तद् वैधव्यं कस्मिन् काले भवतीत्यत्राह — निधनेश्वरः यस्य अंशे स्थितः तस्य अंशाविषयस्य समे वयसि सा विधवता प्रदिष्टा । निधनेश्वरः अष्टमाधिपतिः यस्य ग्रहस्य अंशे स्थितः तस्य तुल्ये वयसि यथोक्ते निसर्गदशाकाले । चन्द्रारेन्दुजानां धारणे शुक्रस्य यौवने गुरोर्मध्यवयसि सूर्यस्य वार्धके मन्दस्यातिगार्धके इत्यर्थः । अत्र केचिद् दशान्तर्दशाकालौ वयःशब्देन ब्रुवते । अष्टमाधिपतिर्यस्यांशके व्यधः स्थितः तस्य यान्तर्दशा तस्यां विवाहात् परं विधवता प्रदिष्टेति - सत्सु अर्थगेषु तस्याः स्वयमेव मरणं भवति । क्रूरग्रहं अष्टमगते शुभग्रहे घनगते च सति तस्याः स्त्रियाः स्वयमेव मरणम् आत्ममरणमेव भवति न वैधव्यमित्यर्थः । कन्यालिगोहरिषु इन्दौ अल्पसुतत्वं भवति कन्याचन्द्रे वृश्चिकचन्द्रे वृषभचन्द्रे सिंहचन्द्रे च जातायाः स्त्रिया अल्पसुतत्वं भवतीति दिङ्मात्रेण सन्तानचिन्ता दर्शिता । स्त्रीणामन्यशाखेपुक्तं नवमभावस्य पुत्रस्थानत्वम् । यथा—

“सौन्दर्यं लग्नैर्गृहे पतिसौभाग्यं सुखं च जामित्रे ।

वैधव्यं निधनेर्गृहे विचिन्तयेत् पुत्रसम्पदं नवमे ॥”

इति । एतदाचार्येणात्र न दर्शितम् । ‘गुरौ त्रिकोणोदयधर्मगोऽपि वा’ इत्यत्र स्त्रीपुरुषयोः सामान्येन सन्तानचिन्तायास्त्रिकोणविषयत्वस्य सूचितत्वात् ॥ १४ ॥

१. 'यदुक्तं विवृणोति—' घ. च. २. 'र्थः । सत्सु' घ. ३. 'मगवने प' क. ग. घ.; 'मगवने सति' घ. ४. 'त' घ. ५. 'नगवने वि' घ. च. ६. 'धां त्रिको' स.

पुनरपि स्त्रीभूतं रिशेयं शाङ्खलक्ष्मिदीदितेनाह—

सौरे मध्यवले बलेन रहितैः शीतांशुशुक्रेन्दुजैः

शेषैर्वीर्यसमन्वितैः पुरुषिणी यद्योजराशुद्रमे ।

जीवारास्फुजिदैन्दवेषु बलिषु प्रागल्भ्यराशौ समे

विख्याता भुवि नैकशास्त्रकुशला स्त्री ब्रह्मवादिन्यपि ॥ १५ ॥

इति । सौरे मध्यवले शीतांशुशुक्रेन्दुजैः बलेन रहितैः शेषैः  
वीर्यसमन्वितैश्च योजराशुद्रमे जाता यादं पुरुषिणी भवतीत्यन्वयः ।  
योजराशुद्रमे मेघमिथुनादिपुरुषराशुद्रये शीतांशुशुक्रयोः स्त्रीग्रहयोः  
स्त्रीनपुंसकस्य पुषस्य च बलशून्यत्वे सति तथा पुनपुंसकस्य सौरस्य  
मध्यवलत्वे च सति पुरुषग्रहाणाम् अकारगुरुणां वीर्याधिकत्वे च सति  
जाता स्त्री पुरुषिणी भवति पौरुषयुक्ता भवतीत्यर्थः । प्रागल्भ्यराशौ समे  
वृषकुलीरादिस्त्रीराशीनामन्यतमे सति जीवारास्फुजिदैन्दवेषु गुरुकुज-  
शुक्रबुधेषु बलिषु वीर्यान्वितेषु सत्सु जाता स्त्री भुवि विख्याता नैक-  
शास्त्रकुशला बहुशास्त्रकुशला ब्रह्मवादिन्यपि भवति ॥ १५ ॥

अथ प्रव्रज्यायोगज्ञानार्थं प्रहर्षिणीमाह—

पापेऽस्तं नवमगतग्रहस्य तुल्यां

प्रव्रज्यां युवैतिरुपैत्यसंशयेन ।

उद्वाहे वरणविधौ प्रदानकाले

चिन्तायामपि सकलं विधेयमेतत् ॥ १६ ॥

इति । पापे अस्ते सति जाता स्त्री नवमगतग्रहस्य तुल्यां प्रव-  
ज्याममंशयेनोपैतीत्यन्वयः । नवमगतग्रहस्य तुल्यामिति नवमगते  
भौमे शाक्यपरित्राजिना भवतीत्यादि पूर्व भौमादीनां प्रदर्शिताः शा-  
क्यादिप्रव्रज्याविशेषा भवन्तीत्यर्थः । एतदत्र स्त्रीजातकाध्यायोक्तं स-  
कलम् उद्वाहे वरणविधौ प्रदानकाले चिन्तायामपि (सकलं?) विधेयम् ।

१. 'पमाह—' घ. च २. 'स्य घ' घ. ३. 'निपुणा ब्रह्मवादिनी मोक्षशास्त्र-  
कुशलेत्यर्थः ॥ १५ ॥' क; 'निपुणा ब्रह्म' च. ४. 'ति ॥ १५ ॥ पापे' घ. च.

मुहूर्तलये प्रश्नलये च योजनीयमित्यर्थः । एवमुक्तेषु द्वाविंशत्यध्यायेषु राशिग्रहविषयोऽन्यध्यापरहितैरेकोनविंशत्यध्यायैरुक्तानि जातकलक्षणानि सामान्यविशेषरूपतया “विप्रतिपेधे परं कार्यमि”ति न्यायेन परस्पर-विरोधराहितानि सर्वाण्यपि मुहूर्तविषये प्रश्नविषये च यथातन्मर्थं योजयितव्यानीति उदाहे वरणाविधौ प्रदानकाले चिन्तायामपि मकलं विधेयमेतदित्यनेन द्योत्यते ॥ १६ ॥

इति होराविवरणे स्त्रीजातकाख्यो द्वाविंशोऽध्यायः ॥

### अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युरित्यवश्यमादिनः पूर्वानीनादुद्ग्रायकात्पादमानसम्भवस्य क्षीराश्विजीवनिर्वाणस्वरूपस्य मृत्योर्लक्षणमिदानीं त्रयोविंशाध्यायेन प्रदर्शयते । तत्र प्रथमं निर्वाणकारणं निर्वाणदेशं च सामान्येन सादृश्यिकीदितेनाह—

मृत्युर्मृत्युगृहेक्षणेन बलिभिस्तद्वातुकोपोद्भव-

स्तत्संयुक्तभगात्रजो बहुभवो वीर्यान्वितैर्भूरिभिः ।

अग्न्यम्बायुधजो ज्वरामयकृतस्तृट्कृतश्चाष्टमे

सूर्याद्यैर्निधने चरादिषु परस्वाध्वप्रदेशोऽपि ॥ १ ॥

इति । मृत्युगृहेक्षणेन मृत्युर्मर्त्यतीत्यन्वयः । मृत्युगृहस्य अष्टम-स्थानस्य ग्रहकृतेनेक्षणेन जातस्य मृत्युरादेष्टव्यः । तेन ग्रहेण कृतेने-त्याशङ्क्यामाह— बलिभिरिति । अष्टमनिरीक्षकेषु ग्रहेषु यो बला-धिकः तत्कृतेन मृत्युगृहेक्षणेन मृत्युः । ईक्षणेन कथं मृत्युरित्यत्राह— तद्वातुकोपोद्भव इति । यो ग्रहो मृत्युगृहं पश्यति तस्य धातोः संज्ञा-ध्यायोक्तस्य वातादेः कोषेन उद्भवो यस्य स तद्वातुकोपोद्भवः । सूर्यो बलवान् मृत्युगृहं पश्यति चेत् पित्तकोपोद्भवो मृत्युः, चन्द्रः पश्यति चेद् वातानुगतकफकोपोद्भवः, कुजश्चेद् पित्तोद्भवः, बुधश्चेद् वातपित्त-

१. 'ति द्वा' च. २. 'दर्शयति'। घ. ३. 'नोपदिशति —' ख. ग. घ. च.  
४. 'तेत्या' क. ग. घ. च.

कफोद्भवः, गुरुश्चेद् कफोद्भवः, शुक्रश्चेद् कफवातोद्भवः, शनैश्चरो मृत्यु-  
गृहं पश्यति चेत् कफानुगतवातोद्भव इति द्रष्टव्यम् । तद्धेतुकोपोद्भवः  
शरीरे कुपेत्यत्राह — तत्संयुक्तमगात्रज इति । तेन मृत्युगृहेक्षकग्रहेण  
संयुक्ते वराङ्गादिगात्रे कुपितेन पिच्छादिना जनितः तत्संयुक्तमगात्रजः ।  
तथाविधो मृत्युर्भवतीत्यर्थः । मृत्युगृहं बहवः पश्यन्ति चेत् कथमि-  
त्यत्राह — वीर्यान्वितः भूरिमिः बहुमवो मृत्युः वीर्यान्विता बहवो  
ग्रहा मृत्युगृहेक्षका भवन्ति चेद् बहुमवः तत्तदुक्तधातुकोपैः तत्तदधि-  
ष्ठिताङ्गमवः बहुभिः कारणैः सम्भूतो मृत्युरादेष्टव्यः । मृत्युगृहेक्षक-  
रिति सामान्येन मृत्युकारणमुक्त्वा मृत्युगृहावस्थितस्तद्विशेषमाह —  
अष्टमे सूर्यादिरभ्यम्बायुधजः ज्वरामयकृतः तृक्षुत्कृतश्च मृत्युर्भव-  
तीत्यन्ययः । अष्टमस्थेन सूर्येण अग्निजः बाह्याग्निना जडराग्निना वा  
जनितः । चन्द्रेणाम्युक्तः बाह्यजलेन अन्तर्जलकोपेन वा जनितः । कुजेन  
आयुधकृतः । अष्टमस्थेन बुधेन ज्वरकृतः । गुरुणा (आमयकृतः) आ-  
मयोऽपरिज्ञानव्याधिः तेन कृतः । अष्टमस्थेन शुकेण तृक्षुत्कृतः पिपासा-  
कृतः । मन्देन क्षुत्कृतः क्षुधाकृतो मृत्युरादेष्टव्यः । निर्याणदेश-  
माह — निधने चरादिषु परस्वाध्वप्रदेशेष्विविति । अष्टमराशौ चरगृहे  
परदेशे मृत्युः, स्थिरगृहे स्वदेशे मृत्युः, उभयगृहे अध्वदेशे मृत्युः ।  
इतिशब्दः प्रकारवचनः । “इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु” इति  
यादवः ॥ १ ॥

इति मृत्युस्थानग्रहयोगेक्षणाम्यां सामान्येन मृत्युकारणमुक्त्वा विचित्राणि मृत्यु-  
कारणानि शार्दूलविक्रीडितेनाह —

शैलाग्राभिहतस्य सूर्यकुजयोर्मृत्युः स्वबन्धुस्थयोः

कूपे मन्दशशाङ्कभूमितनयैर्वन्ध्वस्तकर्मास्थितैः ।

कन्यायां स्वजनाद्विओष्णकरयोः पापग्रहैर्दृष्टयोः

स्यातां यद्युभयोदयेऽर्कशशिनौ तोये तदा मज्जतः ॥

इति । सूर्यकुजयोः स्वबन्धुस्थयोः शैलाग्राभिहतस्य मृत्युः स्याः

१. 'त्याह—' ग. घ. च. २. 'स्थाने स' क. ३. 'लेन वा' च. ४. 'समर  
॥ १ ॥' ख. ५. 'न्युपदिशति श्लोकनवकेन—' ग. ग. घ. च. ६. 'मृत्युः' इ' क. घ. च.

दित्यन्वयः । दशमे सूर्ये चतुर्थे कुजे च सति जातस्य शैलाग्राभि-  
धातेन मृत्युः स्यादित्यर्थः । मन्दशशाङ्कभूमितनयैः बन्धवस्तर्कमस्यितैः  
रूपे मृत्युः मन्दे चतुर्थे मस्रमे चन्द्रे दशमे कुजे च स्थिते सति जातस्य  
रूपे मृत्युः । कन्यायामशुभयोर्मध्ये हिमोष्णक्षरयोः पापग्रहदृष्टयोश्च सतोः  
स्वजनान्मृत्युर्भवति । उभयोदये मीनराश्याबुदयस्थे अर्कशशिनौ पापदृष्टौ  
यदि स्यातां तदा तोये मज्जतो मृत्युर्भवति ॥ २ ॥

राशिग्रहयोगकृत्तानि मृत्युकारणानि शार्ङ्गलविक्रीडितेनाह—

मन्दे कर्कटके जलोदरकृतो मृत्युर्मृगाङ्के मृगे

शस्त्राग्निप्रभवः शशिन्यशुभयोर्मध्ये कुजर्क्षस्थिते ।

कन्यायां रुधिरोत्थशोषजनितस्तद्वत् स्थिते शीतगौ

सौरर्क्षे यदि तद्वदेव हिमगौ रज्ज्वग्निपातैर्वधः ॥ ३ ॥

इति । मन्दे कर्कटके मृगाङ्के मृगे च सति जातस्य मृत्युः जलो-  
दरकृतः जलोदरारूपेण महोदररूपाधिविशेषेण कृतो मृत्युर्भवतीत्य-  
न्वयः । तथा शशनि अशुभयोर्मध्ये कुजर्क्षस्थिते सति जातस्य शस्त्रा-  
ग्निप्रभवः शस्त्रेणाग्निना वा निमित्तभूतेन जातो मृत्युः स्यात् । शीतगौ  
कन्यायामशुभयोर्मध्ये तद्वत् स्थिते सति रुधिरोत्थशोषजनितो मृत्युर्भ-  
वति रुधिरास्थितेन शोषेण जनितो मृत्युर्भवति । सौरर्क्षे हिमगौ तद्वदेव  
स्थिते जाती यदि तस्य रज्ज्वग्निपातैर्वधो भवति । रज्ज्वग्निपातैः  
रज्जुना अग्निना पातेन वा मरणं भवति ॥ ३ ॥

अथान्यानरिष्टयोगान् शार्ङ्गलविक्रीडितेनाह—

लग्नाद्दीनवमस्थयोरशुभयोः सौम्यग्रहादृष्टयो-

र्द्रेक्काणैश्च भेषाशसर्पनिगलैश्छिद्रस्थितैर्बन्धनात् ।

कन्यायामशुभान्वितोऽस्तमयगे चन्द्रे सिते भेषगे

सूर्ये लग्नगते च विद्धि मरणं स्त्रीहेतुकं मन्दिरे ॥ ४ ॥

इति । अशुभयोर्लग्नाद्दीनवमस्थयोः सौम्यग्रहादृष्टयोः सतोः

१. 'ह' क. २. 'न्याह' घ. च. ३. 'क्षे' च. ४. 'मकरे' च. क. ५. 'त्युः'  
सौ' घ. च. ६. 'ति' ॥ ३ ॥ लग्ना' घ. च. ७. 'सप्तर्षि' च.

जातस्य छिद्रेस्थितैः संपाशसर्पनिगलैर्द्रैश्चाणैश्च निमित्तभूतैः वन्धना-  
न्मृत्युर्भवतीत्यन्वयः । अशुभान्विते चन्द्रे कन्यायामस्तमयगे सिंते  
मेघे स्थिते च सूर्ये लग्नगते च सति जातस्य मन्दिरे स्त्रीद्वेतुकं मरणं  
विद्वातीत्यन्वयः ॥ ४ ॥

अथान्यानरिष्टयोगान् शार्ङ्गलक्षिकीदितेनाह—

शूलोद्भिन्नतनुः सुखेऽवनिमुते सूर्येऽपि वा खे यमे  
सप्रक्षीणहिमांशुभिश्च युगपत्पापैस्त्रिकोणाद्यगैः ।

बन्धुस्थे च रवौ वियत्यवनिजे क्षीणेन्दुसंवीक्षिते

काष्ठेनाभिहतः प्रयाति मरणं सूर्यात्मजेनेक्षिते । ५ ॥

इति । सुखे अवनिमुते सूर्ये वा स्थिते तथा खे दशमे यमे मन्दे  
च स्थिते सति शूलोद्भिन्नतनुः मरणं प्रयातीत्यन्वयः । सप्रक्षीण-  
हिमांशुभिः पापैः क्षीणचन्द्रसहितैः अकारिमन्दैर्युगपत् त्रिकोणाद्यगैः  
त्रिकोणयोरक्षै च स्थितैश्च शूलोद्भिन्नतनुर्मरणं प्रयाति । लग्नपञ्चम-  
नवमेषु यथासम्भवं स्थितैः क्षीणेन्द्रकारिमन्दैश्च शूलमरणं भवतीत्यर्थः ।  
बन्धुस्थे रवौ अवनिजे वियति दशमस्थिते क्षीणेन्दुसंवीक्षिते च सति  
जातः शूलोद्भिन्नतनुर्मरणं प्रयाति । अत्रैव योगे क्षीणेन्दुसंवीक्षितत्वं  
विना सूर्यात्मजेनेक्षिते सति काष्ठेनाभिहतो मरणं प्रयाति । उत्र चतु-  
र्थस्य रवौ दशमस्थे भौमे च द्वौ योगावुक्तौ । तत्रैको भौमस्य क्षीण-  
चन्द्रदृष्टत्वे, सति शूलमरणफलः, अपरो भौमस्य सूर्यात्मजदृष्टत्वेन  
काष्ठाभिघातान्मरणप्रद इति । अत्र श्लोके शूलमरणयोगास्त्रयः प्रद-  
र्शिताः काष्ठान्मरणयोगश्चैकः ॥ ५ ॥

अथान्यानरिष्टयोगान् यमन्तविलेखेनाह—

रन्ध्रास्पदाङ्गादिवुकैर्लकुटाहताङ्गः

प्रक्षीणचन्द्ररुधिरार्कसुतार्कयुक्तैः ।

तैरेव कर्मनवमोदयपुत्रसंस्थै-

धूमाग्निबन्धनशरीरानिकुट्टनान्तः ॥ ६ ॥

१. 'ससर्पपाशानि च' २. 'पस्वि च' ३. 'य ॥ ४ ॥ शूलो घ. च' ४  
'मे', ५. 'णमेति' क ग घ च ६. 'य. का घ' ७. 'कः ॥ ५ ॥ रन्ध्रा' ८. च,

इति । रन्ध्रास्पदाङ्गहियुक्तैः प्रक्षीणचन्द्ररुधिरार्कसुतार्कयुक्तैः लङ्कटाहताङ्गः मरणं प्रयाति । रन्ध्रे क्षोणेन्दुना दशमे भागेन लगे अर्क-  
सुतेन चतुर्थे अर्केण च युक्ते सति जातः लङ्कटाहताङ्गो मरणं प्रयाति ।  
लङ्कटो दण्डविशेषः । तैरेव तैः प्रक्षीणचन्द्ररुधिरार्कसुतार्कैरेव यथाक्रमं  
कर्मनवमोदयपुंश्रमरथैः जातस्य धूमाग्निबन्धनशरीरानिबुद्धनान्तो  
भवति, धूमेन अग्निना वा बन्धनेन वा शरीरानिबुद्धनेन वा अन्तो मृत्यु-  
र्भवति । शरीरानिबुद्धनं काष्ठपाषाणादिभिः शरीराभिहननम् ॥ ६ ॥

अथान्यामप्यरिष्टयोगान् वसन्ततिलकेनाह—

बन्ध्वस्तकर्मसहितैः कुजसूर्यमन्दै-

निर्याणमायुधशिखिक्षितिपालकोपात् ।

ज्ञेयः क्षतक्रिमिकृतश्च शरीरपातः

सौरेन्दुभूमितनयैः स्वसुखास्पदस्थैः ॥ ७ ॥

इति । बन्ध्वस्तकर्मसहितैः कुजसूर्यमन्दैरायुधशिखिक्षितिपाल-  
कोपाद् निर्याणं बन्ध्वादिभिः यथाक्रमं कुजादियुक्तैः जातस्यायुधेना  
ग्निना राजकोपेन वा निर्याणं भवतीत्यर्थः । सौरेन्दुभूमितनयैः यथा-  
क्रमं स्वसुखास्पदस्थैः जातस्य शरीरपातः क्षतक्रिमिकृतः ज्ञेयः, क्षत-  
मयैः क्रिमिभिः कृतो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

अथान्यामप्यरिष्टयोगान् शार्ङ्गविप्रीक्षितेनाह—

स्वस्थेऽर्केऽवनिजे रसातलगते यानप्रपाताद् बधो

यन्त्रेऽपीडनजः कुजेऽस्तमयगे सौरेन्द्विनाभ्युद्गमे ।

विषमध्ये रुधिरार्केशीताकरणैर्जृम्भजसौरक्षगे-

र्यातैर्वा गलितेन्दुसूर्यरुधिरैर्व्योमास्तबन्ध्वाह्वयान् ॥ ८ ॥

इति । स्वस्थे अर्के अवनिजे रसातलगते यानप्रपाताद् बधः या-  
नाद् हयगजरथशिविकाद्यन्यतमात् प्रपातेन बधो भवति । अत्र पूर्वं  
‘श्रीशग्राभिहतस्य सूर्यकुजयोर्मृत्युः स्वबन्धुस्थयोरित्यत्रोक्तस्य योगस्य

१. ‘रह’ ख. २. ‘म’ ॥ ६ ॥ बन्ध्व’ घ. च. ३. ‘यः’ ॥ ७ ॥ स्वस्थे’ घ. च.

४. ‘स्व’ घ.

पुनरप्युपादाने फलान्तरनिर्देशेन च सर्वेषामत्रोक्तानां योगानां  
 राश्यंशयोगेक्षणवशाद् ध्यमिचामे बुद्धिगद्गिरभ्युद्य इति द्योत्यते ।  
 कुजे अस्तमयगे सौरेन्द्विनाभ्युद्गमे यन्त्रोत्पीडनजो वधः । चन्द्रादित्य-  
 मन्दानामुदये सप्तमस्य कुजे च जातस्य यन्त्रोत्पीडनजो वधो भवति ।  
 यन्त्रोत्पीडनजः कुजेऽस्तमयगे क्षीणेन्दुमन्त्रीक्षिते इति वा पाठः । रुधि-  
 राकिंशोत्किरणैः जूकाजसार्धैः जातः विषमध्ये त्रियते सौरधै  
 मकरो वा कुम्भो वा । विषमध्ये मलमध्ये । गलितेन्दुसूर्यरुधिरैः व्योमा-  
 स्तवन्वाहयान् यातैर्वा विषमध्ये त्रियते । गलितेन्दुः गलितश्च्येन  
 बलशून्यत्वमधोच्यते । विषमध्यमरणं मरणवेलायाम् अकृतशौचस्य  
 मलमध्यशायित्वम् ॥ ८ ॥

अथान्यानप्यरिष्टयोगान् वेतार्त्तयेनाह —

वीर्यान्वितवक्रवीक्षिते

क्षीणेन्दौ निधनस्थितेऽर्कजे ।

गुह्योद्भवरोगपीडया

मृत्युः स्यात्कृमिशस्त्रदाहजः ॥ ९ ॥

इति । क्षीणेन्दौ वीर्यान्वितवक्रवीक्षिते अर्कजे निधनस्थिते  
 सति गुह्योद्भवरोगपीडया कृमिशस्त्रदाहजः मृत्युः स्यादित्यन्वयः ।  
 चन्द्रस्य क्षीणत्वं बलवत्कुजदृष्टिश्च यत्र तत्र स्थितस्यापि रक्तकोप-  
 फरत्वं जनयति । अर्कजस्य अष्टमराशिगतस्य व्यञ्जनर्क्षमिफरत्वं  
 च युगपत् सम्भवति चेद् गुह्यरोगेण कृमिशस्त्रदाहजनितः मृत्युर्भव-  
 तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथान्यानप्यरिष्टयोगान् चसन्ततिष्ठकेनाह —

अस्ते रवौ सरुधिरे निधनेऽर्कपुत्रे

क्षीणे रसात्तलगते हिमगौ खगान्तः ।

१. 'नां रा' क. ग. २. 'ति । रुं घ. घ ३. 'ध्ये मृत्युः । जूकगते खजगते  
 सौ' ग. घ. ४. 'म् ॥ ८ ॥ वीर्या' घ. घ. ५. 'कुं', ६. 'हारित्वं' घ ७. 'त्यः  
 ॥ ९ ॥ 'वस्ते' ख ग. घ. घ.



लग्नात्मजाष्टमतपःस्विनभौममन्द-

चन्द्रैस्तु शैलशिखराशनिकुड्यपातैः ॥ १० ॥

इति । रवौ अस्तगते सरुधिरे अर्कपुत्रे निधनस्थिते क्षीणे हिमगौ रसातलगते च प्रातस्य खमान्तः खगैरन्तो भवति पक्षिभिर्भक्ष्यमाणस्य मरणं भवतीत्यर्थः । इनभौममन्दचन्द्रैः यथाक्रमं लग्नात्मजाष्टमतपस्तु स्थितैः जातस्य शैलशिखराशनिकुड्यपातैरन्तो भवति । शैलशिखरपतनेन वा अशनिपतनेन वा कुड्यपतनेन वा मृत्युर्भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

पदमश्लोकानां विचित्रमृत्युकारणयोगानामभावे पूर्वप्रदर्शितयोर्मृत्युगृहस्य ग्रहयोगे क्षणयोर्वन्वभावे सति ध्रुवत्वेन भाविनः मृत्योः कारणं वैष्णवीयेनाह—

\* द्वाविंशतिमस्तु कारणं

द्रेक्काणो निधनस्य सूरिभिः ।

तस्याधिपतिर्भगोऽपि वा

निर्याणं स्वगुणैः प्रयच्छति ॥ ११ ॥

इति । द्वाविंशतिमो द्रेक्काणस्तु निधनस्य कारणं सूरिभिः कथित इति शेषः । द्वाविंशतिमः जन्मद्रेक्काणादारभ्य द्वाविंशतिमः अष्टमराशिस्थो द्रेक्काण इति यावत् । स द्रेक्काणः मरणस्य कारणं कथितः । कथमित्यत्राह— तस्याधिपतिर्भगोऽपि वा स्वगुणैर्निर्याणं प्रयच्छतीत्यन्वयः । तस्याधिपतिः द्वाविंशतिमद्रेक्काणाधिपतिः भगोऽपि वा अष्टमराश्याधिपोऽपि वा स्वगुणैः यथेत्तरात्मीयगुणैः वातादिभिर्निर्याणं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

परस्वाध्वप्रदेशोऽपि पूर्व प्रदर्शितस्य विशेषकथनार्थं वसन्तविल(केना/कमा)ह—

होरानवांशकपयुक्तसमानभूमौ

योगक्षणादिभिरतः परिकल्प्यमन्यत् ।

१. 'मुते' च. २. 'वा कु' घ. च. ३. 'हेक्ष' क. ४. 'णमाह—' घ. च.

५. 'वारण' च.

\* 'द्वाविंशः कथितस्तु कारणम्' इत्यन्यत्र मुद्रितः पाठस्तु समीचीनः ।

मोहस्तु मृत्युसमयेऽनुदितांशतुल्यः

स्वशिक्षिने द्विगुणितस्त्रिगुणः शुभैस्तु ॥ १२ ॥

इति । होरांशकपयुक्तसमानभूमौ मरणं भवतीति सम्बन्धः । होरा लग्नं तत्र यो नवांशक उदीयमानः तस्य योऽधिपतिः स यत्र स्थितः तत्प्रमानायां भूमौ मेघवृषयोर्दिवा । अरण्यक्षेत्रे रात्रौ ग्रामे च इत्यादिशास्त्रिणां स्वस्वगोचरवशाद् वक्तव्यम् । अतोऽन्यदपि योगे-  
क्षणदिभिः परिकल्प्य ग्रहयोगेन च ग्रहेक्षणेन च तद्भूमिगता विशेषा वक्तव्याः । मृत्युसमये मोहस्तु निर्याणकाले मोहः इन्द्रियाज्ञानम् अनुदितांशतुल्यः लग्नराशौ यावन्तोऽंशका अनुदिताः तावन्तो मोहा भवन्ति अन्तरांतरा ज्ञानसम्भवेन मोहानां बहुत्वम् । पुनरपि मोह-  
प्रमाणमाह— स्वशिक्षिते द्विगुणितः लग्नस्य लग्नाधिपदर्शने सति अनुदितांशतुल्यो मोहा द्विगुणितो वक्तव्यः । शुभैस्तु त्रिगुणः लग्नस्य शुभदृष्टौ सत्याम् अनुदितांशतुल्यप्रमाणा मोहावस्थास्त्रिगुणा भवन्ति । अत्र प्रदर्शितैः कारणैरुत्पाद्यधरमोच्छ्वासकालः कदा भवतीति जिज्ञा-  
सायां पूर्वत्र प्रदर्शितायुर्दायाध्यायनिर्णयस्यायुषोऽवसाने निर्याणमिति प्रतिपत्तिरङ्गीकर्तव्या । सा चायुर्वेदोपदेशेन विरुध्यते । तथाहि—

“मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् ।

तयोरप्यक्षयाद् दृष्टं विषमापरिहारिणाम् ।”

अस्यार्थः । प्राणिनां मरणम् आयुःपुण्योभयक्षयाद् दृष्टम् । आयुः-  
क्षये पुण्यक्षये आयुःपुण्ययोरुभयोरपि क्षये प्राणिनां मरणं दृष्टम् । अपिच— आयुःपुण्ययोः क्षेपे विद्यमानेऽपि विषमापरिहारिणां मरणं दृष्टम् इति । तस्मादवान्तरेषु दशान्तर्दशासन्धिषु च निर्याणं भवतीति पूर्वाचार्यप्रदर्शितो मार्गः तदविरोधार्थमङ्गीकर्तव्यः । अथा-  
युर्दायोक्तसङ्ख्याविशेषाणां सङ्ख्येयैः कालांशकैः सम्बन्धः । कालां-  
शकाश्च बहुविधाः “अयनक्षणवासरर्तवो मासोऽर्धं च समाश्च भास्क-  
राद्” इति प्रदर्शिताः । “अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिदं फलमश्नुते”

१. 'श्र ॥ १२ ॥' घ २. 'स्य', ३. 'श ड' ख. ४. 'रा ज्ञा'; ५. 'हः स्वे'  
ग. घ ६. 'प्र द' ख. ७. 'ता. । तेषाम् अत्यु' क ग घ च.

इत्यादिवचनबलाद् अत्युत्कृष्टपुण्यकरणेन मासवासरघटिका वर्षमास-  
दिवसा भवेयुः । तथैवात्युत्कृष्टपापकरणेन वर्षमासदिवसा मासदि-  
वमघटिकाश्च भवेयुरित्यवगम्यते । अतो निर्याणकालज्ञानं पूर्वाचार्य-  
प्रदर्शितैर्निर्याणयोगैः शनिगुरुरविचन्द्रचारनिष्पन्नैरपि निरूपणीयम् ।  
तथाच पूर्वाचार्याः ब्रुवते —

“लग्नपगुरुरविचन्द्रान् शशिना संयोज्य यद्भवेत्ताम्रम् ।

शनिगुरुरविचन्द्राणां तस्मिन्नृक्षे हिलान्त्य उच्छ्वासः ॥”

अत्रायं सम्प्रदायः जन्मफाले लग्नाधिपस्य गुरो रमेश्वन्द्रस्य च मन्दस्य  
च स्फुटराक्षयानि तत्कालगुलिकवाक्यं च पृथक् पृथक् विचार्य निर्या-  
णयोगनिरूपणं क्रियते । तत्र प्रथमं लग्नस्फुट मन्दस्फुट च सं-  
योज्य तस्मिन् गुलिकं च योजयेत् । तत्र यन्नक्षत्रं भवति तत्र निर्या-  
णमन्दः । पुनस्तत्रैव गुरुं संयोज्य गुलिकं योजयेत् तन्नक्षत्रे निर्या-  
णगुरुः । पुनरपि तत्रैव रविं संयोज्य गुलिकं योजयेत् तन्नक्षत्रे  
निर्याणरविः । पुनश्च तस्मिन्मन्दं संयोज्य गुलिकं योजयेत् तन्नक्षत्रे  
निर्याणचन्द्रः । शनिगुरुरविचन्द्रेषु चारवशादेवमानीतनक्षत्रेषु यथा-  
क्रमं युगपत् स्थितेषु सत्सु अन्त्योच्छ्वास इत्येको निर्याणयोगः । पुन-  
रन्यथापि निर्याणलक्षणमुच्यते—

“लग्नाधिपस्थितनवांशकराशितुल्यं-

- रन्ध्राधिपस्य गृहमापतितो घटेशः ।

तस्मिन्मन्देन्मरणमेतदनकशास्त्र

संक्षुण्णभिन्नमतिभिः परिकीर्तितं तत् ॥

मृतीशनाथस्थितभांशकेशयोर्मन्दगाणाधिपयोर्बलीयसः(?) ।

दशागमे मृत्युपयुक्तभांशकत्रिकोणगे देवगुरौ तनुक्षयः ॥

‘प्राग्लग्नमान्दिस्फुटयोगभांशे निर्याणमासं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

निर्याणचन्द्रं गुलिकेन्दुयोगे राशिं च मान्दोन्दुबिलग्नयोगे ॥”

इत्यादिषु पूर्वाचार्यप्रदर्शितेषु बहुविधेषु निर्याणयोगेषु स्वगुरूपदिष्टेन मार्गेण निर्याणममयो निर्देष्टव्यः । निर्याणं नाम देहिनो जीवात्मनो देहात् शुक्लशोणितोत्पन्नात् पञ्चमौतिकात् कियन्तं कालमावासभूता-  
न्निर्गमनम् ॥ १२ ॥

तस्मिन् निर्याणे देहिनो देहस्य च पृथग्भावे सति शब्दभूतस्य देहस्य परिणामश्चतुर्विधो भवति । तदैकोऽग्निमंस्कारे भस्मीभावः । द्वितीयो जलगतत्वेन क्लेदीभावः । तृतीयो घातातपमंस्पर्शवशाच्छुष्कभावः । चतुर्थः प्रत्यागमक्षणदशाभस्मीभाव इति । तेषां लक्षणं<sup>१</sup> मालिन्वाह—

दहनजलविमिश्रैर्भस्मसंक्लेदशोपै-

निधनभवनसंस्थैर्व्यालवर्गैर्विडन्तः ।

इति शवपरिणामश्चिन्तनीयो यथोक्तं

पृथुविरचितशास्त्राद् गत्यनूकं च चिन्त्यम् ॥ १३ ॥

इति । निधनभवनसंस्थैः दहनजलविमिश्रैः भस्मसंक्लेदशोपैः शवपरिणामः चिन्तनीय इत्यन्वयः । निधनभवनसंस्थैः अष्टमराशिस्थितैः दहनजलविमिश्रैः ग्रहैर्ग्रहवर्गैर्वा दहनग्रहैर्लोकजकेतुभिः जलग्रहाभ्यां शशिशुक्राभ्यां मिश्रैः गुरुबुधमन्दैः निमिचभूतैः भस्मसंक्लेदशोपैः यथाक्रमं भस्मत्वेन क्लेदत्वेन शुष्कत्वेन च शवपरिणामश्चिन्तनीयः । निधनभवनसंस्थैः व्यालवर्गैः विडन्त इति । इतिशब्दः प्रकारवचने निधनभवनसंस्थैः व्यालवर्गैः हिंस्रवर्गैः द्रेक्षाणरूपैरिति यावत् । विडन्ता भवति शवभक्षैर्भक्षितत्वादन्ते विष्टा भवतीत्यर्थः । अथ देहान्निर्गतस्य देहिन उचरावस्थां देहप्रवेशात् पूर्वावस्थां च संक्षेपेण सूत्रयति । पृथुविरचितशास्त्राद् यथोक्तं गत्यनूकं च चिन्त्यं पृथुविरचितशास्त्राद् यवनादिभिः पृथुत्वेन विरचिताच्छास्त्राद् यथोक्तं तत्र यथाप्रतिपादितं गत्यनूकं, गतिरुत्तरावस्था अनूकं पूर्वजन्मावस्था एतद् द्वित्यं च वन्मकालग्रहस्थितिवशेन चिन्तनीयमित्यर्थः ॥ १३ ॥

१ 'पु नि' क. २. 'ण हि स' ग.; 'ण देहिम' च. ३. 'णमाह—' घ. ४. 'न्त इतिश'; ५. 'क्षकर्म' घ. ६. 'शवशा'

तदप्रकारं च संक्षेपेण मालिन्याह—

गुरुदुपतिशुकौ सूर्यभौमौ यमज्ञौ

विबुधपितृतिरश्चो नारकीयांश्च कुर्युः ।

दिनकरशशिवीर्याधिष्ठितत्र्यंशनाथाः

प्रवरसमनि कृष्टास्तुङ्गभागादनूके ॥ १४ ॥

इति । तत्र प्रथममनूकमाह— गुरुः उदुपतिशुकौ सूर्यभौमौ यमज्ञौ क्रमेण अनूके विबुधपितृतिरश्चः नारकीयांश्च कुर्युः इत्यन्वयः । तत्र 'गुरु'नूके देवं करोति देवल्लोकादागतं करोति । उदुपतिशुकौ पितृलोकादागतं कुरुतः । सूर्यभौमौ तिर्यश्चः पशुपक्ष्यादयः तत्सङ्घादागतं कुरुतः । यमज्ञौ नारकीयान् नरकादागतं कुरुतः । 'पितृलोकशब्देन प्रेतभूतमानुषावस्थानदेश उच्यते । कीदृशा गुर्वादयो देवादीन् कुर्वन्तीत्यत्राह— दिनकरशशिवीर्याधिष्ठितत्र्यंशनाथा इति । दिनकरश्च शशी च दिनकरशशिनौ । तयोर्यो वीर्यवान् तेनाधिष्ठितस्य त्र्यंशस्य द्रेकाणस्य योऽधिपतिः स दिनकरशशिवीर्याधिष्ठितत्र्यंशनाथः स गुरुश्चेद् देवल्लोकादागतं करोति । चादृशौ उदुपतिशुकौ चेत् पितृलोकादागतं कुरुतः इत्यादि द्रष्टव्यम् । तुङ्गभागात् प्रवरसमनिकृष्टाः परमनीचादारम्य परमोद्यान्तःप्रदेशस्तुङ्गशब्देनोच्यते पद्माश्यात्मके तस्मिन् त्रिधा विभक्तं या भागः तद्वशात् प्रवरममनिकृष्टाः देवादयो भवन्ति । तत्र परमोद्यासन्ने राशिद्वये प्रवरः, तदधस्तने मध्यराशिद्वये गुर्वादयश्चेन्मध्यः, तदधः नीचासन्नराशिद्वये गुर्वादयश्चेन्निकृष्टा देवादयो भवन्तीत्यर्थः । तुङ्गहानादिति केचित् पठन्ति । हानं व्युत्तिः तद्वशादित्यर्थः । अस्मिन् पक्षेऽपि पूर्वोक्त एव प्रकारः ॥ १४ ॥

अथ निर्याणान्तरमवां गतिं मालिन्याह—

गतिमपि रिपुरन्ध्रत्र्यंशपोऽस्तस्थितो वा

गुरुथ रिपुकेन्द्रच्छिद्रगः स्वोच्चसंस्थः ।

१. 'णाह—' घ. च.

२. 'रत्नतिनोयो' घ.

३. ४. 'ये म' क.

५. 'ति दसपति—' ख. ल. घ. च.

उदयति भवनान्ते सौम्यभागे च मोक्षो

यदि भवति बलेन प्रोज्झितास्तत्र शेपाः ॥ १५ ॥

इति । रिपुर्न्ध्रव्यंशपः रिपुव्यंशपः षोडशद्रेक्काणाधिपः रन्ध्र-  
व्यंशपः द्वाविंशतितम द्रेक्काणाधिपः गुर्वादिव्यन्यतमो ग्रहो बल-  
वान् गतिं करोति यथोक्तक्रमेण देवल्लोकादिगतिं करोति । अस्तस्थितौ  
वा सप्तमराशिस्थितौ ग्रहो वा । अर्थात् षष्ठस्थितौ रन्ध्रस्थितोऽपि ।  
ग्रहाभावे खलु द्रेक्काणाधिपेन फलं वक्तव्यम् । तस्मात् षष्ठस्थितः सप्त-  
मस्थितोऽष्टमस्थितोऽपि वा चक्षुषान् गुर्वादिव्यन्यतमो ग्रहः यथोक्तां  
गतिं प्रयच्छति । त्रिप्त्रिंशे स्थानेषु ग्रहाभावे सति षोडशद्रेक्काणाधिपो  
द्वाविंशति(त)म द्रेक्काणाधिपो वा बलाधिकः स्वकीयां देवल्लोकादिगतिं  
प्रयच्छतीत्यर्थः । गुरुः देवलोकागतिं, उदुपतिशुक्रैः मनुष्ययोनिगतिं,  
सूर्यमौर्मा तिर्यग्योनिगतिं, यमघ्नौ नरकगतिं च कुर्वन्तीत्यर्थः । अथ  
भवनान्ते सौम्यभागे उदयति स्वचसंस्थः गुरुः रिपुकेन्द्रछिद्रगः  
यदि तदा मोक्षो भवतीत्यन्वयः । तत्र शेपाः बलेन प्रोज्झिताः भव-  
नान्ते सौम्यभागे । भवनान्त इत्यत्रान्तशब्देन अन्यद्रेक्काणः । तत्र च  
सौम्यभागे अन्तपद्रेक्काणा-स्यवर्तिनि बुधार्थे जीवांशे वा उदयति उदय-  
लग्ने सति स्वोच्चमंस्थः कर्कटस्थो गुरुः शत्रुस्थानं वा केन्द्रेषु वा  
अष्टमे वा स्थितो यदि भवति तदा मोक्षो भवति । अपुनर्जन्मनां  
निर्याणं भवतीत्यर्थः । अपिः शब्देन मरणममयेत्येवं गुरुः स्थितश्चेत्  
मोक्षो भवतीति धोत्यते तत्र शेपाः गुरोर्गन्ये ग्रहाः दलरहिताश्च यदि  
भवन्ति तर्दय मोक्षो भवेदित्यर्थः । शेपादीनां राशीनामन्त्यनशांशे  
धनुःकन्यामिथुनमीनानामन्यतमाम्नि(१) नव शक्रे उदयति परमोदस्ये  
गु(रु)रौ लग्नं चतुर्थे षष्ठे सप्तमेऽष्टमे दशमे वा स्थिते सति शेपा ग्रहा  
बलहीनाश्चेन्मोक्षः स्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति होराविपरणे निर्याणाध्यायस्यैवंविधः ॥

१. 'न उदयति स्वोच्चमंस्थः गुरुः रिपुकेन्द्रछिद्रगस्य अन्त्य' च २. 'ति  
रदाहते बुधजगतद्वयि' क, 'ति रदाहतेचिन्त बुधजगतद्वयि' घ.

## अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ।

विज्ञातजन्मसमयानां तात्कालिकलक्षणग्रहस्थितिविशेषेन जननादिनिर्याणान्तसमय-  
सम्भवफलविशेषलक्षणानि प्रदर्श्य इदानीमविज्ञातजन्मनामपि पृच्छकानां दृष्टजातकव-  
लक्षणकथनाय तदुपादानभूतनष्टजातकज्ञानोपायप्रदर्शनमारभ्यते चतुर्विंशाध्यायेन ।  
सूत्रे प्रथमं तदितिकर्तव्यतामिन्द्रवज्राह—

आधानजन्मापरिवोधकाले

सम्पृच्छतां जन्म वदेद् विलम्भात् ।

पूर्वापरार्धे भवनस्य विद्याद्

भानाबुद्गदक्षिणगे प्रसूतिम् ॥ १ ॥

इति । आधानजन्मापरिवोधकाले सम्पृच्छतां जन्म विलम्बाद्  
वदेदित्यन्वयः । आधानं च जन्म च आधानजन्मनी तयोरपरिवोधकाले  
सम्पृच्छतां सम्यक् पृच्छतां जिज्ञासया शुभवारे शुभनक्षत्रे शुभ-  
तिथौ भक्त्या सह पृच्छतां जन्म जातकं विलम्बाद् विशिष्टलम्बात्  
प्रश्नाविशिष्टसमयसम्भवाद् उदयलम्बात् “लघ्वलोपे पञ्चमी” लग्नं  
विज्ञाय तेन साधनेन वदेदित्यर्थः । सम्यक्प्रश्नप्रकारस्तु महा-  
यात्रायामुक्तः—

“तस्मान्नृपः कुसुमरत्नफलाग्रहस्तः

प्रातः प्रणम्य रवये हरिदिङ्मुखस्थः ।

होराङ्गतन्त्रकुशलान् हितकारिणश्च

सङ्गृह्य दैवगणकान् सकृदेव पृच्छेत् ॥”

इति । तत्रैव दैवत्रस्य इतिकर्तव्यताप्युक्ता— “अथ नृपतिसमीपे  
दैववित् पृष्टमात्रः फलमुदयनिमित्तैस्तर्क्येच्छास्त्रबुद्ध्या” इति । अत्र  
पृष्टमात्रो दैवविद् उदयनिमित्तैः शास्त्रबुद्ध्या फलं तर्कयेद् इत्युक्तौ  
शास्त्रोपस्कृतया बुद्ध्या फलनिरूपणाय साधनतयोक्तानि उदयनिमि-  
त्तानि । तत्रोदय उदयलग्नं, निमित्तानि ग्रह्यग्रहक्षतदृश्यगतानि तात्का-  
लिकमक्ष्याहृताकाररुतादीनि विशेषलक्षणानि लक्षणानि । तत्रोदय-  
लग्नानपनं ‘होरेत्यहोरात्रवैकल्पमित्यत्र सूत्रितमत्र कर्तव्यम् । तेन

समतलविन्यस्तशङ्कुच्छायाविपरीतगणितलब्धदिनगतनाडिकाविनाडिकादिसम्यगुत्पादितेन विलम्बेन जन्म अननकालं वदेत् । आधानकालज्ञानस्य गर्भविषयभावाभावाप्रत्यक्षपुष्टिप्रसवकालविशेषज्ञानभावेणोपक्षीणफलत्वाद् अल्पप्रयोजनत्वेन जन्मकालस्य तु निर्देष्टव्यत्वमाचार्येणोक्तम् । जन्मकालज्ञानेन हि यावज्जीवितसम्भवानि नित्यानि नैमित्तिकानि च बहुविधानि फलानि वक्ष्यन्त्यानि । निपेक्षकालजननकालयोरान्तरालिकफलविशेषाणामपि केनचिज्जिज्ञासितत्वे तान्यपि तत्काललग्नवशाद् वक्तव्यानीति द्योतयितुं वा निपेक्षकालस्य दुरवबोधत्वेन गर्भकालफलानि प्रश्नकालविलम्बेन वक्तव्यानीति द्योतयितुं वा अत्राधानप्रश्नस्य प्रसङ्गः कृत इति द्रष्टव्यम् । नष्टजातकप्रश्ने सामान्येन गुरुरविचन्द्रलग्नानां चतुर्णां स्वरूपमादेष्टव्यम्, अन्येषां प्रायशस्तन्मुखेनावगन्तव्यत्वात् । तत्र अयनर्तुमासानां सूर्यसम्बन्धित्वात् तज्ज्ञानाय प्रथममयनज्ञानोपायमाह — पूर्व्वेति । भवनस्य पूर्वापरार्धे भानौ उदग्दक्षिणगे प्रसूतिं विद्यादित्यन्वयः । भवनस्य उदयलग्नराशेः पूर्व्वार्धे लग्नगते सति भानौ उदग्गे उत्तरायणगते सति प्रसूतिं विद्यात् । तथा राशेरपरार्धे लग्नगते सति दक्षिणगे दक्षिणायनगते भानौ प्रसूतिं विद्यादित्यर्थः । अत्र पूर्वापरार्धग्रन्थेन आदित्यहोरायामुत्तरायणे चन्द्रहोरायां दक्षिणायने जन्म इत्यपि द्योत्यते । दूतचेष्टां च दर्शयति— शरीरे दक्षिणभागे स्पृशति चेद् उत्तरायणे, वामभागे दक्षिणायने । स्वावस्था च वार्या दक्षिणस्य उत्तरायणे, वामे दक्षिणायने जन्म इति च द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

गुरुज्ञानार्थमिन्द्रवज्रमाह—

लग्नत्रिकोणेषु गुरुं त्रिभागे-

विकल्प्य वर्षाणि वयोनुमानात् ।

ग्रीष्मोऽर्कलग्ने कथितास्तु शैष-

रन्यायनर्तावृतुर्कचारात् ॥ २ ॥



इति । लग्नत्रिकोणेषु त्रिभागेः गुरुं विधात् । लग्नस्य त्रिकोणेषु  
 द्रेक्षाणैः — लग्नस्य प्रथमद्रेक्काणे लग्नगतं गुरुं विधात्, द्वितीयद्रेक्काणे  
 पञ्चमगतं, तृतीयद्रेक्काणे नवमगतं गुरुं विधात् । वर्षाणि वयोनुमानाद्  
 विकल्प्य विधात् । वर्षाणि गुरोर्वर्षाणि द्वादशराशिचारजनितानि  
 वर्षाणि । तेषु गुरोरावृत्तयः कति गता इति वयोनुमानात् प्रष्टुर्व्यसोऽनु-  
 मानात् ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र नुमानादिति पञ्चाशता द्रेक्काणद्वा-  
 दशांशः सूचितः । तेन स्वभादिकेन वा भेषादिकेन वा गुरुवर्षावृत्तयः  
 कल्प्या इत्युपदेशार्थः । ऋतुलक्षणमाह — ग्रीष्म इति । अर्कलग्ने-ग्रीष्मः  
 ऋतुः ज्ञेयः । पूर्वं संज्ञाप्याये अर्कस्य ऋतुसम्बन्धो न दर्शित इति  
 अत्रोक्तं ग्रीष्मोऽर्कलग्ने इति । अर्थादर्कस्य द्रेक्काणेषुपि ग्रीष्म इति  
 द्रष्टव्यम् । शेषैस्तु कथिताः । शेषैः शशुरुचत्तवादिषु कथिताः शिशिरा-  
 दयः शिशिरवसन्तग्रीष्मप्रावृत्त्यरद्वेमन्ता ऋतवः क्रमेण शशुरुचत्तवा-  
 दीनामुदयेन द्रेक्काणैर्वा ज्ञेयाः । तत्र शिशिरवसन्तग्रीष्मा उत्तराय-  
 णस्या ऋतवः । अन्ये दक्षिणायनस्थाः । ऋतुज्ञाने विशेषमाह —  
 अन्यायनर्तौ अर्कचाराद् ऋतुरिति । अयनस्य ऋतोश्च अन्यत्वे लक्षण-  
 वशात् प्राप्ते सति उत्तरायणे दक्षिणायनर्तौ दक्षिणायने उत्तरायणर्तौ च  
 प्राप्ते सति अर्कचारोऽयनं तद्वशाद् ऋतुरेव परिवर्तनीयः । अयनं यथा-  
 प्राप्तमेव ज्ञेयमित्यर्थः ॥ २ ॥

ऋतुपरिवर्तनप्रकारमिन्द्रजिवाह —

चन्द्रजिवाः परिवर्तनीयाः

शुक्रारमन्दैरयने विलोमे

द्रेक्काणभागे प्रथमे तु पूर्वो

मासोऽनुपाताच्च तिथिर्विकल्प्या ॥ ३ ॥

इति । अयने विलोमे चन्द्रजिवाः शुक्रारमन्दैः परिवर्तनीया  
 इत्यन्वयः । प्रावृद्धवमन्तौ शरद्ग्रीष्मौ हेमन्तशिशिरौ च परिवर्तनीया  
 इत्यर्थः । अर्कस्यापि बुधेन परिवृत्तिः कुजवद् द्रष्टव्या । प्रथमे द्रेक्काण-  
 भागे पूर्वो मासः । द्रेक्काणे द्विधा विभक्ते सति तत्पूर्वार्धं लग्नगतं चेन्मा-  
 सद्वयात्मकस्य ऋतोः प्रथमे मासि, द्वितीयार्धं चेद् द्वितीये मासि

जन्मेति वक्तव्यम् । तत्रापि मामि अनुपातात् तिथिश्च विकल्प्या । अनु-  
पातात् त्रैराशिकात् । तिथिः मासे गता दिवसाः । तथाहि — पञ्चभि-  
र्द्वेक्षाणभार्गरेक(त्रिंस्त्रिंशदिनात्मको) मासः ततो दशभिलिप्ताभिरेको  
दिवसे । लभ्यते इति क्रमेण द्वेक्षाणगतलिप्ताभिः मासगतास्तिथयो ज्ञेया  
इत्यर्थः । एवमयनर्तुमासैर्लक्षणावगतेर्जन्मसमयार्काधिष्ठितराश्यंशकला  
ज्ञेया इत्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

अथ शुक्लप्रतिपदादितिथिलक्षणमिन्द्रवज्रयाह—

अत्रापि होरापटवो द्विजेन्द्राः

सूर्याशतुल्यां तिथिमुद्दिशन्ति ।

रात्रिद्युसंज्ञेषु विलोमजन्म

भार्गश्च वेलाः क्रमशो विकल्प्याः ॥ ४ ॥

इति । अत्र होरापटवो द्विजेन्द्राः तिथिं सूर्याशतुल्यामुद्दिशन्ती-  
त्यन्वयः । सूर्याशतुल्यां सूर्याधिष्ठितराशेरंशः त्रिंशदात्मका भागाः  
तत्तुल्यसङ्ख्या, प्रश्नकालार्काधिष्ठितराशौ यावत्सङ्ख्याऽशौ वर्तते तावत्स-  
ङ्ख्यायां शुक्लप्रतिपदादितस्तावत्सङ्ख्यायां तिथौ जन्मेति वदन्ति ।  
एवमानीता तिथिः पूर्वानीताज्जन्मकालार्काद् यावति राशौ चन्द्रे  
स्थितं सम्भवति तत्र राशौ जन्मचन्द्र इत्युक्तं भवति । रात्रिद्युसंज्ञेषु  
विलोमजन्म उद्दिशन्ति । रात्रिराशिषु लग्नगतेषु तद्विलोमे दिवसे जन्म,  
दिवाराशिषु लग्नगतेषु रात्रौ जन्म वक्तव्यमिति शेषः । भार्गः वेलाश्च  
क्रमशो विकल्प्याः । भार्गहृदयलग्नगतभार्गैः क्रमशः दिवसे रात्रौ च  
जननवेला विकल्प्याः । लग्नगतस्य दिवाराशेः यावत्सङ्ख्या भागो  
वर्तते । रात्रौ तावत्यां नाटिकायां जन्म । तथा लग्नगतस्य रात्रिराशेः  
यावत्सङ्ख्या भागो वर्तते दिवसस्य तावती नाटिका जननवेला  
वक्तव्या । पूर्वानीतस्य जन्मार्कस्य राशेरारभ्य राशिप्रमाणवशाद् गण्य-  
माने यथोक्तजननवेलायां यो राशिः सम्भवति स राशिर्जन्मलग्नमित्युक्तं  
भवति ॥ ४ ॥

चान्द्रमासावगमनौमन्द्वज्रयाह—

केचिच्छशाङ्काध्युपिनाश्रवांशा-

शुक्लान्तसंज्ञं कथयन्ति मासम् ।

लग्नत्रिकोणोत्तमवीर्ययुक्तं

भं प्रोच्यतेऽङ्गालभनादिभिर्वा ॥ ५ ॥

इति । केचित् शशाङ्काध्युपितात् नवांशात् शुक्लान्तसंज्ञं मासं कथयन्तीत्यन्वयः । प्रश्नकाले शशाङ्काध्युपितो यो नवांशराशिः तस्मिन् नवर्क्षचरणात्मकत्वान्नवधा विभक्ते यत् नक्षत्रचरणं भवति तेन नक्षत्रेण सञ्जातमंशो यः शुक्लान्तमासः चान्द्रमाम इति यावत् । “दर्शावधिं माममुशन्ति चान्द्रम्” इत्युक्तत्वाद् दर्शस्यै च चन्द्रस्य शुक्लान्तमास-भावसम्भवात् शुक्लान्तश्चान्द्रमासः । तस्य नक्षत्रेण संज्ञासम्भवश्च अमरसिंहेनोक्तः—

“पुण्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा ।

नाम्ना स पौषी माघाद्याश्चैवमेकादशापरे ॥”

यौधायनेन चोक्तम्—

“चित्रादितारकाद्वन्द्वं यदा पूर्णेन्दुसंप्लुतम् ।

तदा चैत्रादयो मासास्त्रिभिः षष्ठान्त्यसप्तमाः ॥”

इति । प्रश्नकालचन्द्रे नवभिर्गुणिते नवांशराशिस्फुटं भवति । तत्र यक्ष-क्षत्रं वर्तते तेन नक्षत्रेण चित्रादितारकाद्वन्द्वेष्वन्यतमेन पूर्णेन्दुयोगे यस्य मासस्य संज्ञा जायते तस्मिन्चान्द्रमासे प्रदुर्जन्म केचिद् कथयन्तीत्यर्थः । जन्मचन्द्रज्ञानोपायमाह— लग्नेति । लग्नत्रिकोणोत्तमवीर्ययुक्तं भं प्रोच्यते । तद्विद्भिरिति शेषः । लग्नत्रिकोणेषु लग्नपञ्चमनवमेषु उत्तमवीर्य-युक्तं त्रिष्वपि तेषु यो राशिरधिकबलवान् भवति सः भं जन्मभं जन्म-कालचन्द्राधिष्ठितराशिरित्यर्थः । तत्रापि संशये सति विशेषज्ञानोपाय-

१. 'नमाह—'; २. 'धर्मास' स. ग. घ. च. ३. 'स्य चन्द्र' ख. ग. च.  
४. 'हान्तमास' ग. च. ५. 'वत्वात्' क. ग. घ. ६. 'धे' घ. ७. 'क्षी' ग. घ.  
८. 'नीयेन' ग.

माह— अङ्गालभनादिभिर्वेति । अङ्गालभनं अङ्गस्पर्शनम् । आदिशब्देन पृच्छकारुद्धराद्यादयः । प्रश्नकाले पृच्छको वराङ्गादिषु यदङ्गं स्पृशति स्थिरचक्रे च यस्मिन् राशौ तिष्ठति, यद्राशिमम्बद्धमक्षरं वा प्रथमं ब्रूते तादृशनिमित्तैः तत्रापि बहूनां सम्भवे बलवशेन प्रदुर्जन्मचन्द्रं वदेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

अत्र प्रकारान्तराणीन्द्रवज्रयाह—

यावद्गतः शीतकरो विलम्बा-

चन्द्राद् वदेत् तावति जन्मराशिम् ।

मीनोदये मीनयुगं प्रदिष्टं

भक्ष्याहताकाररुतैश्च चिन्त्यम् । ६ ॥

इति । शीतकरो विलम्बाद् यावद् गतः चन्द्रात् तावति जन्मराशिं वदेदित्यन्वयः । प्रश्नकालचन्द्राद्यग्रे विशेषिते यच्छिष्यते तं शेषं चन्द्रे संयोज्य तावत् राशिं जन्मराशिं वदेदित्यर्थः । मीनोदये मीनयुगं प्रदिष्टम् । मीनराशुदये प्रश्ने सति मीनयुगं प्रदिष्टं मीनराशिरेव जन्मराशिरित्याचार्यरुक्तम् । तथा भक्ष्याहताकाररुतैश्च चिन्त्यम् । भक्ष्येण आहतेन आकारेण रुतेन च जन्मराशिर्विचिन्तनीयः । भक्ष्येण मेपादीनां भक्ष्यविशेषेण आहतेन भक्ष्यादितरेणापि राशिमम्बन्धिना अजन्ममृद्गवीणागदादिना । तद्यथा— स्नुहीदलार्कपत्रवृणादिभिः भेषभक्ष्यैः प्रश्नकाले यदृच्छयोपगतैः भेषो जन्मराशित्वेन चिन्त्यः, यलालवृणादिभिः वृषभराशिः, ताम्बूलशयनवीणादिभिः मिथुनराशिः, मृज्जलजीर्णपर्णादिभिः कर्कटः, मृगभरार्हर्गजादिभिः सिंहः, सस्यालात-जलतरणपाधनादिभिः कन्या, विक्रेयद्रव्यमानमाधनग्रन्थतुलादिभिस्तुला, विपविषधरविषयद्यादिभिर्वृश्चिकः, घनुर्वानुष्कन्नस्तुरगप(वं? या)-णादिभिर्वधुः, गजचर्मशृङ्गतद्वाक्षेतशेषजलचरवस्त्वादिभिर्मकरः, कुम्भ-कुम्भकाजर्णपात्रादिभिः कुम्भः, जलबहिःश्यामुरादिभिः मीनराशि-चिन्त्यः । प्रश्नकाले यदृच्छयोपगतैर्जन्मराशिनिर्लपणीयः, नतु

१. 'पयाह'— घ. घ. २. 'तरुणं' घ. ३. 'नराशि' -- ४. 'हाना' घ.

५. 'वं' क, घ. ६. 'मिश्रापराशिः मृगच' क. ग. घ. च. ७. 'या वाम' घ.

पूर्वमेव प्रत्यक्षसन्निहितैरिति द्रष्टव्यम् । आकारः तेषां प्रतिरूपाणि आलेख्यगतानि वा दारुदन्तलोहादिनिर्मितानि वा यदृच्छया प्रजन-  
कालदृष्टानि जन्मराशिं द्योतयन्ति । तथा रूतानि मेपादीनां वाशितानि  
अथवा तत्काले केनचिद् यदृच्छयोदीरिता मेपादिशाश्वदाचवशब्दाः  
तैश्च सहसा श्रूयमाणैर्जन्मराशिमन्देहनिर्णयो भवति ॥ ६ ॥

अथ जन्मलग्नपरिज्ञानोपेन्द्रवज्रमाह—

होरानवांशप्रतिमं विलग्नं

लग्नाद् रविर्यावति वा दृगाणे ।

तस्माद् वदेत् तावति(मंथं) विलग्नं

प्रष्टुः प्रसूताविति शास्त्रमाह ॥ ७ ॥

इति । होरानवांशप्रतिमं होरा लग्नं तस्य यो नवांशः तत्तुल्यं,  
लग्नराशौ मेपांशे वर्तमाने मेपरशिर्नष्टजातकजन्मलग्नमित्यर्थः । विलग्नं  
होरानवांशप्रतिमम् इत्यन्वयः । अथवा रविः लग्नाद् यावति दृगाणे  
स्थितः तस्मात् तावति(मंथं) राशिं प्रष्टुः प्रसूतौ विलग्नं वदेदित्यन्वयः ।  
तस्माच्छग्नमित्यर्थः । लग्नात् लग्नद्रेकाणादारभ्य गण्यमाने यावत्सङ्ख्ये  
द्रेकाणे रविः स्थितः लग्नात् तावत्सङ्ख्यं राशिं प्रष्टुः प्रसूतिलग्नं वदेत् ।  
पञ्चविंशत्सु द्रेकाणेषु द्वादशाधिक्ये द्वादशकमपार्हं चतुर्विंशत्याधिक्ये  
चतुर्विंशतिमपेक्षं शिष्टया सहस्रया लग्नराशेरारभ्य गणने यो राशि-  
र्भवति स राशिः प्रष्टुर्नष्टजातकजन्मलग्नं भवति । इति शास्त्रमाह इति  
पूर्वशास्त्रेषु दृश्यत इत्यर्थः । अत्र रवेर्द्रेकाणस्थितिप्रदर्शनेन प्रश्नकाले  
वक्ष्यमाणेषु पञ्चविंशद्रेकाणस्वरूपेषु यद्वर्तमानं स्वरूपसम्बन्धिनो वस्तु-  
न्तरस्य प्रश्नकाले यदृच्छया दर्शनं श्रवणं वा भवति तद्वर्तमान-  
स्थितौ रविः प्रष्टुर्जन्मनि वक्तव्य इति द्योत्यते ॥ ७ ॥

अथ प्रकारान्तरेण लग्नानयनमिन्द्रवज्रमाह(?)—

जन्मादिशेच्छग्नगे वीर्यगे वा

छायाङ्गुलघ्नेऽर्कशुद्धेऽवशिष्टम् ।

आमीनमुत्थितोत्तिष्ठनां भे

जायामुखाजोदयस्थं प्रादिष्टम् ॥ ८ ॥

इति । लग्नगे वार्यगे वा ग्रं छायाद्गुलमे अर्कशुद्धे अवशिष्ट  
जन्म अदिशेदित्यन्वयः । अवशिष्टं जन्म जन्मलग्नं भवति इत्या-  
दिशेत् । लग्नस्थितो ग्रहोऽस्ति चेत् तस्य तत्कालस्फुटं ग्राह्यं, तदभावे  
वीर्याधिकग्रहस्य तत्कालस्फुटं ग्राह्यम् । तद् विन्यस्य छायाद्गुलमे प्रश्न-  
कालमवद्वादशद्गुलशुद्धकुच्छायाद्गुलैर्भाग्यन् गुणिने अर्कशुद्धे द्वादश-  
मिहते यदवशिष्टं तज्जन्म जन्मलग्नमित्यादिशेत् । लग्नगतेऽस्य ग्रहस्य  
वीर्याधिकस्य ग्रहस्य वा तत्कालिकस्फुटं राशिभ गतिमात्मकं यथा  
स्थानं विन्यस्य छायाद्गुलैर्गुणयेत् । यथामध्यमधर्मवर्षोर्ध्वारोपणे कृते  
राशिस्थानगतेषु द्वादशमिहतेषु यदवशिष्टं तज्जन्मलग्नम् । अथवा  
राशीनपि भागीकृत्य यथोक्तकर्मणि कृते यदवशिष्टं तज्जन्मलग्नम् ।  
अथवा भागानपास्य लिप्तावेव यथोक्तकर्मणि कृते यदवशिष्टं तज्जन्म-  
लग्नं भवतीत्यर्थः । तत्कालिकलक्षणेन लग्नकल्पनोमाह— आमीनेति ।  
प्रष्टुं आमीनश्चेत् तस्य जन्मग्रं लग्नं सप्तम्यं राशिं वदेत् ।  
मुस्तः शयानश्चेत् तत्काललग्नात् सुगन्धं चतुर्थं राशिं जन्मलग्नं  
वदन् प्रष्टुं उत्थितश्चेद् दशमस्य राशिं जन्मलग्नं वदेत् । प्रष्टुं  
उत्तिष्ठन् उत्थानं कुर्यात् यदि पृच्छति तदा तत्काललग्नमेव प्रष्टु-  
जन्मलग्नं वदेदित्यर्थः । एतद्वृत्तं तदस्थगतानां तत्कालद्रष्टव्यमप्ये-  
तादृशानागुपलक्षणम् ॥ ८ ॥

अथान् प्रक्षेपेण नष्टजातकप्रदर्शनाय राशीनां प्रहाराणां च लक्षणार्थाद—

गे मिहौ जुतुमाष्टमौ क्रियतुजे कन्यामृगौ च क्रमात्

मंवर्या दशकाष्टमसचिपर्यः शेषाः श्वरस्तृयागुणाः ।

जीवारारफुजिदैन्दवाः प्रथमवल्लपा ग्रहाः सौम्यवद्

राशीनां नियतो विधिर्ग्रहयुते क र्यं च तद्वर्गणा ॥ ९ ॥

इति । गोसिंहौ ज्ञतुमाष्टमौ क्रियतुले कन्यामृगौ च एते राशयः  
 क्रमाद् दशकाष्टसप्तविषयैः संवर्ग्या इत्यन्वयः । गोसिंहौ वृषराशिः  
 सिंहराशिश्च दशकेन संवर्ग्यः गुणनीयः । तथा ज्ञतुमाष्टमौ मिथुन-  
 वृश्चिकौ अष्टभिर्गुणनीयौ क्रियतुले मेषज्वरौ सप्तभिर्गुणनीयौ । कन्या-  
 मृगौ विषयैः पञ्चभिर्गुणनीयावित्यर्थः । शेषाः स्वसङ्ख्यागुणाः शेषा  
 अनुक्ताश्चत्वारो राशयः स्वसङ्ख्यागुणाः निजनिजसङ्ख्यया गुणनीयाः ।  
 तत्र कर्कटकः स्वसङ्ख्यया चतुर्भिर्गुणनीयः । चापराशिनवभिर्गुणनीयः ।  
 कुम्भराशिरेकादशभिर्गुणनीयः । मीनो द्वादशभिर्गुणनीय इत्यर्थः । ग्रह-  
 गुणकारानाह— जीवारास्फुजिदैन्दवाः प्रथमवत् संवर्ग्या इत्यन्वयः ।  
 प्रथमवत् पूर्वोक्तवत् क्रमेण संवर्ग्या इत्यर्थः । तत्र जीवो दशकेन  
 संवर्ग्यः । आरोऽष्टभिः संवर्ग्यः । आस्फुजिच्छुक्रः सप्तभिः संवर्ग्यः ।  
 ऐन्दवो युधः पञ्चभिः संवर्ग्य इति भावः । शेषा ग्रहाः सौम्यवत् सौम्यो-  
 क्तवत् । पञ्चभिरित्यर्थः । शेषा अर्केन्दुमौराः पञ्चभिर्गुणनीयाः । गुणन-  
 स्येति कर्तव्यतामाह— राशीनां विधिः नियतः । येन राशिना कर्मेप्यते  
 तस्य राशेः स्वोक्तगुणकारेण गुणनविधिर्नियतः । ग्रहयुते तद्वर्गणा च  
 कार्या तत्र राशौ ग्रहेण युते सति ग्रहोक्तेन गुणकारेण च गुणनं कर्त-  
 व्यम् । ग्रहामावे तु राशिगुणकार एव कर्तव्य इति द्योतयितुं नियतो  
 विधिरित्युक्तम् ॥ ९ ॥

उक्तेन विधिना जन्मनक्षत्रानयनं घटन्ततिलकेनाह—

सप्ताहतं त्रिघनभाजितशेषमृक्षं

दत्त्वाथवा नव विशोध्य नवाथवास्मात् ।

एवं कलत्रसहजात्मजशत्रुभेभ्यः

प्रष्टुर्वदेदुदयराशिवशेन तेषाम् ॥ १० ॥

इति । उदयलग्नं निजेन राशिगुणकारेण हत्वा तत्र ग्रहाणां योगे  
 मति तन्स्फुटानि च स्वस्वगुणकारेण हत्वा संयोजितेषु जाते गुणपिण्डं  
 ग्रहामावे स्वेकगुणकारेण गुणितमुदयलग्नमेव गुणपिण्डं तत्सप्ताहतं

त्रिघनभाजितशेषमृक्षं भवति । सप्तभिर्गुणपिण्डं हत्वा त्रिघनेन त्रयाणां घनेन “समत्रिघातस्तु घनः प्रदिष्टः” इत्युक्तलक्षणेन सप्तविंश(तिभि-  
रि? त्ये)त्यर्थः । सप्तविंश(तिभिर्मा? त्या भा)जिते यच्छिष्यते तत् प्रष्टु-  
र्जन्मर्क्षं भवति । अथवा शेषे नव दत्त्वा, अथवा नव विशोध्य अस्माच्छेषा-  
न्नव विशोध्य प्रष्टुर्जन्मर्क्षं भवति । लग्नद्वेकाणवशाद् यथाप्राप्तेन वा  
नवकदानसिद्धेन वा नवकाविशोधनासिद्धेन वा त्रिघनभाजितशेषेण प्रष्टु-  
र्जन्मर्क्षं भवति । जन्मत्रयरूपेषु नक्षत्रेषु इदं जन्मर्क्षमिति निर्णयित इत्यर्थः ।  
एवमुदयराशिघनेन कन्त्रसहजात्मजशत्रुभेद्यः तेषां कन्त्रादीनां जन्मर्क्षं  
वदेदित्यन्वयः । उदयराशिघनेन उदयराशी पद्माशीन् क्षिप्त्वा कलत्र-  
भावमुत्पाद्य तस्य राशिगुणकारगुणनं यथासम्भवं ग्रहगुणकारगुणनं  
च कृत्वा संयोजिते गुणपिण्डे सप्तद्वते त्रिघनभाजिते सति शेषेण  
पूर्ववत् कलत्रजन्मर्क्षं वदेत् । तथैवोदयलग्ने राशिद्वय क्षिप्त्वा जातेन  
सहजभावेन पूर्ववद् यथोक्तकर्मणा सहजजन्मर्क्षं वदेत् । तथैवोदयलग्ने  
राशिचतुष्टयं क्षिप्त्वा जातेन पञ्चमभावेन यथोक्तकर्मणि कृते पुत्रस्य  
जन्मर्क्षं वदेत् । तथैवोदयलग्ने राशिषष्ठकं क्षिप्त्वा जातेन षष्ठभावेन  
शत्रोर्जन्मर्क्षमपि ज्ञेयम् । एवमुदयराशिघनेन प्रष्टुर्जन्मर्क्षं तरकलत्रभ्रातृ-  
पुत्रशत्रूणामपि जन्मर्क्षाणि निर्देष्टव्यानीत्यर्थः ॥ १० ॥

इति गोबलीवर्द्धन्यायेन वक्ष्यमाणनष्टजातवप्रकाराभ्यन्तरमपि बहुविधकर्मोपयो  
गिवाजन्मनक्षत्रानयनं प्रदृश्यं सामाभ्येन गुणपिण्डाद्यगम्यन्त्यानि नष्टजातकथरत्न्याह—

वर्षर्तुमासतिथयो द्युनिशो घृह्णन्ति

वेलोदयर्क्षनवभागविकल्पनाद्याः ।

भूयो, दृशादिगुणिते स्वन्निकल्पन्ते

वर्षादयो नवकदानविशोधनाभ्याम् ॥ ११ ॥

इति । अत्र पूर्वोक्तप्रकारेण राशिगुणकारेण यथासम्भवं ग्रह-  
गुणकारैश्च गुणितं राश्यंशुलान्मरुदयलग्नेकान्ते स्थापयेत् ।



गोसिंहादिगुणने द्वौ पक्षौ विद्येते । भूयोगुणन पृथग्गुणनं चेति ।  
 तत्र भूयोगुणनं यथा — राशिभागजलात्मकमुदयलग्नं प्रिन्यस्य  
 राशिगुणकारेण गुणित्वा पुनर्ग्रहगुणकारेणापि तमेव गुणितं गुणयेत् ।  
 ग्रहगुणरारा द्वित्राः सन्ति चत् तेषां गुणितं गुणयेत् । अत्र भूयोगुणने  
 क्रमो न विरहितः, यथामन्त्रैर्गुणकारैर्गुणनं कर्तव्यमित्यत्र नियमः ।  
 पृथग्गुणने तु उदयलग्नं राश्युक्तेन गुणकारेण गुणयेत् । लग्ने  
 ग्रहमन्त्रे मति ग्रन्था स्फुटानि लग्नाभ्युन्नानि सप्तान्यधिकानि वा  
 पृथग् प्रिन्यस्य स्वगुणकारेण सप्तगुण्य तानि संयोजयेत् । एवं भूयो-  
 गुणनेन वा पृथग्गुणनेन वा स्वाम्प्रदायमित्रेण गुणपिण्डमुत्पाद्य  
 स्यापयेत् । तत्र च लग्नस्य प्रथमद्वेकं न मति नवकदानं कर्तव्यम् । मध्य-  
 द्वेकाणो न नवकदानं शोधनं न कर्तव्यम् । लग्नस्य अन्त्यद्वेककाणमतत्वे  
 च नवकशोधनं कर्तव्यम् । तथा कृतो गुणपिण्डः कर्मयोग्यो भवति । नवक-  
 दानविशोधनाभ्यां कर्मयोग्यं गुणपिण्डे भूयो दशादिगुणिते स्वविकल्प-  
 भक्ते क्रमेण वर्षाभ्यासतिथयो धुनिश्च उद्गानि वेलोदपक्षनरभाग-  
 विकल्पनाद्याश्च इति प्रोक्ता वर्षादयो भवन्ति हि इत्यन्तरयः । भूयो  
 दशादिगुणिते दशादयः दशराष्टसप्तत्रिपदाः । वर्षर्तुभ्यासतिथयः वर्षाणि  
 लोहाश्च प्रसिद्धानि प्रभवादीनि पष्टिप्राणि । ऋतवः पूर्वोक्ताः शिशि-  
 रादयः पट् । मसश्चैत्रादया द्वादश तिथयः शुक्लप्रतिपदादयस्त्रिंशत् ।  
 एते दशकगुणितेन गुणपिण्डेन धुनिश्च दिन रात्रिश्च, एते द्वे अष्टगुणितेन  
 उद्गानि अधिन्यादीनि मस्तविशन्निक्षत्राणि, एतानि सप्तगुणितेन  
 गुणपिण्डेन वेलोदपक्षनवभागविकल्पनाद्याः वेला दिनमाननाडिकाः  
 रात्रिमाननाडिकाश्च वा त्रिंशद्, उदयलग्नं द्वादशराशिष्वेकस्मिन्, (१) नवभागाः  
 नवांशाः । आदिशब्देन द्विविधत्वा होरा राश्यर्थरूपाः, त्रिविकल्पा  
 द्वेककाणां, द्वादशविकल्पाः द्वादशार्शाः, पञ्चविकल्पा त्रिंशदशकाश्च  
 शृण्वन्तः । एते पञ्चगुणिते गुणपिण्डे स्वविकल्पभक्तं स्वः विकल्पः स्व-  
 विकल्पः वर्षविकल्पः पष्टि, ऋतुविकल्पः पष्टित्यादयो यथोक्ताः स्वस्व-

मह्यथाविशेषाः, तैर्भक्ते गुणपिण्डे शिष्टमेह्यया नष्टजातवस्थां वर्षादयो  
 ज्ञेया इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । एकान्तस्यापितं गुणपिण्डं प्रतिराश्य-  
 यथोक्तं नवकदानविशोधनं विधाय कर्मयोग्यं कृत्वा चतुर्षु स्थानेषु  
 स्थापयित्वा एकं दशभिर्गुण्येत् । द्वितीयमष्टभिः, तृतीयं सप्तभिः,  
 चतुर्थं पञ्चभिश्च गुणयेत् ततो दशभिर्गुणितं प्रतिराश्य वर्षविकल्पेन  
 पट्टिभिर्हृत्वा शिष्टेन प्रभवदिवर्षेषु एतावति(मेधे) वर्षे  
 प्रष्टुर्ज्ञेयमिति वक्तव्यम् । पुनरपि तमेव प्रतिराश्य ऋतुविकल्पेन पट्टकेन  
 हृत्वा शिष्टेन अग्निं ऋतौ जन्मेति वक्तव्यम् । पुनरपि प्रतिराश्य  
 मासविकल्पेन द्वादशकेन हृत्वा शिष्टेन मासो वाच्यः । पुनस्तमेव कर्म-  
 योग्यं विन्यस्य त्रिंशद्भिः(ता) तिथिविकल्पैः हृत्वा शुक्लप्रतिपदादि-  
 दशान्तासु तिथिषु अस्यां तिथौ जन्मेति वक्तव्यम् । पुनरष्टगुणितं  
 गुणपिण्डं विन्यस्य द्युनिशाविकल्पेन द्विकेन हृत्वा शिष्टेनैकेन दिने द्वाभ्यां  
 रात्रिः । पुनः सप्तगुणितं विन्यस्य नक्षत्रानपनप्रकारः पूर्वमेवोक्तः । पुनः  
 पञ्चगुणितं कर्मयोग्यं विन्यस्य दिनमानेन रात्रिमानेन वा त्रिंशता हृत्वा  
 शिष्टेन जननवेला ज्ञेया । द्वादशहृतशिष्टेनोदयलग्नं ज्ञेयम् । नवहृतशिष्टेन  
 नवांशो ज्ञेयः । द्वाभ्यां हृतशिष्टेन राश्यर्धं ज्ञेयम् । त्रिभिः त्रेकफाणः,  
 द्वादशभिः द्वादशांशकः । त्रिंशद्भिः(ता) त्रिंशांशको ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र  
 राश्यंशकलात्मकस्य लग्नस्य राशिस्थानहृतशिष्टेन वा भागीकृत्यं हृतशिष्टेन  
 वा लिप्तीकृत्यं हृतशिष्टेन वा परस्परविरोधपरिहाराः कर्तव्याः । नवक-  
 दानं गुणपिण्डे नवानां रूपाणां दानं तत्प्रथमद्वेकफाणगतलग्नराशि-  
 सम्भवगुणपिण्डे कर्तव्यं, मध्यद्वेकफाणगतलग्नराशिसम्भवे गुणपिण्डे  
 नवकदानं नवकाविशोधनं वा न कर्तव्यम् । अन्त्यद्वेकफाणगतलग्नराशि  
 सम्भवगुणपिण्डे नवानां रूपाणां विशोधनं कर्तव्यम् ॥ ११ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण जन्मनक्षत्रानयनमर्थयाम्—

संस्कारनाममात्रा द्विगुणाश्चायाङ्गुलैः समायुक्ताः ।

त्रिनवकभक्ताः शेषं नक्षत्रं तद्धनिष्ठादि ॥ १२ ॥

१. 'रूपाणां प' ॥ २. 'व्यम् । अत्र केचिद् दशगुणितं गुणपिण्डं वर्षविकल्पेन  
 परमायुःप्रमाणेन विनात्यधिकज्ञातेन हृत्वा सोऽवशिष्यते तन्मन्त्रस्तस्य वर्षो वर्तते इति  
 वदन्ति । पु' क. ३. 'त्या मा' ग. ४. 'व्यम् । एते दशगुणिने । पु' क. ५. 'या प' ख.  
 ६. 'माह' घ. ग.

इति । द्विगुणः संस्कारनाममात्राः छायाङ्गुलैः समायुक्ताः त्रिनवकमक्ताः कर्तव्या इत्यन्वयः । संस्कारनाममात्राः नामवर्णवेलयां यन्नाम धालस्य क्रियते तत् संस्कारनाम । तत्र हस्वानामेकमात्रत्वं दीर्घाणां द्विमात्रत्वं हलापर्वभात्रत्वं च परिकल्प्य तैत्तमङ्कलितेन या सङ्ख्या भवति तां सङ्ख्यां द्विगुणकृत्य सूक्ष्मैः प्रश्नकालद्वादशाङ्गुल-शङ्खच्छायाङ्गुलैः मंयोज्य त्रिनवकेन समाविशत्या भाजयदित्यर्थः । तत्र त्रिनवकभक्ते यच्छिष्यते तच्छेषं धनिष्ठादिनक्षत्रं भवति । (ननु) 'मेषाश्चिप्रथमा' इत्यत्र नक्षत्राणामश्विन्यादित्वं प्रदर्शितम् । अत्र तु धनिष्ठादीनि नक्षत्राणीत्युक्तिः कथं घटते ? सत्यम् । केचदयनद्वयात्म-कस्य वत्सरस्य उत्तरायणादितः प्रवृत्तिमिच्छन्ति । उत्तरायणस्य च धनिष्ठादित्वमाचार्येण मंहितायां दर्शितम् —

“आश्लेषार्धाद् दक्षिणमुत्तरमयनं तथा धनिष्ठाद्यम् ।

पूर्वं कदाचिदासीद् यत् प्रोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥

साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटर्काद्यं मृगादितश्चान्यत् ॥”

इति अतो वज्रादियोगकथनवत् पूर्वशास्त्रानुसारेण उत्तरायणादित्वाद्ध-निष्ठादित्वमुक्तम् । श्रीपतिना चायं पक्षो निर्युक्तिवत्त्वेन ददर्शितः—

“दिनप्रवृत्तिर्मरुतामजादौ तुलाधरादौ च निशाप्रवृत्तिः ।

ते कल्पिते यैर्मृगकर्कटाद्योरत्रोपपत्तिं तु न ते ब्रुवन्ति ॥”

इति । वर्षस्य उत्तरायणादित्वे निर्युक्तिवत्त्वेऽपि सति आचार्येणात्र नक्षत्राणां धनिष्ठादित्वोक्त्या सामान्येन नक्षत्राणामश्विन्यादित्वमुचितम् । किन्तु कदाचिन्नक्षत्राणां धनिष्ठादित्वेन नष्टजातऋषिपथे परस्परविरोधः परि-हर्तव्य इति द्योत्यते ॥ १२ ॥

पुनरन्यथापि नक्षत्रानयनं प्रदर्शयति—

द्वित्रिचतुर्दशदशतिथिसप्त त्रिगुणा नवाष्ट चैन्द्राद्याः ।

पञ्चदशमास्तत्तद्विद्मुखान्वितं मं धनिष्ठादि ॥ १३ ॥

इति । ऐन्द्राद्याः दिशः द्वित्रिचतुर्दशदशतिथिसप्त त्रिगुणाः नव

अष्ट च भवन्ति इत्यन्वयः । द्वे च तिस्रश्च चतुर्दश च दश च त्रिथयश्च  
सप्त च इति द्वन्द्वममासः । त्रिगुणा नव सप्तविंशतिरष्ट च इति यथा-  
क्रमम् ऐन्द्रादिदिक्षु पृच्छकाविष्टिता महुर्था ग्राह्येत्यर्थः । अतो दैवज्ञेन  
यस्यां दिशि स्थितः पृच्छको दृश्यते तस्यां दिशि ऐन्द्रदिगाद्युक्ततासु  
द्वित्र्यादिमहुर्थासु या सह्यथा भवति मात्र कर्मयोग्येत्यर्थः । तत्कर्माह—  
पञ्चदशज्ञा इति । मा पृच्छकारुढदिग्भवा सदृख्या पञ्चदशभिर्गुणिता  
त्रिनवकमक्ता कर्तव्या । तत्र यच्छेषं तच्च तदिह्मुखात्नितं तदिह्मुखाः  
पृच्छकारुढदिह्मुखा यावन्तः पुरुषाः प्रश्नकाले भवन्ति तावत्या  
सहस्रयथान्वितं कार्यमित्यर्थः । तद् धनिष्ठादिनक्षत्रं भवति । तद् प्रदु-  
र्जन्मनक्षत्रमिति वैयक्तव्यम् ॥ १३ ॥

नष्टजातविधानमुपसंहारार्थमाह—

इति नष्टजातकमिदं बहुप्रकारं मया विनिर्दिष्टम् ।

ग्राह्यमदः सच्छिष्यैः परीक्ष्य यत्नाद्यथा भवति ॥ १४ ॥

इति । इति मया इदं नष्टजातकं बहुप्रकारं विनिर्दिष्टम् इत्यन्वयः ।  
इदमिति अत्यार्थभूतम् अतिदुष्करमपि नष्टजातकं पुरोवर्तिवद् ग्राह्य-  
मित्यर्थः । नष्टजातकं नष्टमष्टम् । अदर्शनस्य द्वौ प्रकारौ । तत्र पृच्छ-  
केनाप्यविज्ञातत्वमेकः प्रकारः, दैवज्ञेनाविज्ञातत्वं द्वितीयः प्रकारः ।  
पूर्वस्मिन् प्रकारे पृच्छकस्यात्मीपजातकव्यरूपजिज्ञासा प्रश्नहेतुः ।  
द्वितीयस्मिन् पृच्छकस्य दैवज्ञं प्रति परीक्षाप्रयत्नं प्रश्नहेतुः । द्विविधेऽपि  
नष्टजातकप्रभे दैवज्ञेनादृष्टत्वं समानम् । तस्मादात्मनाप्यविज्ञातस्य  
पृच्छकजननकालस्य स्वरूपं जीवार्कचन्द्रलग्नानां तात्कालिकफुटात्मकं  
दैवज्ञेन प्रश्नकालोदयलग्नारुढादिभिर्निर्दिष्टव्यं जातकं नष्टजातकशब्दे-  
नोच्यते । बहुप्रकारमित्यत्र निर्देष्टव्यानां प्रकाराणां इत्यच्चे विद्य-  
मानेऽपि बहुशब्देन विशेषितत्वादभ्येपान्मन्त्रास्तुक्तानामपि सम्प्रदाया-  
गतानां नष्टजातकान्यनप्रकाराणां सत्ता द्योत्यते । विश्व 'आधान-

१. 'तासु म', २. 'स्यासु मा' क. ३. 'तेन दै' ग ४. 'तस्य' क ५. 'सिः',  
६. 'दृष्टयर्' ग. ७. 'रति-' म. ग. ८. 'मिति' ख. ९. 'स्ये न' क, 'स्यजातं न' ख.

जन्मापरिवोधकाल' इत्यत्र परिवोधशब्देनाक्षरसङ्ख्यया एकद्वित्रि-  
नवसङ्ख्यं द्योतकेन 'लग्नत्रिकोणोत्तमवर्गयुक्तं भं प्राच्यते' इत्यस्य तथा  
'पूर्वापरार्धे भजनस्य विद्याद् भानाबुद्धिक्षिणो प्रसूति'मित्यस्य च तथा  
'लग्नत्रिकोणेषु गुरुमि'त्यस्य च तथैव 'होरानवांशप्रतिभं दिलगमि'त्यस्य  
च जन्मकालचन्द्रार्कजैवललग्नशपकेषु सारत्वं द्योतयितुं क्रमेण नष्ट-  
जातकप्रश्नोदयलग्नस्य गुणकागः प्रदर्शिताः । नवसङ्ख्ययाद्योतकस्य  
धकारस्यान्तरोक्तेन कालशब्देन प्रश्नकालदिनगतनाटीविनाढ्यात्मकं  
प्रकल्प्य नवभिर्गुणयित्वा जातेन रफुटेन वा तन्नावांशेन वा प्रष्टु-  
र्जन्मचन्द्रनक्षत्रं च लभ्यते इति द्योत्यते । एवमादीनि बहुविधानि  
नष्टजातकरहस्यानि गुरुमुखादवगन्तव्यानि । एवं बहुप्रकारनिर्देशेन  
परोक्षस्यापि नष्टजातकस्य त्रिचतुरन्क्षणसंवादे प्रत्यक्षवाग्निर्देष्टव्यत्वं  
भवेदित्यनुमन्वेयम् । अदः सच्छिष्यैः तथा ग्राह्यं यत्नात् परीक्ष्य  
यथा भवति तथा ग्राह्यम् । इदं नष्टजातकं सच्छिष्यैः सौवत्सरसूत्रे  
विनिर्दिष्टगुणयुक्तैः साङ्गैः शिष्यैः—

“स्वस्थचित्तो विगिक्तस्थः सम्यग्गणितकोविदः ।

ऊः।पोहः।दुः।मिद्वमन्त्रो जानाति जातकम् ॥”

इत्याद्युक्तान्क्षणगुणयुक्तैः शिष्यैः । शिष्यैरित्युक्त्या दैवज्ञमानित्वं विना  
मदा गुरूपदेशपरन्तैरिति द्योत्यते । दैवज्ञानामेव गुणत्वाभावे नष्ट-  
जातकस्य बहुप्रकारोपदेशवशाद् बहुषु नष्टजातकजन्ममर्शादिषु सम्भवत्सु  
स्वयं सत्य-क्षत्रादिग्रह(णैः)कोविदाः नष्टजातकशास्त्रमम-प्रलाप एवं  
नानेन सत्यं नष्टजातकं वदतुं शक्यते इति शार्ङ्गदूषणमेव तादृशा  
घोषयन्ति तैरिदं शस्त्रं नाध्येतव्यम् । तादृशगुणहीनाय च सम्प्रदाय-  
त्रिङ्गिर्नोपदेशः कर्तव्य इत्यभिप्रायः । गुरुकर्णयैव प्रश्नकाले सत्य-  
जानोपलब्धिर्भवति । गुरुश्च भाक्षात्परमेश्वर एव । यथोक्तं—

“यावन्न जुग्रहः मांशाज्जायते परमेश्वरात् ।

तारत्वं न मद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रमपि नो (लभेत्तुं शक्नुते) ॥”

१. 'प्र' च 'न', २. 'कं' भागलिप्ता 'म' क. ३. 'वा' प्र' स. ४. 'हो' इ' क. स.

५. 'सं', ६. 'क' व', ७. 'णं' स. ८. 'जस्यै' न

इति । तस्माद्ये ये यत्किञ्चनोपदिशन्ति ते ते सर्वे परमेश्वरानुग्रहलब्धाः  
परमेश्वरस्यावतारभेदा एव इति प्रतिपत्त्यो स्वगुरुणा परमेश्वरस्य च  
मनसा वाचा कर्मणा च पूजा कर्तव्या इत्यपि सच्छिष्यैरिति पदेन  
द्योत्यते । एवमत्र होराशास्त्रे त्रयोविंश(तिभिर्)त्या) ध्यायैः प्रदर्शित बहु-  
विधविशेषयुक्तनैसर्गिकदशाफलगोचरफलानुभवप्रदर्शनसाधनं जननादि-  
निर्याणान्ते जीवितकालविषयं जातकलक्षणं दैवघ्नं जिज्ञासुन् प्रति  
निस्संशयं निर्देष्टव्यमिति द्योतयितुमयं नष्टजातकाध्यायश्चतुर्विंशः(शोऽंशः)  
पठितः । अत्र चाध्यायान्ते 'ग्राह्यमदस्सच्छिष्यैः परीक्ष्य यत्नाद्यथा  
भवति' इत्युक्त्या यथानिर्दिष्टस्य जातकलग्नस्यापि सत्यत्वं द्योत्यते ।  
भवति शब्देनान्ते मङ्गलं च सूचितम् ॥ १४ ॥

इति होराविवरणे नष्टजातकाध्यायश्चतुर्विंशः ॥

### अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथ संज्ञाध्याये पूर्वमनिर्दिष्टानां 'व्याप्तेष्वदायुधचतुश्चरणान्द्वयेष्व'त्यादिभि-  
रनेकैश्च प्रस्तुतानां मिश्रसम्बन्धैकदेशमात्रदर्शनग्राह्यकालविशेषोपयोगितां द्रेकाणानां  
रूपाणि प्रदर्शयति । तत्रादौ मेपाद्यस्य स्वरूपविज्ञानार्थं वृतालीयमाह—

कट्यां सितवस्त्रवेष्टितः

कृष्णः शक्त इवाभिरक्षितुम् ।

रौद्रं परशुं समुद्यतं

धत्ते रक्तविलोचनः पुमान् ॥ १ ॥

इति । मेपस्य आदिभो द्रेकाणः कट्यां सितवस्त्रवेष्टितः पुमान्  
भवति । सितवस्त्रेणाच्छादितकटिप्रदेश इत्यर्थः । कृष्णः स्वयं कृष्ण-  
वर्णः । अभिरक्षितुं शक्त इव तारुण्यादार्यादियोगेन रक्षणममर्थं इव  
प्रतीयमानः । तथा रक्तविलोचनः समुद्यतं रौद्रं परशुं धत्ते च । हिंस्र  
इत्यर्थः ॥ १ ॥

मेपद्वितीयस्य स्वरूपज्ञानार्थमिन्द्रवज्राग्रह—

रक्ताम्बरा भूषणसक्तचित्ता

कुम्भाकृतिर्वाजिमुखी तृपार्ता ।

एकेन पादेन च मेपमध्ये

द्रेक्षाणरूपं यवनोपादिष्टम् ॥ २ ॥

इति । मेपमध्ये यवनोपादिष्टं द्रेक्षाणरूपं एवंविधा स्त्री भवतीति सम्यग्ग्रहः । रक्ताम्बरा रक्तेन वस्त्रेण युक्ता । भूषणसक्तचित्ता भूषणाभिनिवेशिनीत्याकारलक्ष्यो मनोघर्भ उक्तः । कुम्भाकृतिः महोदरीत्यर्थः । वाजिमुखी अश्वमुखी । तृपार्ता गिषामयाभिभूता । एकेन पादेन उपलक्षिता च । विकलैरुपादेत्यर्थः । भूषणसक्तचित्तेति वा पाठः ॥ २ ॥

अथ मेपतृतीयज्ञानार्थमिन्द्रवज्राग्रह—

क्रूरः कलाज्ञः कपिलः क्रियार्थी

भग्नव्रतोऽभ्युद्यतदण्डहस्तः ।

रक्तानि वस्त्राणि विमर्ति चण्डो

मेपे तृतीयः कथितस्त्रिभागः ॥ ३ ॥

इति । मेपे तृतीयस्त्रिभागः एवंविधः कथितः । क्रूरः कलाज्ञः कलाकुशलः । कपिलः कपिलवर्णः । क्रियार्थी अधिकार्यार्थिनशीलः । भग्नव्रतः व्रतभङ्गवान् । अभ्युद्यतदण्डहस्तः उद्यतदण्डाशुचः । रक्तानि वस्त्राणि विमर्ति । चण्डः घातकश्च भवति ॥ ३ ॥

अथ गृध्रप्रथमस्वरूपं (गोट्टेर्दोथे)नाह—

कुञ्चितलूनकचा घटदेहा

दग्धपट्टा तृपिताशनचित्ता ।

१. 'स्ये' द्वेद्वयं यवनोपादिष्टम्' क. २. 'मैः' हस्तः हस्तुपपा कु' क.  
३. 'यं क' छ. ४. 'वमार्थ' क. ५. 'ति कु' छ.

आभरणान्यभिवाञ्छति नारी

रूपमिदं प्रथमं वृषभस्य ॥ ४ ॥

इति । इदं वृषभस्य प्रथमं रूपम् । कुञ्चितलनकंचा नारी  
कुञ्चिता वक्रा लनाञ्छिन्नाः कंचा यस्याः सा तथा । घटदेहा घटा-  
कारोदरप्रधानदेहा । दग्धपटा अग्निदग्धेन पटेन युक्ता । अर्थात्  
साग्रिकोऽयं द्रेवकाण इति द्योत्यते । तृपिता अशनचित्ता च । क्षुत्पि-  
पासान्वितेत्यर्थः । आभरणान्यभिवाञ्छति । इङ्गिताफारलक्ष्येण आभरणा-  
भिलाषेण युक्ता च । एवंविधा नारी ॥ ४ ॥

अथ वृषद्वितीयजातीयं स्वागतामाह—

क्षेत्रधान्यगृहधेनुकलाज्ञो

लाङ्गले सशकटे कुशलश्च ।

स्कन्धमुद्रहति गोपतितुल्यः

क्षुत्परोऽज्रवदनो मलवासाः ॥ ५ ॥

इति । वृषमध्यद्रेवकाण एवंविधः पुरुषः । क्षेत्रधान्यगृहधेनुकलाज्ञः  
क्षेत्राणां धान्यानां गृहाणां धेनूनां कलाविद्यानां चाभिज्ञः । सशकटे  
लाङ्गले कुशलश्च शकटकर्मणि लाङ्गलकर्मणि च कुशलः । स्कन्धमुद्रहति  
उन्नतं स्कन्धं धृति । गोपतितुल्यः वृषभसमानः । क्षुत्परः, अज्रवदनः  
छागधुरः । तस्माद्यतुष्पादश्च(१)भवति । मलवासाः मलिनाभ्यस्यः ॥ ५ ॥

अथ वृषतृतीयस्य रूपं प्रकटेताह—

द्विषममकायः पाण्डरदंष्ट्रः

शरभमभाङ्घ्रिः पिङ्गलमूर्तिः ।

अविमृगलोना व्याकुलचित्ता

वृषभवनस्य प्रान्तगतोऽयम् ॥ ६ ॥

१. 'नि वृषभे प्रथमस्य इदं रू' इ २ 'जा । ध्रु' : ३ 'वृषभस्य' स  
४. 'न्यमुद्र' इ

\* वृषभवाकररीत्या मौलिकमानेन भाग भवति ।



इति । वृषभवनस्य प्रान्तगतोऽयं द्रेकाणः एवंप्र(पं)पो भवति । द्विपसमकायः गजयन्महाशरीरः । पाण्डरदंष्ट्रः, दंष्ट्रा दन्ताः । शरभसमाङ्घ्रिः शरभप्रदतिवेगयुक्तपादः । पिङ्गलमूर्तिः । अविमृगलोमा अग्रिद् दीर्घाणि मृगवद् विचित्राणि च लोमानि यस्य स तथा । व्याकुलचित्तश्च ॥ ६ ॥

अथ मिथुनप्रथमस्वरूपज्ञानार्थं वसन्ताष्टल/केना'कमा ह—

सूच्याश्रयं समभिवाञ्छति कर्म नारी  
रूपान्विताभरणकार्यकृतादरा च ।  
हीनप्रजोच्छ्रितभुजर्तुमती त्रिभाग-  
माद्यं तृतीयभवनस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ७ ॥

इति । तज्ज्ञाः तृतीयभवनस्य आद्यद्रेक्काणमेवं रूपं वदन्तीति सम्बन्धः । रूपान्विता नारी आभरणकार्येषु कृतादरा सूच्याश्रयं कर्म समभिवाञ्छति । सूची आश्रयो यस्य कर्मणः तत् सूच्याश्रयम् । हीनप्रजा प्रजारहिता । उच्छ्रितभुजा, ऋतुमती रजस्वला ॥ ७ ॥

अथ मिथुनद्वितीयस्वरूपमुपेन्द्रवज्रभा(१), ह—

उद्यानसंस्थः कवची धनुष्माञ्  
शूरोऽस्त्रधारी गरुडाननश्च ।  
क्रीडात्मजालङ्घनार्थचिन्तां  
करोति मध्ये मिथुनस्य चायम् ॥ ८ ॥

इति । मिथुनस्य मध्यद्रेक्काणे अयम् एवंप्रिधः पुरुषः । उद्यान-  
संस्थः । कवची कवचवान् । धनुष्मान् धनुर्धरः । शूरः, अस्त्रधारी ।  
गरुडाननः पक्षिमुखः । क्रीडार्थम् आत्मजालम् अलङ्घनार्थम् च  
चिन्तां करोति ॥ ८ ॥

अथ मिथुनाख्यस्वरूपं स्वागतयाह—

भूषितो वरुणवद् बहुरत्नै-  
र्बद्धतूणिकवचः सधनुष्कः ।  
नृत्तवादितकलासु च विद्वान्  
काव्यकृन्मिथुनराश्यवसाने ॥ ९ ॥

इति । मिथुनराश्यवसाने त्रेकाण एवंविधः । वरुणवद् बहुरत्नैः  
भूषितः बद्धतूणिकवचः सधनुष्कः नृत्तवादिनकलासु च विद्वान् । नृत्तेषु  
वादिषु कलासु च विद्वान् काव्यकृच्च भवति ॥ ९ ॥

अथ कर्कटाख्यस्वरूपं स्वागतयाह—

पत्रमूलफलभृद् द्विपकायः  
कानने मलयगः शरभाङ्घ्रिः ।  
क्रोडतुल्यवदनो हयकण्ठः  
कर्कटे प्रथमरूपमुशन्ति ॥ १० ॥

इति । कर्कटे प्रथमरूपमेवमुशन्ति । पत्रमूलफलभृद् पत्राणि  
मूलानि फलानि च विभ्राणः । द्विपकायः बृहच्छरीरः । कानने मलयगः  
चन्दनवृक्षप्रिय इत्यर्थः । शरभाङ्घ्रिः अतिव्रजपादः । क्रोडतुल्यवदनः  
घराहमुखः । हयकण्ठः हयतुल्यदीर्घगलः । अत एव चतुष्पादश्च(?)  
भवति ॥ १० ॥

अथ (कर्कट द्वितीयद्वेषकाग्रस्तमिन्द्रजत्रयाह—

पद्मार्चिता मूर्धनि भोगियुक्ता  
स्त्री कर्कशारण्यगता विरंति ।  
शाखां पलाशस्य समाश्रिता च  
मन्ये स्थिता कर्कटकस्य राशेः ॥ ११ ॥

इति । कर्कटर्कस्य मध्ये स्थिता मध्यद्वेकाणस्वरूपा स्त्री एवं भवति । पद्माचिता पद्मरलङ्कृता । मूर्धनि भोगियुक्ता शिरसि सर्पेण युक्ता । कर्कशा यौवनवती । अरण्यगता विरौति शब्दं कुरुते । पलाशस्य शाखां समाश्रिता च भवति ॥ ११ ॥

अथ कर्कटान्त्यं स्वरूपमुपजातिव्या(?)ह—

भार्याभरणार्थमर्णवे

नौस्थो गच्छति सर्पवेष्टितः ।

हैमैश्च विभूषणैर्युत-

श्चिपिटास्योऽन्त्यगतश्च कर्कटे ॥ १२ ॥

इति । कर्कटे अन्त्यनक्षत्रभागः पदं रूपः । अर्णवे नौस्थः पुरुषः सर्पवेष्टितः सन् भार्याभरणार्थं गच्छति । हैमैर्विभूषणैर्युतश्च । चिपिटास्यः वृत्ताविस्तीर्णमुखः ॥ १२ ॥

अथ सिंहो(द्यस्वरूपं) रथोक्तयाह—

शालमलेरुपरि गृध्रजम्बु(काँकौ)

श्चा नरश्च मलिनाम्बरान्वितः ।

रौति मातृपितृ(?)विप्रयोजितः

सिंहरूपमिदमाद्यमुच्यते ॥ १३ ॥

इति । शालमलीवृक्षस्योपरि गृध्र(भीमो) जम्बुकश्च श्चा च मातृ-पितृविप्रयोजितः मलिनाम्बरः नरश्च रौति शब्दं करोति । इदमेवावधं आद्यं सिंहरूपं सिंहाभ्य प्रथमद्वेकाणस्वरूपमुच्यते । आचार्यैरिति शेषः ॥ १३ ॥

अथ सिंहद्वितीयं शेषोक्तयाह—

हयाकृतिः पाण्डुरमाल्यशेखरो

विभर्ति कृष्णाजिनकन्दलं नरः ।

दुरासदः सिंह इवात्तकार्मुको

नताग्रनासो मृगनाथमध्यमः ॥ १४ ॥

इति । मृगनाथमध्यद्रेकाण एवंपो भवति । हयाकृतिः व्यायत-  
दीर्घशरीरः । पाण्डुरमाल्यशेखरः, कृष्णांजिनकम्बलं विभर्ति कृष्णांजिनं  
कम्बलं च विभर्ति । सिंह इव दुरासदः, आत्तकार्मुकः आयुधधरश्च  
भवति । नताग्रनासः नतनासिकाग्र इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ सिंहात्म्यस्वरूपमुपजातिव्याह—

ऋक्षाननो वानरतुल्यचेष्टो

विभर्ति दण्डं फलमामिषं च ।

कूर्ची मनुष्यः कुटिलैश्च केशै-

र्मृगेश्वरस्यान्त्यगतस्त्रिभागः ॥ १५ ॥

इति । मृगेश्वरस्यान्त्यगतस्त्रिभागः एवंपो मनुष्यः । ऋक्षाननः  
ऋक्षोऽच्छमलः शाखामृगविशेषः तस्यांननमिवाननं यस्य स तथा ।  
अतश्चतुष्पाचायं द्रेककाणः । वानरतुल्यचेष्टः दण्डं फलमामिषं च  
विभर्ति । दण्डभरणादुद्यदायुधः । कूर्ची दीर्घश्मश्रुः । कुटिलैः केशैरुप-  
लक्षितश्च ॥ १५ ॥

कन्याप्रत्यक्षरूपमिन्द्रवज्राह—

पुष्पप्रपूर्णेन घटेन कन्या

मलप्रदिग्धाम्बरसंवृताङ्गी ।

वस्त्रार्थसंयोगमभीप्समाना

गुरोः कुलं वाञ्छति कन्यकाद्यः ॥ १६ ॥

इति । कन्यकाद्यो द्रेककाण एवंपो कन्या पुष्पप्रपूर्णेन घटेन  
उपलक्षिता । मलप्रदिग्धाम्बरसंवृताङ्गी मलिनाम्बरप्रावृत्तशरीरा । वस्त्रार्थ-  
संयोगमभीप्समाना वस्त्रप्राप्तिर्मेयप्राप्ति च काङ्क्षमाणेत्यर्थः । गुरोः कुलं  
वाञ्छति गुरुकुलं गन्तुमिच्छति ॥ १६ ॥

१. 'विधो न' क २. 'स मुपमिदं मुखं य' ख. ३. 'ता सा च म' क.

४. 'तिवार्थ' क.

कन्यामध्यद्रेक्काणरूपं वैतालीयेनाह—

पुरुषः प्रगृहीतलेखनः

श्यामो वस्त्रशिरा व्ययायकृत् ।

विपुलं च बिभर्ति कार्मुकं

रोमव्याप्ततनुश्च मध्यमः । १७ ॥

इति । प्रगृहीतलेखनः (श्यामः) पुरुषः । स च वस्त्रशिरा वस्त्र-  
वेष्टितमस्तकः । व्ययायकृद् आयुष्ययगणनपर इत्यर्थः । विपुलं कार्मुकं  
बिभर्ति च, रोमव्याप्ततनुश्च । एवंरूपः कन्याया मध्यद्रेक्काण  
इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ कन्यान्त्यस्वरूपमिन्द्रवज्रया(?)ह—

गौरी सुधौतार्द्रदुकूलयुक्ता

समुच्छ्रिता कुम्भकटच्छुहस्ता ।

देवालयं स्त्री प्रयता प्रवृत्ता

वदन्ति कन्यान्त्यगतस्त्रिभागः ॥ १८ ॥

इति । गौरी स्त्री अनागतार्तवा स्त्री । “गौरी तु नम्रिकानागता-  
र्तवा” इत्यमरः । सुधौतार्द्रदुकूलयुक्ता सुधौतेन आर्द्रेण दुकूलेन विशिष्ट-  
वस्त्रेण युक्ता । समुच्छ्रिता उच्चशरीरा । कुम्भकटच्छुहस्ता कुम्भश्च कटा-  
च्छुश्च हस्ते यस्याः सा तथा । कटच्छुर्लोहभाण्डविशेषः । प्रयता शुद्धा -  
देवालयं प्रवृत्ता देवालयं प्रति गच्छन्तीति यावत् । एवंरूपा स्त्री कन्या-  
न्त्यगतस्त्रिभाग इति वदन्ति । शास्त्रकारा इति शेषः ॥ १८ ॥

अथ तुलावस्वरूपं प्रसन्ततिरदेनाह—

वीथ्यन्तराणमतः पुरुषस्तुलावी-

नुन्मानमानकुशलः प्रतिमानहस्तः ।

भाण्डं विचिन्तयति कस्य विषण्णमेतद्

रूपं वदन्ति यवनाः प्रथमं तुलायाः ॥ १९ ॥

इति । यवनाः तुलायाः प्रथमं रूपम् एवंविधं वदन्ति । तुलायाः प्रथमद्रेक्काणः पुरुपरूपः । स कीदृशः किं करोतीत्याह— वीध्यन्तरापणगतः वीध्यां राजवीध्याम् अन्तरापणम् अन्तर्निषद्यां गतः । तुलावान्, उन्मानमानकुशलः उन्माने माने च कुशलः । प्रतिमानहस्तः (प्रतिमानं) तुलामारादिमानसाधनम् । एतद्भाण्डं कस्य विषण्यं विक्रेयमिति चिन्तयति । एवंप्रथमद्रेक्काण इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ तुलाद्वितीयस्वरूपं तादृकेनाह—

कलशं परिगृह्य विनिष्पतितुं

समभीप्सति गृध्रमुखः पुरुषः ।

क्षुधितस्तृपितश्च कलत्रसुतान्

मनसैति तुलाधरमध्यगतः । २० ॥

इति । तुलाधरमध्यगतः द्रेक्काणः पुरुषः पुरुपरूपः । किं च गृध्रमुखः कलशं परिगृह्य विनिष्पतितुं समभीप्सति गन्तुमिच्छति । क्षुधितस्तृपितश्च बुभुक्षया पिषामया च युक्त इत्यर्थः । कलत्रसुतान् मनसा एति ध्यायतीति यावत् ॥ २० ॥

अथ तुलाधरस्वरूपं वेताभ्येनाह—

विभीषयंस्तिष्ठति रत्नचित्रितो

वने मृगान् काञ्चनतूणवर्मभृत् ।

धनुर्धरः किन्नररूपभृन्नर-

रतुलावसाने यवनैरुदाहृतः ॥ २१ ॥

इति । तुलावसाने द्रेक्काण एवंपुरुषः । धनुर्धरो नरः वने मृगान् विभीषयन् तिष्ठति । रत्नचित्रितः रत्नैरलङ्कृतः । काञ्चनतूणवर्मभृत् । किन्नररूपभृत् विकृतरूप इत्यर्थः ॥ २१ ॥

१. 'स पुरुषः की', २. 'तथाह—' क. ३. 'णगतः स' ख. ४. 'न', ५. 'ने कु' क. ६. 'येः ॥ क' ख. ७. 'ह' क. ८. 'तीत्यर्थः ॥' क. ९. 'त' वि' ख. १०. 'ए' क. ११. 'येः ॥ वज्रैः' ख.

अथ वृश्चिकप्रथमस्वरूपमुपजातिकयाह—

वस्त्रैर्विहीनाभरणैश्च नारी  
महासमुद्रात् समुपैति कूलम् ।  
स्थानच्युता सर्पनिबद्धपादा  
मनोरमा वृश्चिकराशिपूर्वः ॥ २२ ॥

इति । वृश्चिकराशिपूर्वद्वेष्टकाण एवंपिधा स्त्री भवति । मनोरमा नारी स्थानच्युता महासमुद्रात् कूलं समुपैति । वस्त्रैर्विहीना परिधानी योत्तरीयावकुण्ठनसाधनैर्वस्त्रैर्विहीना, आभरणैश्च विहीना । सर्पनिबद्धपादा च । एवंपिधं स्त्रीरूपं वृश्चिकादिद्वेष्टकाणस्य रूपमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ वृश्चिकद्वितीयस्वरूपं (तोष्टके'दोषके')नाह—

स्थानमुत्खान्यभिवाञ्छति नारी  
भर्तृकृते भुजगावृतदेहा ।  
कच्छपकुम्भसमानशरीरा  
वृश्चिकमध्यमस्वरूपमुशन्ति ॥ २३ ॥

इति । वृश्चिकमध्यमस्वरूपम् एवंपिधमुशन्ति । भुजगावृतदेहा नारी भर्तृकृते भर्त्रर्थं स्थानमुत्खानि अभिवाञ्छति । कच्छपकुम्भसमानशरीरा कच्छपवद् वृत्तं कुम्भवन्महोदरं च कच्छपकुम्भममानं तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा । एवंपिधा स्त्री वृश्चिकमध्यमस्वरूपं वृश्चिकमध्यद्वेष्टकाणस्य रूपमेवमिति उशन्ति । आचार्या इति शेषः ॥ २३ ॥

अथ वृश्चिकान्त्यम्बरूपं पुष्पिताप्रयाह—

पृथुलचिपिटकूर्मतुल्यवक्रः  
श्वमृगानृगालवराहभीष(?)कारी ।

१. 'वो', २. 'ना वस्त्रै' क. ३. 'श्व हो', ४. 'धं: ॥ स्वा' प्र. ५. 'ति । सु' स.  
६. 'स्वा: । प' क.

अवति च मलयाचलप्रदेशं ।

मृगपतिरन्त्यगतश्च वृश्चिकस्य ॥ २४ ॥

इति । वृश्चिकस्य अन्त्यगतो द्रेक्काणः पृथुलचिपिटकूर्मतुल्य-  
वक्रः पृथुलं चिपिटं कूर्मतुल्यं च वक्रं यस्य स तथोक्तः, तादृशो  
मृगपतिर्भवति । श्वमृगसृगालवराहाणां भीषकारी भयङ्करः । मलया-  
चलप्रदेशम् अवति च । मलयाचलप्रदेशं चन्दनवनमिति यावत् ।  
एष द्रेक्काणः मृगे नररूपः अधःकाये सिंहरूपश्चतुष्पाच्च भवति ।  
एवं वृश्चिकान्त्यद्रेक्काणैरुपम् ॥ २४ ॥

अथ धन्विपूर्वस्वरूपमिन्द्रवज्रया(?)ह—

मनुष्यवक्रोऽश्वसमानकायो

धनुर्विकृष्यायतमाश्रमस्यः ।

ऋतूपयोग्यानि तपस्विनश्च

रक्षत्यथो धनुपस्त्रिभागः ॥ २५ ॥

इति । अथ धनुषः आद्यः त्रिभागैः आश्रमस्यः आयतं धनुर्विकृष्य  
ऋतूपयोग्यानि तपस्विनश्च रक्षतीत्यन्वयः । ऋतूपयो(ज्याग्या)नि  
यज्ञोपयोगिद्रव्याणि । मनुष्यवक्रः, अश्वसमानकायः अश्वसमानाधः-  
कायः । तस्मादयं द्रेक्काणो नरश्चतुष्पाच्च उद्यदायुधश्च ॥ २५ ॥

अथ द्वितीयस्वरूपमुपजाति(कमा'कया)ह—

मनोरमा चमर्कहेमवर्णा

भद्रासने तिष्ठति भद्ररूपा ।

समुद्ररत्नानि विधट्टयन्ती

मध्यत्रिभागो धनुषः प्रदिष्टः ॥ २६ ॥

\* 'करप्र' इति मूलपाठः ।

१. 'तथा ता' ख २. 'ख । ए' क ३. 'णम् ॥ मनु' ख. ४. 'यः भाय' क.  
५. 'य ॥ म' ख.



इति । धनुषो मध्यत्रिमास एवरूपः प्रदिष्ट इति सम्बन्धः ।  
कीदृश इत्यत्राह— भद्ररूपा मनोरमा चम्पकहेमवर्णा स्त्री भद्रासने  
समुद्ररत्नानि विघट्टयन्ती तिष्ठति । भद्रमासनं भद्रासनम् । समुद्ररत्नानि  
समुद्रजातानि मुक्ताप्रवालादीनि रत्नानि । विघट्टयन्ती चलयन्ती,  
तिष्ठतीत्यर्थः । एतादृश धनुर्मध्यद्वेक्काणरूपम् ॥ २६ ॥

अथ तृतीयस्वरूपमुपजातिरुच्यते—

कूर्ची नरो हाटकचम्पकाभो

वरासने दण्डधरो निषण्णः ।

कौशेयकान्युद्वहतेऽजिनं च

तृतीयरूपं नवमस्य राशेः । २७ ॥

इति । नवमस्य राशेः तृतीयरूपम् एवंविधं भवति<sup>१</sup> । हाटक-  
चम्पकाभः कूर्ची दीर्घश्मश्रुर्नरः वरासने दण्डधरो निषण्णः कौशेय-  
कानि अजिनं च उद्वहते इत्यन्वयः । कौशेयकानि पट्टवस्त्राणि ।  
अजिनं चर्म । दण्डधरत्वेन उद्यदायुध इत्यर्थः<sup>२</sup> । एवंविधं धनुष-  
स्तृतीयद्वेक्काणरूपम् ॥ २७ ॥

अथ मकरप्रथमस्वरूपं (तोडके<sup>३</sup> दोधके<sup>४</sup>) नाह—

रोमचितो मकरोपमदंष्ट्रः

सूकरकायसमानशरीरः ।

योक्त्रकजालकबन्धनधारी

रौद्रमुखो मकरे प्रथमस्तु ॥ २८ ॥

इति । मकरे प्रथमस्तु द्वेक्काण एवविधो भवति । रोमचितः  
रोमभिर्व्याप्तशरीरः । मकरोपमदंष्ट्रः मकरो नक्रः तत्सदृशी दंष्ट्रा  
यस्य स तर्कोक्तः । सूकरकायसमानशरीरः सूकरशरीरतुल्याधःकायः ।

१. 'ह— मनोरमा भद्ररूपा च', २. 'दिर' क. ३. 'यं ॥ ह', ४. 'ति । ह' ख.  
५. 'यं ॥ रो', ६. 'मदे' ख. ७. 'या । सु' क. ८. 'रतु' ख.

योक्त्रकजालकवन्धनधारी योक्त्रं वृषादीनां युगवन्धनपाशः, जालकं  
निगलाकारलोहजालवद्वयन्ता वागुरा एवंप्रवन्धनद्रव्यधारणशीलः ।  
रौद्रमुखः भयङ्करमुखः पुरुषो भवति । एष द्वेकक्राणो निगलभृच्चतु-  
ष्पादो नरश्च ॥ २८ ॥

अथ द्वितीयस्य स्वरूपमुपजातिरुयाह—

कलास्वभिज्ञाब्जदलायताक्षी

श्यामा विचित्राणि च मार्गमाणा ।

विभूषणालङ्कृतलोहकर्णा

योपित् प्रदिष्टा मकरस्य मध्ये ॥ २९ ॥

इति । मकरस्य मध्यद्वेकक्राण एवंविधा योपित् प्रदिष्टा । कलासु  
अभिज्ञा कलाविद्यासु कुशला । अब्जदलायताक्षी, श्यामा यौवनमध्यस्था,  
विचित्राणि वस्तूनि वस्त्रादीनि मार्गमाणा अन्विच्छन्ती । विभूषणाल-  
ङ्कृतलोहकर्णा विभूषणालङ्कृता लोहकर्णा च । विभूषणानि कर्णा-  
भरणादन्यानि गृह्यन्ते । कर्णे लोहालङ्काराण्युक्तेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अथ मकरान्त्यस्वरूपं रथोद्धतयाह—

किन्नरोपमतनुः सकम्बल-

स्तूणचापकवचैः समन्वितः ।

कुम्भमुद्धति रत्नचित्रितं

स्कन्धगं मकरराशिपदिचमः ॥ ३० ॥

इति । मकरान्त्यद्वेकक्राण एवंविधः । किन्नरोपमतनुः किन्नरवद्  
विकृतशरीर इत्यर्थः । सकम्बलः कम्बलवेष्टितः । तूणचापकवचैः तूणेन  
शरधिना चापेन कवचेन च समन्वितः । रत्नचित्रितं स्कन्धगं कुम्भ-  
मुद्धति । एवंविधः पुरुषो मकरान्त्यद्वेकक्राणरूपर्ध्व ॥ ३० ॥

१. 'अ ॥ कला' ए. २. 'त' क' क ३. 'नी' ख. ४. 'ता च छो' क.  
५. 'नी च । कर्णे' ख. ६. 'रा इत्युक्तं भवति ॥' क. ७. 'ये ॥ कि', ८. 'रावापेन  
च' ए. ९. 'न्धगतं कु' क. १०. 'रूपः ॥ से' ख.

अथ कुम्भाद्यस्वरूपं रथोद्धतयाह—

स्नेहमद्यजलभोजनामिष-

व्याकुलीकृतमनाः सकम्बलः ।

कौशिकेय(१)वसनोऽजिनान्वितो

गृध्रतुल्यवदनो घटादिजः ॥ ३१ ॥

इति । घटादिजः कुम्भस्य आदिभवो द्वेक्काण एवंपो भवति । स्नेहमद्यजलभोजनामिषव्याकुलीकृतमनाः स्नेहास्तैलादयः, मद्यं मदिरा, जलं पानीयं, भोजनमोदनादि, आमिषं मांसम् । एतेषामभावात् कथमेतेषां प्राप्तिर्भवेदिति व्याकुलीकृतबुद्धिरित्यर्थः । सकम्बलः शयनासनसाधनकम्बलयुक्तः । कौशिकेयवसनः कौशिकेयं पट्टविशेषः । अजिनान्वितः चर्मणान्वितः, गृध्रतुल्यवदनः । एष द्वेक्काणः पक्षी च ॥ ३१ ॥

अथ द्वितीयस्वरूपज्ञानार्थं वैशालीयमाह—

दग्धे शकटे सशाल्मलौ

लोहान्याहरतेऽङ्गना वने ।

मलिनेन पटेन संवृता

भाण्डैर्मूर्ध्नि गतैश्च मध्यमः ॥ ३२ ॥

इति । कुम्भमध्य(द्वेक्काण) एवमिषः । अङ्गना वने मलिनेन पटेन संवृता दग्धे शकटे लोहान्याहरते इत्यन्वयः । सशाल्मलाविति वनविशेषणं, शाल्मलीवृक्षसहिते वने । दग्धशकटगतानि लोहानि गृह्णन्ती मलवस्त्रसंवृता मूर्ध्नि स्थितैर्भाण्डैश्च उपलक्षितौ अङ्गना तरुणी कुम्भमध्यद्वेक्काण इत्युक्तं भवति । अयं द्वेक्काणश्चाग्निसहितः ॥ ३२ ॥

अथ कुम्भान्त्यस्वरूपमिन्द्रवज्रयाह—

श्यामः सरोमश्रवणः किरीटी

त्वक्पत्रनिर्यासफलैर्विभर्ति ।

१, २. 'गमैर्व्याकु', ३. 'दि एतेषामागमं प्राप्तिं प्रति व्याकुलीकृतमनाः एतेषां राहित्येन कथमेतेषां क.' ४. 'पः । अजिनं चर्म गृ', ५. 'च ॥ ३१', ६, ७. 'ह' ख. ८. 'श', ९. 'गम् । अग्निदग्धे श' क. १०. 'ह्यति', ११. 'ह' ख. १२. 'पट्टेरप', १३. 'ता च । एष द्वेक्काण, स्त्रीरूपः ॥' क. १४. 'तः श्या' ख.

माण्डानि लोहव्यतिमिश्रितानि

सञ्चारयत्यन्यगतो घटस्य ॥ ३३ ॥

इति । घटस्यान्यगतो द्रेक्काण एवंविधः । इयामैः पुरुषः तथा सरोमथवर्णैः लोमशर्कराः, किरीटी च सन्, त्वक्पत्रनिर्यासफलैः<sup>१</sup> लोहव्यतिमिश्रितानि माण्डानि विभर्ति सञ्चारयति च । त्वक् चर्म, पत्रं दलं, निर्यासो दिङ्गुगुग्मुल्वादिः, फलानि हरीतक्यादीनि, एतैः क्रयविक्रयमाधनभूतैः सह लोहव्यतिमिश्रितानि माण्डानि विभर्ति संगृह्णाति, सञ्चारयति च प्रसारयति(च) । एवंकर्मा पुरुषः कुम्भान्त्य-  
द्रेक्काणरूपः ॥ ३३ ॥

अथ मीनाद्यम्बरूपमिन्द्रवज्रयाह—

सुग्माण्डमुक्तामणिशङ्खमिश्र-

व्याक्षिप्तहस्तः सविभूषणश्च ।

भार्याविभूषार्थमपां निधानं

नावा प्लवत्यादिगतो जपस्य ॥ ३४ ॥

इति । जपस्योदिगतो द्रेक्काण एवंकर्मा पुरुषः । सुग्माण्ड-  
मुक्तामणिशङ्खमिश्रव्याक्षिप्तहस्तः यज्ञपात्रैः मुक्ताशङ्खादिभिश्च जलद्रव्यैः  
मिश्रैः मिलितैः व्याक्षिप्तहस्तः सविभूषणः विभूषणैः सहितैश्च सन्  
भार्याविभूषार्थम् अपां निधानं समुद्रे नावा प्लवति । एवंव्यापारः  
पुरुषो मीनादिद्रेक्काणैः ॥ ३४ ॥

अथ मीनद्वितीयम्बरूपं वामन्तिलकैनाह—

अत्युच्छ्रितध्वजगताकमुपैति पोतं

कूलं प्रयाति जलधेः परिवारयुक्ता ।

वर्णेन चम्बकमुपा प्रमदा त्रिभागो

मीनस्य चैषं कथितो मुनिभिर्द्वितीयः ॥ ३५ ॥

१ 'रूपः । इया', २. 'मः इयामवर्णैः म', ३. 'नः सरोमथिते धवणे श्रोत्रे  
यस्य स तथा । कि' क. ४. 'लैः सहलो' म. ५. 'न्धा', ६. 'गुलादीनि' क. ७. 'न्धा',  
८. 'पः ॥ सु' ख. ९. 'दिद्रे', १०. 'व्यमि' म. ११. 'त म', १२. 'नः ॥ जस्यु' ख.  
१३. 'जस्यु' क.

इति । मीनस्य द्वितीयास्त्रिभार्गः मुनिभिरेष कथितः । एष इति एवमुक्तरूप इत्यर्थः । चम्पकमुषा वर्णेन उपलक्षिता प्रमदा परिवार-  
युक्ता अत्युच्छ्रितध्वजपताकं पोतमुपैति जलधेः कूलं प्रयाति चे-  
त्यन्वयः । चम्पकमुषा चम्पकसदृशेनेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ मीनान्त्यद्रेवकाणस्यरूपमिन्द्रवज्राह—

श्वभ्रान्तिके सर्पविवेष्टिताङ्गो

वस्त्रैर्विहीनः पुरुषस्त्वटव्याम् ।

चौरानलव्याकुलितान्तरात्मा

विक्रोशते(?)ऽन्त्योपगतो जपस्य ॥ ३६ ॥

इति । जपस्य अन्त्योपगतः द्रेवकाणः एवंविधः पुरुषो भवति ।  
वस्त्रैः विहीनः पुरुषः अटव्यां श्वभ्रान्तिके सर्पविवेष्टिताङ्गः चौरा-  
नलव्याकुलितान्तरात्मा विक्रोशते इत्यन्वयः । वस्त्रैः परिधानीयोष्णीषैः ।  
श्वभ्रान्तिके" गर्वसमीपे । चौरैरनलेनोपिना च व्याकुलितः अन्तरात्मा  
यस्य स तथा । विक्रोशते हाकारं कुरुते । एष सर्पद्रेवकाणः अग्नि-  
सम्बन्धी च । इति पदत्रिंशद्विधानां द्रेवकाणानां रूपाणि प्रदर्शितानि ।  
एतद्रूपसम्बन्धिनामसाधारणवस्तूनां प्रश्नप्रमये दर्शने" वा ध्वजे वा  
सति तत्सम्बन्धिना द्रेवकाणेन सूर्यस्य योगे चन्द्रस्य योगे वा  
सम्भवति प्रष्टुः शुभमशुभं वा फलं देवजेन निर्देष्टव्यमित्यादि-  
बहुविधोपयोगि द्रेवकाणेष्वानम् । इति समस्तदृष्टजातकनष्टजात(कै०क)-  
लक्षणोक्त्यनन्तरं द्रेवकाणरूपाणि परमकारुणिकेन वराहमिहिराचार्येण  
सम्पक् प्रदर्शितानीत्यवगन्तव्यम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीरुद्रकृते बृहज्जातकविवरणे द्रेवकाणाध्यायः पञ्चविंशः ।

१. 'ग एवंरूपो गुं', २. 'भिः कथितः च', ३. 'भ्यु', ४. 'यः अ क. ५. 'यः' ॥  
५. 'नि' ख. ७. 'न्त्यद्रे', ८. 'यः च' क. ९. 'नि', १०. 'यः' ख. ११. 'के  
चो', १२. 'न द्वाभि', १३. 'भलम्', १४. 'नामेव' १५. 'ने ध' क. १६. 'ये सति',  
१७. 'लक्षणा', १८. 'काजायकदृष्ट' क.

## अथ षट्विंशोऽध्यायः ।

अथ चिकीर्षितप्रतिज्ञानिर्घूढिम् आत्मोद्भवपरिहारपूर्वकं च सन्ततिलकेनाह—

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः

\*कापिष्ठिलः सवितृलब्धवरप्रसादः ।

आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्य-

\*घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥ १ ॥

इति । वराहमिहिरोऽहं मुनिमतानि सम्यगवलोक्य रुचिरां  
होरां चकारेत्यन्वयः । मुनिमतानि गर्गवभिष्टपराशरादीनां मतानि ।  
सम्यगवलोक्य सम्यक् शब्दार्थतत्तात्पर्यतश्चावलोक्य, पदार्थाः  
ज्ञानार्थाः, विज्ञायेति यावत् । ग्रहणघाणोद्धार्यविज्ञानतत्त्वज्ञानगुण-  
युक्तया बुद्ध्या यथावदवधार्येत्यर्थः । रुचिरां रुचिप्रदां श्रोतृणां पठन-  
रुचिप्रदामित्यर्थः । होरां गणितजातकशाखाख्यस्कन्धत्रयात्मकस्य  
ज्योतिःशास्त्रस्य सारभूतं निषेकादिशिवपरिणामान्तकालाधिकरणेनाना-  
विधफलप्रदर्शनपरं शास्त्रं चकार कृतवानस्मि । कीदृश इत्यत्राह—  
आदित्यदासतनयः आदित्यदासारख्यस्य कार्तान्तिकोत्तमस्य तनयः ।  
अनेन विशेषणेन सम्प्रदायशुद्धिरुक्ता । तदेव दर्शयति — तदवाप्त-  
बोध इति । तस्मादादित्यदासात् पितुरेव अवाप्तः बोधः ज्ञानं साम्प्र-  
दायिकं जातकविषयज्ञानं यस्य सः तदवाप्तबोधः । कापिष्ठिलः कपि-  
ष्ठिलगोत्रजात इत्यनेनाभिजन्म सूचितम् । सवितृलब्धवरप्रसादः सवितु-  
रादित्यदेवाल्लब्धो वरप्रसादो यस्य सः सवितृलब्धवरप्रसादः । ननु  
रावणादिवत् केवलं लब्धवरः, किन्तु आदित्यदेवाल्लब्धवरो लब्ध-  
प्रसादश्चेत्यर्थः । अनेन परमकारुणिके सवितरि आत्मनो मत्तपतिशयं  
द्योतयता भगवदनुग्रहस्य प्रसादोपबृंहितत्वेन सर्वकामदुष्टत्वं प्रतीयते ।

१. 'कमुपदिशति', २. 'वय जि' क- ३ 'थंश', ४ 'का' ख ५ 'गं ना',  
६ 'रं जातकशा', ७. 'त्याह', ८. 'रप्र', ९ 'हप्र' क.

\* " पिरयके" इति मुद्रितपुस्तकपाठः ।

आवन्तिकः अवन्तिविषयभवः । चकारेति उत्तमपुरुषेऽपि परोक्षविषय-  
लिट्प्रयोगेण अत्र शास्त्रे प्रोक्तेषु विस्मापनप्रत्ययादिलक्षणाविधिषु स्व-  
मनीषापरिकल्पितत्वं परिह्रियते । एवं पुरातनैरुक्तानि लक्षणानि ।  
एषां लक्षणानां लक्ष्येषु संवादश्च सम्यग् दृश्यते । अतो मया  
लोकानुग्रहकाम्यया सम्प्रदायसिद्धानि<sup>१</sup> प्रदर्शितानि इति प्रतीयते ।  
आगममूर्तिमिदं शास्त्रमिति द्योतितं भवति<sup>२</sup> ॥ १ ॥

अध्यायानुक्रममाह मार्धने श्लोकद्वयेन—

राशिप्रभेदो ग्रहयोनिभेदो

वियोनिजन्माथ निपेक्षकालः ।

जन्माथ सद्योमरणं तथायु-

र्दशाविषाकोऽष्टकवर्गसंज्ञः ॥ २ ॥

कर्माजीवो राजयोगाः स्वयोगा-

श्चान्द्रा योगा द्विग्रहाद्याश्च योगाः ।

प्रव्रज्यातो राशिशीलानि दृष्टि-

र्भावस्थानान्याश्रयोऽथ प्रकीर्णः ॥ ३ ॥

नेष्टा योगा जातकं भामिनीनां

निर्याणं स्यान्नष्टजन्मा दृगाणोः ॥ ३ ॥

१. 'निर्द', २. 'ति ॥ अध्यायसं'ग्रहाणमुपजातिकामाह-रा', ३. 'ज्ञः ॥ इति ।  
प्रथमो राशिप्रभेदः, द्वितीयो ग्रहयोनिभेदः, तृतीयो वियोनिजन्मा, चतुर्थो निपेक्षकालः,  
पञ्चमो जन्म, षष्ठं सद्योमरणं, सप्तम आयुर्दायः, अष्टमो दशाफलानि, नवमोऽष्टक-  
वर्गः ॥ पुनरपि ज्ञास्मिनीमाह- 'कर्मा'; ४. 'णः ॥ इति । दशमः कर्माजीवः, एकादशो  
राजयोगः, द्वादशः स्वयोगः, त्रयोदशश्चान्द्रयोगः, चतुर्दशो द्विग्रहयोगः, पञ्चदशः  
प्रव्रज्यायोगः, षोडशो राशिशीलानि, सप्तदशो ग्रहदृष्टिः, अष्टादशो भावफलम्,  
एकोनविंश आश्रययोगः, विंशः प्रकीर्णः ॥ पुनरपि ज्ञास्मिनीमाह— नेष्टा' क.  
५. 'णः । अध्यायानां विंशतिः पञ्चयुक्ता चत्वार्युक्तान्यत्र कृत्वा (!) शतानि ॥ इति ।  
एकविंशोऽनिष्टयोगः, द्वाविंशः स्त्रीजातकम्, त्रयोविंशो निर्याणं, चतुर्विंशो नष्टजातकं,  
पञ्चविंशो वैश्वकान्तकम् । षट्विंशोऽध्यायक्रमप्रदर्शनपरोऽध्यायः ॥' क.

इति । तत्र प्रथमं राशिभेदाध्यायेन द्वितीयेन ग्रहयोनिभेदाध्यायेन च शास्त्रव्यवहारसिद्धेः द्वये राशिग्रहाणां संज्ञा तत्सम्बन्धिनो विशेषाश्च प्रदर्शिताः । तृतीयेन त्रियोनिजन्माध्यायेन मानुषेतराणां चतुष्पदां पक्षिणां तरुणां च लक्षणानि प्रदर्शितानि । चतुर्थेन निषेकाध्यायेन ऋतुकालमिथुनमैथुनगर्भसम्भवानां, सम्भूतस्य गर्भस्य (स्त्री)पुत्रपुंसकत्वप्रसवकालानां च लक्षणानि प्रदर्शितानि । पञ्चमेन जन्माध्यायेन विस्मापनतात्कालिकलक्षणप्रपञ्चदर्शनपुरस्सरं जातकशास्त्रप्रतिपाद्यानां लक्षणानां प्रथमसाधनं जन्म प्रदर्शितम् । षष्ठेन सद्योभरणाध्यायेन जातस्यारिष्टनिमित्तानि विनाशलक्षणानि प्रदर्शितानि । सप्तमेनायुर्दायाध्यायेन आरिष्टलक्षणाभावाज्जीविताज्जीवनकालज्ञानं प्रदर्शितम् । अष्टमेन दशाविपाकाध्यायेन जीवतां जीवितकालस्य यथानिर्दिष्टक्रमभाविमिर्दशान्तर्दशभेदैर्बहुधा विभक्तस्य पुनरावर्तमानवर्षमासदिवसाद्यात्मकस्य तत्तत्कालफलविशेषानुभवनिर्देशसाधनत्वं प्रदर्शितम् । ततो नवमेनाष्टकवर्गाध्यायेन ग्रहाक्रान्तराशिचक्रस्य पण्णवतिधा विभक्तस्य ग्रहगोचरवशेन फलविशेषनिर्देशप्रकारः प्रदर्शितः । ततः कर्माजीवाध्यायेन राजयोगाध्यायेन स्वयोगाध्यायेन चान्द्रयोगाध्यायेन द्विग्रहादियोगाध्यायेन प्रव्रज्याध्यायेन राशिशीलाध्यायेन (दृष्टिकलाध्यायेन) भावाध्यायेन (स्थानाध्यायेन?) आश्रयाध्यायेन प्रकीर्णकाध्यायेन क्रमादेकादशभिरध्यायैर्जन्मिनां पुंसां नैसर्गिकानि लक्षणानि प्रदर्शितानि । एकविंशेन ने(ष्टाष्ट)योगाध्यायेन पुंसां पुत्रकलत्रेन्द्रियाद्यनिष्टयोगाः प्रदर्शिताः । द्वाविंशेन भाभिर्नीजातकाध्यायेन स्त्रीणां लक्षणान्युक्तानि । त्रयोविंशेन निर्याणाध्यायेन पुंसामनुभूतदशाफलगोचरफलनिसर्गफलानामवसाने देहवियोगलक्षणस्य निर्याणस्य कारणभेदाश्च प्रदर्शिताः । चतुर्विंशेन नष्टजातकाध्यायेन दैवज्ञैरवश्यमादेष्टव्यस्य पृच्छकानां जातकफलस्य मूलभूतजन्मकालपरिज्ञानेऽपि प्रश्नकालविलम्बवशाज्जातकानयनं प्रदर्शितम् । पञ्चविंशाध्यायेन संज्ञाध्याये पूर्वमदर्शितानां तत्रतत्र फलविशेषनिर्देशोपयोगिनां त्रेककाणानां रूपं प्रदर्शितम् । तस्मात् पञ्चविंशो त्रेककाणाध्यायः ॥ ३७ ॥



अथ उत्तरार्धेन अध्यायसङ्ख्यामाह—

इत्यध्यायाः विंशतिः पञ्च चोक्ता

वृत्तान्येभिः स्युस्त्यशीत्या शतानि ॥ ४ ॥

इति । उक्तप्रकारेण अध्याया विंशतिः पञ्च च उक्ताः । तथा एभिर्ध्यायैः त्र्यशीत्या शतानि वृत्तानि स्युः । अत्र शास्त्रे अध्यायाः पञ्चविंशतिः । तेषु चाध्यायेषु साकल्येन त्र्यशीतिसहितानि त्रीणि शतानि वृत्तानि (इति) उक्तं भवति । एवं जातकविपर्यं शास्त्रं पञ्चविंशत्यध्यायं त्र्यशीत्युत्तरशतत्रयप्रमाणश्लोकत्वेनोपसंहृतम् । अथ केचित्तुर्थादमन्यथा पठन्ति— “जन्माद्येतद्यात्रिकं चाभिधास्ये” इति । अस्मिन् पक्षे श्लोकसङ्ख्या नोक्ता स्यात् ॥ ४ ॥

अस्मान् वराहमिहिराचार्यः स्वात्मना विरचितायां यात्राहोरायाञ्च अध्यायानुपदिशति—

प्रश्नास्तिथिर्भू दिवसाः क्षणाश्च

चन्द्रो विलम्बं त्वथ लग्नभेदः ।

सिद्धिर्ग्रहाणामथ चापवादो

विमिश्रकार्यं तरुवेधेनं च ॥

अतः परं गुह्यकपूजनं स्यात्

स्वप्नं तथा स्नानविधिः प्रदिष्टः ।

यज्ञो ग्रहाणामपि निग्रहश्च

क्रमादथोक्तः शकुनोपदेशः ॥

एते प्रश्नादयः शकुनोपदेशान्ता यात्राहोरायां निर्दिष्टाः ॥

\* राशिप्रभेद इत्यारभ्येतदन्तो भागः पञ्चविंश्याध्यायान्तिमोऽसौ योजनीयः ।

१. ‘जन्मन्ते’, २. ‘रथ’, ३. ‘य’, ४. ‘त’, ५. ‘समे’ निर्गमश्च इति सुव्रितपाठः ।

विवाहकालः करणं ग्रहाणां  
 प्रोक्तं तथोक्ता विपुला च शाखा ।  
 स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्योतिपसङ्ग्रहोऽयं  
 मया कृतो दैवविदां हिताय ॥

विवाहकालो विवाहपटलः, ग्रहाणां करणं पञ्चसिद्धान्तिकारूपं  
 गणितशास्त्रं, तथा विपुला शाखा सहितारूपं शास्त्रं मया कथितम् ।  
 एवमयं ज्योतिषमङ्ग्रहः गणितस्कन्धसंहितास्कन्धजातकस्कन्धारूपै-  
 स्त्रिभिः स्कन्धैः मया दैवविदां हिताय कृतः ॥

पृथु विरचितमन्यैः शास्त्रमेतत् समस्तं  
 तदनु लघुतयैतत् तत्प्रदेशार्थयुक्तम् ।  
 कृतमिह हि समर्थं धीविपाणामलत्वे  
 मम यदिह दुरुक्तं सज्जनैः क्षम्यतां तत् ॥

मया संक्षिप्य लघुतया कृतमपीदं शास्त्रं धीविपाणामलत्वे समर्थं  
 बुद्धिमृद्ध्यस्य निर्मलीकरणे समर्थम् । इह मया यद् दुरुक्तं भवति तत्  
 सज्जनैः क्षम्यताम् ॥

ग्रन्थस्य तु प्रचरतांस्त्य विनाशमेति  
 लेख्याद् बहुश्रुतमुखाधिगतक्रमेण ।  
 यद्यन्मयोरुक्तमल्पतया कृतं वा  
 कार्यं तदत्र विदुषा परिहृत्य रागम्(?) ॥

इत्यस्य ग्रन्थस्य पाररक्षणाय विद्वज्जनं प्रार्थयन्ने ॥  
 दिनकरमुनिगुरुचरणप्रणिपातकृतप्रसादमतिनेदम् ।  
 शास्त्रमुपसङ्गृहीतं नमोऽस्तु पूर्वप्रणेतृभ्यः ॥

१. 'पृथक् तद् वि' इति मुद्रितपाठः । २. 'म', ३. 'धैमेव', ४. 'वा',  
 ५. 'तो' मुद्रितपाठः ।

दिनकरो रविः, मुनयो वसिष्ठरोमशपौलिशाः, गुरुः पितामहः  
 ब्रह्मा, एते पञ्च सिद्धान्तकर्तारः । तेषां प्रणिपातेन कृतप्रसादमतिना  
 मया इदं ज्योतिर्विषयं शास्त्रं सारसङ्ग्रहरूपेण प्रदर्शितम् । इति ।  
 (स्वतर्क)लोकानुग्रहाय स्कन्धत्रयसारसङ्ग्रहात्मकम् आत्मनो व्यापार-  
 मुपसंहरन्नाचार्यः ज्योतिदज्ञास्त्रस्य प्रणायकान् पूर्वाचार्यान् नम-  
 स्करोति— नमोऽस्तु पूर्वप्रणेतृभ्य इति ।

श्रीमद्वराहहोरातात्पर्यमनल्पमपि यथाशक्ति ।

विवृतं मयेह तदिदं विशोधयन्तु सुधियोऽनुगृह्यन्तु ॥

कृत्वा रुक्मिसहोदरीकमितरि प्रावण्यपूतं मन-

स्तद्विभ्रम्य गिरा वराहमिहिरोक्तेरर्थनामिश्रया ।

सत्स्वीकृत्यनुविद्धमागमिकताप्राणं सुधीदं प्रिया-

यार्थं (?) व्याकृपि वास्तवज्ञसदनो नन्वल्पयाहं धिया ॥

भद्राशीर्निर्धृताद्यहि मकरेऽर्के बुधोदये ।

इदं होराविवरणं रुद्रेण सुसमापितम् ॥

इति होराविवरणे षड्विंशोऽध्यायः ॥

# श्लोकानुक्रमणी ।

|                   |     |                     |     |
|-------------------|-----|---------------------|-----|
| अजरूपभमृगा        | २७  | आथयोक्तास्तु        | २२९ |
| अत परं गुह्यक     | ३७० | आमलकेन्द्र          | २२४ |
| अरुणितध्वज        | ३६५ | इति नष्टजातक        | ३४९ |
| अत्रापि होरा      | ३३९ | इति निगदित          | १९६ |
| अष्टष्टायो रोगो   | २८६ | इन्दोः प्राप्य दशा  | १०७ |
| अधमसमवरि          | २३३ | इष्ट्यान्विता सुख   | ३२१ |
| अनिमित्तपरमाप्त   | १५१ | इष्ट्युः क्षामप्रदो | २८४ |
| अन्तःशान्तिन्यशुभ | ३०६ | इष्ट्युर्दिशानिरत   | २२८ |
| अन्तासाराजन       | ६४  | उग्रमहः सित         | ३०१ |
| अन्योन्यं यदि     | ८७  | उष्णत्रिकोण         | २१७ |
| अन्योन्यस्य धन    | ५४  | उपसमोगसुख           | २३८ |
| अपि खलकुल         | २१७ | उत्साहशौर्य         | २३९ |
| अभिलपसि रुद       | ८०  | उदगयने रश्मि        | ५६  |
| अयनक्षण           | ५१  | उदयति मृदु          | १०३ |
| अर्काक्षि वृण     | २०५ | उदयस्तुदुपे         | ३०९ |
| अर्थाक्षिः विदु   | २०४ | उदयरश्मि            | १५९ |
| अर्धेन्दुजः सुभग  | २३१ | उदयस्योऽपि वा       | १०७ |
| अवपापत्यो दुःखि   | २७९ | उदयास्तगयोः         | ८३  |
| अशुभद्वयमध्य      | ८१  | उदयोदुदयोऽयं        | ११३ |
| अशुभसहिते         | १३१ | उद्यानसंस्थ         | ३५४ |
| असितकुजयो         | ३०४ | उभयोऽधममध्य         | १६९ |
| असितरश्मि         | १४२ | अज्ञाननो बानर       | ३५० |
| असितसित           | २४५ | एकं द्वे नव         | १६९ |
| अस्ते रवौ स       | ३२९ | एकग्रहस्य           | १८४ |
| आग्नेयैर्मिषवा    | ३१९ | एकक्षंगोऽयं         | १६३ |
| आदित्यदास         | ३६७ | एकस्यैवगुरा         | २४६ |
| आधानजन्मा         | ३३६ | एकान्तरगतै          | २२७ |
| आप्योद्यमाप्य     | ११२ | भोज्यं पुरुषा       | ८४  |
| आयुः कृतं येन     | १६० | कं दृष्टोऽत्र       | १२९ |
| आयुर्दाय विष्णु   | १५२ | कल्यां सितवद्य      | ३५१ |
| आरक्षको यध        | २०८ | कष्टकेन्द्र         | ३१  |
| आराकंजयो          | ११६ | कष्टकादिमृ          | २२६ |
| आयुःकुतगः         | २५३ | कर्मैव दुष्टा       | ३१५ |

|                     |     |                     |     |
|---------------------|-----|---------------------|-----|
| करमालः              | २५७ | कुरे पाशिमध         | ८२  |
| ककैटोद्यगते         | २९७ | कुरेऽष्टमे विधवता   | ३२२ |
| कर्किणि लग्ने       | २१५ | क्षितिजसित          | १९  |
| कर्मकरनगत           | २२० | क्षीणे हिमगौ        | १३८ |
| कर्मज्ञीयो राज      | ३६८ | क्षेत्रघान्यगृह     | ३५३ |
| कललघना कुरा         | ९१  | खगे हगणे            | ६२  |
| ककशं परिगृह         | ३५९ | खस्येऽर्केऽवनिजे    | ३२८ |
| कलाम्बमिजा          | ३६३ | गतिमपि रिपु         | ३३४ |
| कदवः स्वयिक्रम      | ३०  | गुरदुपतित           | २२१ |
| कदवाणरूपगुण         | २९७ | गुरुदुपति           | ३३४ |
| काम्तः खेतगतिः      | २५३ | गुरुनामिसहिते       | १५९ |
| काळाहानि बरा        | १६  | गोऽजगधिकर्किं       | २३  |
| कालासमा दिन         | ३५  | गोमिहो पुनुमा       | ३४३ |
| किमवत्र भांश        | १५७ | गोरी सुधीयार्द्र    | ३५८ |
| किन्नरोपमठनुः       | ३६३ | ग्रन्थस्य तु ग्रन्थ | ३७१ |
| कीर्षी सुतक्षल      | २३१ | ग्रन्थस्य पूर्वतर   | १३५ |
| कुजरविज             | २०  | गनुप्यगते           | १०९ |
| कुने तुनेऽर्केन्दो  | २१२ | ग्रन्थज्ञजीवाः      | ३३८ |
| कुनेन्दुदेव         | ६६  | ग्रन्थलज्जान्तर     | १२७ |
| कुम्भितान्नरका      | ३५३ | ग्रन्थे भूषपुष्पी   | २७७ |
| कुलममकुल            | २९० | ग्रन्थेऽधिसप्य      | ३०७ |
| कृदरुध्यामव         | २४२ | ग्रन्थे रसमुग       | २६८ |
| कुर्षी नरो हारक     | ३६२ | छागसिद्धये          | ११० |
| केपिष्ठगात्रा       | ३७० | छाया महाभूत         | १८२ |
| केपिगु होरा         | २६  | जगदति भूष           | २९१ |
| केन्द्राद् परं वनपर | ३३  | जग्मादिरोहमने       | ३४२ |
| कोमोदये भृगु        | ३०३ | जग्मेतोऽयैर्दे      | २७९ |
| किचः सितोवक्र       | ६३  | जगदरधम              | २५८ |
| टिपटापुरि           | ९१  | जातलोकिनि           | २६१ |
| कुरा कलाजः          | ३५२ | जापागियतो बल        | ३५५ |
| कुरा मीम्व पुनप     | २४  | जीर्णं गिरुग        | १२४ |
| कुरादेः सुषति       | ९०  | जीपम हिम            | १०६ |
| कुरादरुध्याम        | ७६  | जीयोऽह्निः। गुर     | ३८  |
| कुराधे मी           | १११ | जीयो जीवपुपा        | ५३  |
| कुरासुपुनः रानी     | १३७ | जीयो ज्ञान्गुणे     | १०६ |

|                      |     |                      |     |
|----------------------|-----|----------------------|-----|
| शाश्वतीशभना          | २७६ | नरपतिसकृता           | २६३ |
| उयोतिर्जात्यनरेन्द्र | २७५ | न लग्नमिन्दुः        | ११० |
| क्षपे सेन्दौ कर्णे   | २१५ | मरादिश्वमवशि         | २२२ |
| सरकाल इन्दु          | ९९  | नवमायनृतीय           | ३०९ |
| तस्मिन् पापयुते      | १३२ | नित्य लालयति         | २५७ |
| तास्वेव होरास्व      | २९३ | निधनारिधन            | ३०१ |
| तिग्मांशुर्जनय       | २४१ | निक्षि शशिकुम्भ      | ५७  |
| तीक्ष्ण इधूलहनु      | २५४ | निस्व क्षेप्तमहो     | २६५ |
| त्यागामवान्          | २३७ | नीचरिभाते            | १६८ |
| त्रिंशत्स्वरूपा      | २३७ | नीचेऽतोऽर्थे         | १४५ |
| त्रिकोणो शे          | ९४  | नीचो घटे लन          | २६९ |
| त्रिदशात्रिकोण       | ५०  | नृपकृतकरो            | २६९ |
| दग्धे शकटे           | ३६४ | नृपसम्मत             | २६७ |
| दशासु धात्वासु       | १३९ | नृकर्मार्ग प्रेक्ष्य | ११४ |
| दहनजलविभि            | ३३३ | नेष्टा योगा जात      | ३६९ |
| धातान्यकार्ये        | २३२ | नौकृत्कृत्त्रचापानि  | २९० |
| दिवस्वाघाट           | १९४ | पञ्चमूलफल            | ३५५ |
| दिनकरमुनि            | ३७१ | पञ्चार्थिता मूर्धभि  | ॥   |
| दिनकररुधिरौ          | २९९ | परयुवतिरत            | २६९ |
| दिवाकरेन्द्रो स्मर   | ७८  | परविभवपरि            | २६९ |
| दिवाकेशुक्रः         | ७९  | परपदचनो              | ३१३ |
| दुष्टा पुनर्भू       | ३६६ | पाकस्वामिनि          | १७१ |
| द्वसस्यावसित         | ३१७ | पापा बलिन            | ६१  |
| देवमाहाणसाधु         | २५५ | पापालाकितयो          | ३०६ |
| देवाऽऽश्वाभिनि       | ७८  | पापायुर्दाम्ना       | १३७ |
| धूनासपान             | २६५ | पापेक्षिते तुदि      | ११७ |
| द्वेककाणहोरा         | २१  | पापेऽस्त नवम         | ३२३ |
| द्वाविंशतिमस्तु      | ३३० | पितृनात परोक्ष       | ९७  |
| द्वित्रिंशत्पुंश     | ३४८ | पितृमातृगृहेषु       | ११८ |
| द्विपत्तमकाय         | ३५३ | पुत्र्य प्रगृहीत     | ३०८ |
| द्विभाषोऽघा          | २७० | पुष्यप्रपूर्णेन      | ३५७ |
| द्याद्यायाष्ट        | १९४ | पूर्णे शशनि          | ११२ |
| धनधिरहितः            | २३२ | पूर्वशास्त्रानु      | २९५ |
| धनुर्धरस्वान्त्यगते  | ९१  | पृथुलचिपिट           | ३६० |
| ने कुम्भलग्न शुभ     | २९२ | ट म                  | २५६ |

|                   |     |                    |     |
|-------------------|-----|--------------------|-----|
| पृथु विरचित       | ३७१ | मूर्तिरेव परि      | १   |
| प्रथितश्चतुरो     | २६० | मूलादिस्त्रेद      | २४३ |
| प्रभास्त्रिभिर्मे | ३७० | मृगमुखेऽर्क        | २१५ |
| प्राण्यादिगृहे    | १२६ | मृत्पुष्पपुष्पे    | ३२४ |
| प्रारब्धा हिमनौ   | १७२ | मेघकुलीर           | १२५ |
| प्राहुयंवनाः      | २०९ | मेघूरणाय तनु       | २१९ |
| अन्वस्तकर्म       | ३२८ | यज्वायं भाक्       | ॥   |
| मलवति राशौ        | २५९ | यथाक्षराणि         | ७०  |
| सुखस्यैतुल्यौ     | ४२  | यत्तारकलं नर       | ३१७ |
| सूक्ष्मसुः पित्रक | ४९  | यमे कुम्भेऽर्केऽजे | २११ |
| सौधे तु रत्नघर    | २७८ | यस्मिन् योते पूर्ण | १५३ |
| सौधे सहस्रनय      | २६४ | यातेऽवसस्वस        | १९३ |
| सौध्यां दौत्यसु   | १७५ | यावद्भूतः सीत      | ३४१ |
| भार्याभरणाय       | ३५३ | युग्मे चन्द्रसिता  | ८९  |
| भूयामिः पद        | १०  | युग्मेपु लम्पशशि   | ३१४ |
| भूयितो वरुणकद्    | ३५५ | योगा वज्रन्याय     | २२४ |
| भौमस्यारि         | १७५ | योतो स्थानं गत     | १४३ |
| भौमे बिलग्ने      | १३६ | रक्तश्यामो         | ३९  |
| अधस्तु लुङ्गाद्   | १६७ | रक्तधेतः शुक्      | ३५  |
| मतिविक्रम         | २८२ | रक्तागवरा भूयण     | ३५२ |
| मस्यौ घटी         | १८  | रज्जुसुम्भं नल     | २२३ |
| मदनवशागतो         | ३२१ | रन्ध्रास्पदात्     | ३२७ |
| मघपिङ्गल          | ४५  | रविपुतकौ           | २४८ |
| मग्ने ययम         | २९९ | रविः शिशुते        | ९८  |
| मनुष्यवक्रो       | ३६१ | रथीन्दुशुक्ला      | ७३  |
| मनोरमा            | ॥   | राशिप्रमेदो        | ३९८ |
| मन्दः स्वात् त्रि | १९६ | राश्यशपोष्णकर      | ३१० |
| मन्दर्क्षशि शशिनि | १२१ | राश्यंशसमान        | ११५ |
| मन्दे कर्कटके     | ३२६ | राश्यन्तगे सन्नि   | १४१ |
| मन्देऽब्जगते      | ११४ | रोमचितो मकरो       | ३६२ |
| मन्दोऽलसः         | ४७  | लग्नश्रिकोणेभू     | ३३७ |
| मययवन             | १४५ | लग्ननवांशप         | १२८ |
| मित्रारिस्वगृह    | २७७ | लग्नशकाद् ग्रह     | ६२  |
| मूकोन्मत्तजडा     | २८३ | लग्नादतीव          | २४० |
| मूर्त्तिऽटन कपट   | २७० | लग्नादामृत         | १९५ |

|                      |     |                   |     |
|----------------------|-----|-------------------|-----|
| रामाक्षीनवम          | ३२६ | शकटाण्डज          | ३२५ |
| रामाद् व्यपारि       | ३०२ | शशाङ्कमो          | ८४  |
| रामान् पुत्रकण्डत्र  | ३०० | शशाङ्के पाप       | १०८ |
| रामान् एष्टिदशाप     | १९२ | शशिभारिविना       | १३८ |
| रामे कुजे शत         | २८४ | शशिलगनममा         | ३१० |
| रामे क्षीणे शशिमि    | १४० | शाकमष्टैरपरि      | ३५६ |
| रामास्थेऽर्केऽजेन्दौ | २१८ | शिशिरकरममा        | २७९ |
| रंशोचछेता क्षमद      | ३०५ | शुभं वर्गोत्तमे   | २९८ |
| रक्तस्त्वपये         | १९३ | शुभपञ्चदशायो      | १८४ |
| रक्ताकंजाकंगुदभिः    | २१० | शुभो शुभर्षे      | ६५  |
| रगोत्तमगते           | २११ | शुभे कापुष्यो     | ३१८ |
| रगोत्तमस्वपर         | २८० | शूरः सार्वो       | २८१ |
| रगोत्तमाश्वर         | २८  | शूलोद्भिन्नतनुः   | ३२७ |
| रज्जेऽन्त्यपूर्व     | २३० | शैलाभाभिहतस्थ     | ३२५ |
| रज्यंस्त्रीष्टो न    | २७१ | शोक्या गीतरति     | १७७ |
| रणांलाघ्र            | ३९  | श्यामः शरोम       | ३६४ |
| रपेर्नुमास           | ३४५ | श्रमन्तिके        | ३६६ |
| रश्मिर्विहीना        | ३६७ | संज्ञाध्याये यस्य | १८१ |
| रिक्तयनः शास्त्र     | २६६ | संस्कारनाममात्रा  | ३४७ |
| रिक्तदशनः            | ३११ | संस्पृष्टः पवनेन  | ३१० |
| रिद्याद्योतिष        | २६१ | सकोधो नरपति       | २७९ |
| रिहान् सुवाक्यः      | २८५ | सङ्गुयायोनाः सप्त | २२८ |
| रिमादितः शुक्र       | ४३  | सलोपदेशः प्रचरो   | १५८ |
| रिभोपर्यस्तिष्ठति    | ३५९ | सन्ध्यायां हिम    | १२४ |
| रिवाहकालः            | ३७१ | सप्तादत्तं त्रिघन | ३४४ |
| रिहाय लग्नं          | ८६  | समनुपातिता        | १३३ |
| रिप्यन्तरापण         | ३५८ | समाः यष्टिर्दिशा  | १५० |
| रिप्यांन्वितयक्र     | ३२९ | सम्पत्तिलिनः      | १६६ |
| रुताताम्रदुग्ण       | २५१ | सर्वाधर्मिचरण     | १४७ |
| रुदो मूर्खः सूर्य    | ३२० | सार्धोदितोदित     | १४८ |
| रूपे सेन्दौ लग्ने    | २१३ | सुतमदनवमा         | १४३ |
| रूपोदये मूर्ति       | २१९ | सुरगुरवाशि        | २५० |
| रूपधनसुत             | ३१२ | सुहृदरिपरकीय      | २८७ |
| रुयादोर्मांस्त्रिशो  | २५६ | सूच्याधयं सम      | ३५४ |
| रुडामन्धर            | २५४ | रे नागीर्बहु      | २६७ |